सत्य की खोज

सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

ओ३म्

सत्य की खोज

डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली

अशुद्धि-शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६१	२३	१६६६	१६६४
२०६	५	सहपाठी	मित्र संसद्-

मूल्य : ५० रुपये

प्रकाशक :
गोविन्दराम हासानन्द
आर्य साहित्य भवन
४४०८, नई सड़क, दिल्ली-११०००६

संस्करण : १६८५

मुद्रक :
अजय प्रिण्टर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२
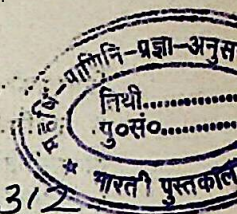
प्रारम्भिक शब्द

(अभिनन्दन-ग्रन्थ)

१९८५ के जून-जुलाई की बात है। इस साल गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के नवीन कुलपति की नियुक्ति होनी थी। क्योंकि मैं गुरुकुल विश्वविद्यालय का परिद्रष्टा (विज़िटर) नियुक्त हूँ इसलिये अन्तिम तौर पर यह नियुक्ति मुझे करनी थी। गुरुकुल के ५-६ स्नातक भाई इस सम्बन्ध में मेरे साथ विचार-विनिमय करने के लिए मुझे मिलने आये। उनमें एक स्नातक श्री प्रशान्त विद्यालंकार भी थे। स्नातक-भाइयों से कुछ देर तक इस सम्बन्ध में बातचीत होती रही, जिसकी चर्चा मैं आगे करूँगा। कुछ दिन बाद मुझे श्री प्रशान्त जी का एक पत्र आया जिसमें लिखा था कि आपने आर्यसमाज और गुरुकुल का इतने वर्षों तक कार्य किया, इतना अधिक वैदिक साहित्य लिखा, वैदिक-संस्कृति तथा वैदिक विचारधारा पर इतने ग्रन्थ लिखे, अन्य छोटे-मोटे लोगों के सम्बन्ध में उनकी सामाजिक तथा साहित्यिक सेवाओं की प्रशंसा में अनेक अभिनन्दन-ग्रन्थ लिखे तथा प्रकाशित किये जा चुके हैं, मैं चाहता हूँ कि आपके सम्बन्ध में भी एक अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित किया जाय। उन्होंने लिखा कि इस कार्य को वे अपने ज़िम्मे लेकर इस योजना को क्रियान्वित करना चाहते हैं। इसके लिए वे मेरी स्वीकृति चाहते थे।

मैंने उन्हें इस पत्र का कोई उत्तर नहीं दिया। मैंने कई अभिनन्दन-ग्रन्थ देखे हैं। मेरे पास भी कई लोगों के अभिनन्दन-ग्रन्थ पहुँचे हैं। इन अभिनन्दन-ग्रन्थों से व्यक्ति को आत्म-सन्तोष जरूर होता है, उसकी अहंमन्यता को भी तुष्टि मिलती है, परन्तु इन्हें स्थिर-साहित्य के रूप में सम्भाल रखने की किसी की इच्छा नहीं होती। प्राय: इन अभिनन्दन-ग्रन्थों में व्यक्ति की प्रशंसा के गीत गाये जाते हैं, उन्होंने जो कार्य किया उसकी चर्चा होती है, इन्हें व्यक्ति स्वयं तो बार-बार पढ़ता है, दूसरा कोई पढ़ता हो या न पढ़ता हो, परन्तु अभिनन्दन-ग्रन्थों का अन्त कबाड़ियों के यहाँ ही होता है, ये किसी पुस्तकालय में स्थान नहीं पाते। मैं सोचता रहा कि अगर मेरा अभिनन्दन-ग्रन्थ अन्त में जाकर किसी कबाड़ी के यहाँ ही शरण लेगा तो उसका छपना बेकार है। प्रशान्त जी को उनके पत्र का उत्तर नहीं मिला, परन्तु मेरे दिमाग़ में 'अभिनन्दन-ग्रन्थ कैसा होना चाहिये'—इसका कीड़ा रेंगता रहा।

मैं कल्पना करने लगा कि अगर मेरे सम्बन्ध में कोई अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित हो, तो उसमें क्या-कुछ होना चाहिए। सबसे पहली बात जो मेरे ध्यान में आई वह यह थी कि उसमें मेरे वैदिक-साहित्य तथा वैदिक विचारधारा पर परिपक्व तथा सुलझे हुए विचार होने चाहियें। प्रश्न यह था कि मेरे इन विचारों को मेरे

सिवाय कौन स्पष्ट रूप में रख सकता है ? अगर मेरे वैदिक विचारों को मेरी भाषा में मेरे सिवाय दूसरा कोई नहीं रख सकता, तो दूसरी समस्या अपने-आप हल हो जाती है कि यदि ऐसा ग्रन्थ तैयार हो, तो इस ग्रन्थ का लेखक भी मेरे सिवाय दूसरा कोई नहीं हो सकता। मेरी यह निश्चित अभिलाषा है कि मेरी लेखनी से जो कोई भी ग्रन्थ लिखा जाय वह ऐसा होना चाहिए जो किसी भी पुस्तकालय की रूप-रंग से ही नहीं, विषय-वस्तु की दृष्टि से भी शोभा बढ़ा सके। पढ़नेवाला अनुभव करे कि उस ग्रन्थ को पढ़कर उसने कुछ ग्रहण किया, सिर्फ़ अभिनन्दनीय व्यक्ति का गुण-गान ही नहीं पढ़ा। यह सब सोच-विचारकर मैंने स्वयं प्रशान्त जी की इच्छा को पूर्ण करने के लिए अपने अभिनन्दन-ग्रन्थ को रचने की योजना प्रारम्भ की और प्रस्तुत-ग्रन्थ का लेखन प्रारम्भ कर दिया। बात बड़ी अटपटी-सी लगती है। कोई लेखक अपना अभिनन्दन-ग्रन्थ स्वयं लिखे—यह कहीं सुना नहीं, परन्तु मेरी समझ में यही आया कि अगर अभिनन्दन-ग्रन्थ में अभिनन्दनीय व्यक्ति के व्यक्तित्व को साकारता देनी हो, तो उसकी प्रामाणिक रचना भी उसी को करनी चाहिए। यह सोच-समझकर ही मैं यह ग्रन्थ लिखने बैठा, भगवान् की कृपा से लिखा गया, जिसमें २१ अध्यायों में मैंने भिन्न-भिन्न विषयों पर अपने भिन्न-भिन्न विचारों का वैदिक-संस्कृति की दृष्टि से स्पष्टीकरण किया है।

परन्तु, पाठक पुस्तक में जो-कुछ पढ़ता है उसके लेखक के विषय में भी कुछ जानना चाहता है। अभिनन्दन-ग्रन्थ पढ़ते हुए इस प्रकार की जिज्ञासा तो हर पाठक के मन में रहती ही है। इस जिज्ञासा को पूर्ण करने के लिए इस ग्रन्थ के अन्त में **'जिन्दगी के बिखरे फूल' (मीठी-कड़वी यादें)**—इस नाम से एक अध्याय दिया गया है जिसमें लेखक की संक्षिप्त जीवन-कथा है। लेखक की जीवन-कथा कोई ऐसी विलक्षण वस्तु नहीं है कि उसे पाठक जीवनी के रूप में अवश्य ही पढ़े, परन्तु जीवन-कथा वस्तु ही ऐसी होती है जिसे पढ़ने को जी चाहने लगता है। एक गम्भीर विषय की पुस्तक के साथ जीवन-कथा जैसे मनोरंजक-वृत्त को जोड़ देने से पढ़नेवाले को गरिष्ठ भोजन के साथ चटनी-चाट का-सा मज़ा आ जाता है। मैं अगर स्वतन्त्र रूप में केवल अपनी आत्म-कथा ही लिखता, तो कौन उसे पढ़ता ! मेरी आत्म-कथा कोई महात्मा गांधी या पं० जवाहरलाल नेहरू सरीखे व्यक्तियों की आत्म-कथा के समान तो नहीं है, जिसे केवल आत्म-कथा पढ़ने की खातिर पढ़ा जाय, परन्तु जो व्यक्ति **'सत्य की खोज'**—इस गम्भीर पुस्तक को पढ़ेंगे, उन्हें लेखक की **'जीवनी की कुछ मीठी-कड़वी यादें'** पढ़ने में भी रुचि उत्पन्न होगी। उक्त सब कारणों से मैं इस ग्रन्थ को अपने-आप लिखा अभिनन्दन-ग्रन्थ मानता हूँ जिसमें मेरे भाई प्रशान्त विद्यालंकार की अभिलाषा भी पूर्ण हो जाती है और एक संग्रहणीय ग्रन्थ की रचना भी हो जाती है। जो कष्ट मेरे लिए वे उठाते वह उनके लिए मैंने ही उठा लिया।

मेरे स्नातक भाई गुरुकुल में नवीन कुलपति महोदय की नियुक्ति के विषय में जो चर्चा करने आये थे उस सम्बन्ध में इस भूमिका में कुछ शब्द लिख देना असंगत न होगा। मैंने इस पुस्तक के अन्त में गुरुकुल के कुछ आधारभूत सिद्धान्तों का संक्षेप में उल्लेख किया है। श्री बलभद्रकुमार जी हूजा को मैंने इन सिद्धान्तों में ओत-प्रोत पाया। वे पिछले १० वर्ष से गुरुकुल के कुलपति चले आ रहे थे। उनके पिता श्री गोवर्धन जी शास्त्री लगभग गुरुकुल की स्थापना के काल से संस्था के आधारभूत सिद्धान्तों से प्रेरित होकर ही गुरुकुल में कार्य करते रहे। कुलपति के रूप में श्री बलभद्रकुमार जी का चयन प्रबन्धकों की दूर-दृष्टि का सूचक रहा। श्री बलभद्रकुमार जी को गुरुकुल के प्रति ममता अपने पिता से विरासत में प्राप्त हुई थी। उनके पिता मेरे भी शिक्षक रहे थे। श्री बलभद्रकुमार जी की गुरुकुल की उन्नति के प्रति लगन स्वाभाविक थी, इसलिए अपने दस वर्षों के कुलपतित्व-काल में उन्होंने गुरुकुल की जो सेवा की वह सदा स्मरणीय रहेगी। श्री बलभद्रकुमार जी अब ७० वर्ष के ऊपर हो चुके थे, युनीवर्सिटी ग्राण्ट्स कमीशन का आग्रह था कि किसी विश्वविद्यालय का कोई कुलपति ६५ वर्ष से अधिक आयु का नहीं रहना चाहिए। इस आग्रह के बावजूद हम सबने उनके दूसरी बार कुलपति बने रहने के लिए प्रयत्न किया, इसलिए प्रयत्न किया क्योंकि हम सबकी आशा रही कि उनकी जो आन्तरिक भावनाएँ हैं उनसे उनके द्वारा गुरुकुल उत्तरोत्तर उन्नति करेगा। उनके द्वारा ये आशाएँ पूर्ण रूप से प्रतिफलित हुईं, परन्तु यह प्रतीत होना कि गुरुकुल-जगत् में दूसरा कोई व्यक्ति है ही नहीं जो गुरुकुलीय भावना को सजग बनाये रखे, क्लिष्ट-कल्पना थी। बलभद्रकुमार जी भी कई बार मुझे कह चुके थे कि इस दस वर्ष के बाद वे आत्मोन्नति के मार्ग पर चलने के लिए गुरुकुल के झंझटों से छुट्टी पा लेना चाहेंगे। उनका यह दूसरा कार्य-काल ३१ जुलाई १९८५ को समाप्त हो रहा था, इसलिए नवीन नियुक्ति का प्रश्न उपस्थित हुआ।

यह तो स्पष्ट है कि गुरुकुल की उन्नति के प्रति जो तड़प गुरुकुल के स्नातकों में हो सकती है वह दूसरे विलक्षण लोगों में ही मिलेगी। गुरुकुल उनकी मातृ-संस्था है। उसकी उन्नति में उनकी उन्नति है, उसकी अवनति में उनकी अवनति है। इस समस्या को सुलझाने में श्री डॉ० सत्यकाम आयुर्वेदालंकार की तरफ़ सबकी दृष्टि गई। वे स्वयं गुरुकुल के स्नातक हैं, और उनके स्वर्गीय पिता श्री विद्याधर विद्यालंकार भी गुरुकुल के स्नातक थे जो मेरे सहपाठी रहे। डॉ० सत्यकाम आयुर्वेदालंकार दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रोफेसर-पद पर रहे हैं। उन्होंने वेदों का अध्ययन किया है, संस्कृत के उद्भट विद्वान् हैं, दिल्ली विश्वविद्यालय में संस्कृत के ही प्रोफ़ेसर रहे हैं। ३० अगस्त १९८५ को ३ वर्ष के लिए गुरुकुल के कुलपति-पद पर नियुक्ति करते हुए गुरुकुल के सम्बन्ध में मैंने उनसे आमने-सामने बैठाकर निम्न आशाएँ व्यक्त कीं—

(१) उन्हें प्रयत्न करना चाहिये कि गुरुकुल काँगड़ी का आयुर्वेदिक महाविद्यालय जो गुरुकुल से अलग हो गया है, फिर से गुरुकुल विश्वविद्यालय का अंगीभूत हो जाय और उसके लिए यू० जी० सी० से सहायता मिल सके तो वह प्राप्त की जाय और साथ ही उत्तर-प्रदेश सरकार से बात चलाई जाय। वे स्वयं आयुर्वेदालंकार हैं इसलिए इस बात की उन पर ज़िम्मेदारी विशेष रूप से आती है।

(२) उन्हें प्रयत्न करना चाहिए कि सरकार या यू० जी० सी० से मिलकर कृषि तथा गोशाला के लिए प्रभूत धन-राशि प्राप्त की जाय ताकि गुरुकुल के निवासियों तथा ब्रह्मचारियों को शुद्ध दुग्ध मिले। सरकार भी इसमें प्रयत्नशील है और उनके प्रयत्न से इसमें सफलता मिल सकती है।

(३) उन्हें प्रयत्न करना चाहिए कि स्नातकों द्वारा रचित उत्कृष्ट वैदिक-साहित्य का अधिकाधिक प्रचार हो और स्नातकों को उच्चकोटि का वैदिक-साहित्य निर्माण करने में गुरुकुल का सहयोग मिले जिसकी यू० जी० सी० आशा भी रखती है और जिस आशा से ही गुरुकुल को विश्वविद्यालय की मान्यता प्राप्त हुई है।

(४) उन्हें प्रयत्न करना चाहिए कि गुरुकुल की शिक्षा को ऐसा मोड़ दें जिससे गुरुकुल विश्वविद्यालय में वे ही छात्र भर्ती हों जो गुरुकुलीय-जीवन में से गुज़र चुके हों और जिनके दैनिक जीवन में गुरुकुलीय-जीवन की विचारधारा ओत-प्रोत हो। इन छात्रों को जहाँ आर्यसमाज की सेवा के लिए तैयार किया जाय वहाँ शिक्षा को ऐसा भी मोड़ दिया जाय जिससे सरकारी सेवा के लिए भी वे योग्य समझे जायें। हमारी संस्था में पढ़े हुए छात्र आई० ए० एस०, आई० पी० एस० आदि सरकारी सेवाओं में जा सकें—इसके लिए शिक्षण-स्तर पर प्रयत्न किया जाना उचित है क्योंकि अब देश परतन्त्र नहीं, स्वतन्त्र है और देश को सरकारी सेवाओं में सच्चरित्र व्यक्तियों की आवश्यकता है।

स्नातक भाई जो इस सम्बन्ध में मुझसे मिलने आये थे उनसे मैंने यही-कुछ कहा था और मुझे प्रसन्नता है कि स्नातक-भाई मेरे विचारों से सहमत थे। डॉ० सत्यकाम जी बड़े उद्यमी, उत्साही तथा क्रियाशील व्यक्ति हैं, इसलिए हम सबको आशा है कि हमारे नवीन कुलपति इन आशाओं को पूर्ण करेंगे और गुरुकुल का यश उज्ज्वल करेंगे।

मैंने अपने जीवन में बहुत-कुछ लिखा है और ८८वें वर्ष की आयु समाप्त करते समय सोचता हूँ कि यह मेरा अन्तिम ग्रन्थ होगा, परन्तु 'मेरे मन कछु और है विधना के मन और'—इस ग्रन्थ के समाप्त करते ही मैंने इसी आशय का एक अन्य ग्रन्थ आंग्ल-भाषा में भी लिख डाला है जो अलग-से प्रकाशित होगा।

W-77 A, ग्रेटर कैलाश (१), दिल्ली-४८ सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

क्रम

अदृश्य ही सत्य है

(सदेव सौम्येदमग्र आसीत्)

संसार के पदार्थों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—दृश्य तथा अदृश्य। दृश्य जो हमें दीखते हैं; अदृश्य—जो हैं तो, परन्तु दीखते नहीं। बहुत-सी वस्तुएँ ऐसी हैं जो हैं, परन्तु दृष्टिगोचर नहीं होतीं। न दीखने के कारण कई हो सकते हैं। या वे इतनी सूक्ष्म हैं कि इन्द्रियों में उन्हें देखने की शक्ति नहीं होती, या इतनी दूर हैं कि पास हों तब तो हम उन्हें देख सकते हैं, बहुत दूर हों तो हमारी इन्द्रियाँ वहाँ तक पहुँच नहीं सकतीं। तीसरा कारण यह भी हो सकता है कि वे हमारे इतनी पास हैं कि हमें न दीखती हैं, न हमारा ध्यान उधर जाता है।

इसका परिणाम यह होता है कि हम दृश्य को ही सत्य समझते हैं, उसे ही यथार्थ समझते हैं; अदृश्य को न सत्य समझते हैं, न यथार्थ समझते हैं। इतना ही नहीं कि अदृश्य को हम असत्य तथा अयथार्थ कहने लगते हैं, वैयक्तिक एवं सामाजिक दैनिक व्यवहार में अदृश्य की सत्ता से ही इन्कार करने लगते हैं।

परन्तु तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय, तो अदृश्य ही सत्य है, वही यथार्थ है, दृश्य केवल अदृश्य के सहारे टिका हुआ है, अदृश्य न हो तो दृश्य रह ही नहीं सकता। दृश्य का जीवन अदृश्य के स्रोत से ही प्रवाहित होता है।

छान्दोग्य उपनिषद् (६ प्रपाठक, १२वें खंड) में श्वेतकेतु की कथा आती है। उसके पिता ने श्वेतकेतु को कहा—बेटा, जाओ गुरु के पास विद्या अध्ययन करके आओ। श्वेतकेतु गुरु के पास १४ वर्ष तक विद्याध्ययन करके आया तो बड़ा पंडितम्मन्य था, समझता था, सब-कुछ पढ़ आया है। पिता ने पूछा—क्या पढ़ा? पुत्र ने कहा—सब-कुछ पढ़ लिया, अब जानने को कुछ नहीं रहा। पिता ने पूछा—क्या वह विद्या पढ़ी जिसके जानने से सब-कुछ जाना जाता है, फिर जानने को कुछ रहता ही नहीं—"येन विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति"? श्वेतकेतु ने कहा—ऐसी कौन-सी विद्या है? ऐसी किसी विद्या को तो मैंने नहीं पढ़ा। पिता बोले—जाओ बेटा, सामने खड़े वट वृक्ष के फल को ले आओ। वह पास खड़े वृक्ष से फल तोड़ लाया। पिता ने कहा—इसे तोड़ो। पुत्र ने तोड़ दिया। पिता ने पूछा—इसमें क्या देखते हो? पुत्र ने कहा—कुछ नहीं, कुछ बीज दीखते हैं। पिता ने कहा—जिसे तुम कुछ नहीं कहते हो, उसी में सब-कुछ है। इन छोटे-छोटे असंख्य बीजों में ही असंख्य विशाल वट-वृक्ष अदृश्य रूप से विद्यमान हैं। इसी कहानी को

आगे बढ़ाते हुए श्वेतकेतु के पिता ने कहा—जाओ, सामने के तालाब में से एक लोटा पानी भर लाओ और पीओ। पुत्र बोला—पी लिया। पिता ने पूछा—कैसा स्वाद है? पुत्र बोला—कुछ नहीं, फीका-फीका। पिता ने कहा—इस तालाब में नमक का एक ढेला फेंक दो। उसने फेंक दिया। अगले दिन पूछा—देखो, तालाब में ढेला कहाँ दीखता है? पुत्र ने जाकर देखा—नमक का ढेला तो कहीं दीखता नहीं था। पिता ने कहा—इसमें से लोटाभर पानी निकालकर पीओ। पुत्र ने पीया और बोला—यह पानी तो नमकीन है। पिता ने कहा—तालाब के दायें-बायें, आगे-पीछे, बीच में से पानी लेकर चखो। उसने चखा और बोला—यह तो सब जगह नमकीन-ही-नमकीन है। पिता ने पूछा—नमक कहीं दीखता है? पुत्र ने उत्तर दिया—वह तो कहीं नहीं दीखता। पिता ने समझाया, वह नमक जो इस जल में कहीं नहीं दीखता, वह सारे जल में विद्यमान है। पिता ने एक तीसरा दृष्टान्त दिया। कहा—अपनी आँख को देखो। पुत्र ने कहा—आँख को कैसे देखूं? आँख को देखने के लिए तो आँख से दूर होना होगा, दर्पण में देखना होगा। दर्पण भी आँख से सटाकर नहीं, कुछ दूरी पर रखना होगा। पिता ने समझाया—मत समझो जो नहीं दीखता, वह नहीं है; जो नहीं दीखता वह अदृश्य होने के कारण, या सूक्ष्म होने के कारण या अत्यन्त निकट होने के कारण दृष्टि-गोचर नहीं होता।

जो बात अदृश्य के विषय में कही, लगभग वैसी ही बात चल तथा अचल के विषय में कही जा सकती है। जो वस्तु चलायमान है, गतिशील है, वहीं हमें दीखती है, और उसी को हम सत्य मानते हैं। हम समझते हैं कि चक्की चल रही है, परन्तु हम यह नहीं समझते कि चक्की के चलने के पीछे अगर कोई न चलने-वाली वस्तु न हो तो चक्की चल नहीं सकती। दृश्य तथा अदृश्य के विषय में तो हमने कहा था कि दृश्य अदृश्य पर टिका हुआ है, सब दृश्य पहले अदृश्य होता है, इसलिए यथार्थ सत्ता अदृश्य की है, उसी से प्रवाहित होकर सारा दृश्य बनता है; चल तथा अचल के विषय में भी हमारा कहना है कि जो चलायमान हमें दीखता है वह किसी अचलायमान के सहारे चलता है। चक्की चलती है, परन्तु न चलने-वाली स्थिर किल्ली के गिर्द चलती है, किल्ली न हो तो चक्की चल नहीं सकती। चक्की घूमती है किल्ली के सहारे; रथ, गाड़ी, रेल चलती है स्थिर धुरी के सहारे। अगर स्थिर न हो, अचल न हो, तो अस्थिर की सत्ता नहीं हो सकती, चलायमान की सत्ता नहीं हो सकती। अगर हम दृश्य की सत्ता मानते हैं तो अदृश्य की सत्ता पहले माननी पड़ेगी। अगर हम चलायमान की सत्ता मानते हैं तो अचलायमान की सत्ता पहले माननी पड़ेगी।

हम दृश्य को, चलायमान को सत्य समझे बैठे हैं, परन्तु सत्य यह है कि अदृश्य तथा अचल ही सत्य है। जो-कुछ हम समझे बैठे हैं, वास्तविकता उससे

उलटी है। क्या हम सदियों से यह नहीं समझते रहे कि पृथिवी टिकी हुई है, और सूर्य उसके गिर्द घूमता है ? इस सत्य तक पहुँचने के लिए कि सूर्य पृथिवी के गिर्द नहीं घूमता, पृथिवी सूर्य के गिर्द घूमती है, यूरोप में गैलिलियो को जेल की यातना भोगनी पड़ी और ब्रूनो को जीते-जी आग की लपटों में भस्म हो जाना पड़ा।

अन्तिम सत्य क्या है ? क्या दीखनेवाला दृश्य वृक्ष सत्य है, या बीज में भी न दीखनेवाला परन्तु फिर भी वहाँ मौजूद अदृश्य वृक्ष सत्य है ? क्या तालाब के पानी में नमक के ढेले के न घुलने पर पानी का फीकापन सत्य है या पानी के कण-कण में नमक के ढेले के घुल जाने पर न दीखने के कारण पानी का नमकीन-पन सत्य है ?

जरा गहराई से विचार करें तो हमारे कथन का पहला परिणाम यह निकलता है कि जो नहीं दीखता वही सत्य है, जो दीखता है वह असत्य है, दूसरा परिणाम यह निकलता है कि जो चलायमान है, अस्थिर है, परिवर्तनशील है, वह चलाय-मान, अस्थिर तथा परिवर्तनशील दीखना ही भर है, वास्तव में वह अचलायमान, स्थिर तथा अपरिवर्तनशील तत्त्व के आधार पर टिका हुआ है। अचल, स्थिर, अपरिवर्तित तत्त्व न हो, तो परिवर्तन हो नहीं सकता; हर गति अगतिशीलता के ऊपर टिकी है।

इस विचार को व्यक्ति के शरीर तथा संसार पर घटाएँ तो जो परिणाम निकलते हैं वे क्या हैं ?

व्यक्ति के शरीर पर घटाएँ तो हम देखते हैं कि व्यक्ति का शरीर दृश्य है तथा परिवर्तनशील है। ये दो गुण हर शरीर में पाये जाते हैं। व्यक्ति का शरीर दीखता है, स्थूल है, देखा-छुआ जाता है, शरीर बोलता है तो उसकी आवाज़ सुनी-सुनाई जाती है। यह दृश्य शरीर, हमारी विचारधारा के अनुसार किसी अदृश्य तत्त्व पर आश्रित होना चाहिए क्योंकि जो दृश्य है उसका आधार कोई अदृश्य है। दृश्य शरीर का जो अदृश्य आधार है, जिस अदृश्य आधार पर यह दृश्य शरीर टिका हुआ है, उसी को आध्यात्मिक परिभाषा में "आत्मा" कहते हैं। शरीर दृश्य है, इसका अदृश्य आधार "आत्मा" है।

हमारी विचार-सारणी में व्यक्ति में दृश्य-शरीर के अतिरिक्त जो दूसरी बात पायी जाती है वह उसकी गतिशीलता या उसके शरीर में परिवर्तन है। हमारे पास दृश्य शरीर तो है, और इसलिए हमारा दृश्य शरीर अदृश्य आत्मा के सहारे टिका हुआ है, परन्तु दृश्य-शरीर के साथ एक और बात जुड़ी हुई है, वह है दृश्य-शरीर की गतिशीलता, उसकी परिवर्तनशीलता। जैसे दृश्य बिना अदृश्य के नहीं रह सकता, वैसे परिवर्तनशीलता, जिससे हम सब अवगत हैं, अपरिवर्तन-शीलता के बिना नहीं रह सकती। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त हमारे शरीर में परिवर्तन होता रहता है। हमारा शरीर कभी बालपन में था, कभी युवापन में,

कभी वृद्धावस्था में था। इस सतत परिवर्तनशीलता के मनकों में अपरिवर्तनशीलता का जो सूत्र पिरोया हुआ है वह अपरिवर्तित रहता है, क्योंकि उसी में तो परिवर्तन होता दीखता है। अपरिवर्तन में परिवर्तन नहीं हो सकता। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि जब तक कोई वस्तु अपरिवर्तनीय न हो तब तक किसी प्रकार के परिवर्तन का होना सम्भव नहीं है।

अदृश्यता तथा अपरिवर्तनशीलता का यह गुण जहाँ पाया जाता है उसी को शरीर में 'आत्मा' कहते हैं। व्यक्ति के बाद दूसरी सत्ता प्रकृति के द्वारा निर्मित ठोस संसार में भी ये दोनों गुण पाये जाते हैं। व्यक्ति का शरीर दीखता है, प्रकृति द्वारा निर्मित संसार भी दीखता है, शरीर में परिवर्तन होता रहता है—बचपन, यौवन, वार्धक्य—शरीर के ये गुण हैं, संसार में भी कण-कण में परिवर्तन होता रहता है, इसी परिवर्तन के कारण इसे संसार कहते हैं—संसरति इति संसारः। जैसे यह दृश्य-शरीर जिस अदृश्य-सत्ता पर टिका है उसे 'आत्मा' कहते हैं, वैसे यह दृश्य-जगत् जिस अदृश्य-सत्ता पर टिका है उसे 'परमात्मा' कहते हैं। जो बात दृश्यता के विषय में हमने कही वही बात परिवर्तनशीलता के विषय में कही जा सकती है। शरीर में परिवर्तन होता रहता है, उसमें सतत गतिशीलता का प्रवाह है, इसलिए शरीर की इस लगातार चलती रहनेवाली चक्की में कोई ऐसी स्थिर किल्ली माननी पड़ती है जिसके गिर्द यह चक्की चल सकती है। इसी किल्ली का नाम 'आत्मा' है। इसी तरह संसार में जो क्षण-क्षण परिवर्तन होता रहता है, यह परिवर्तन, यह सतत गति जिस गतिहीन सत्ता के आधार पर हो रही है उसी का नाम 'परमात्मा' है।

हमने देखा कि दृश्य की सत्ता को मानने के कारण हमें अदृश्य की सत्ता को मानना पड़ता है। परिवर्तन तथा गतिशीलता की सत्ता को मानने के कारण हमें एक ऐसी सत्ता को मानना पड़ता है जिसमें परिवर्तन नहीं है, जो गतिहीन है, स्थिर है, क्योंकि दृश्य का आधार अदृश्य है, गति तथा परिवर्तनशीलता का आधार गतिहीनता तथा स्थिरता है। इन दो बातों के अतिरिक्त एक तीसरी बात है जिसे हमें विवश होकर भी मानना पड़ता है। वह बात क्या है? इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि हमें जो कुछ दीखता है, जिस किसी वस्तु का हमें ज्ञान होता है, वह तभी होता है जब वह हमसे दूर हो। जो वस्तु हमारे अत्यन्त निकट हो, इतनी निकट कि अणुमात्र भी उसमें तथा हममें दूरी न हो तो उसका हमें दृश्य-ज्ञान नहीं होता। आँख आँख के निकटतम है, इसलिए आँख आँख को नहीं देख सकती। अगर कोई सत्ता सर्वव्यापक है, तो वह वहाँ भी है जहाँ हम हैं। हमसे दूर हो तभी तो हम उसे देख सकें। वह जहाँ है वहाँ हम हैं, जहाँ हम हैं वहाँ वह है—फिर उसे कौन देखे और कैसे देखे? एक तो वह अदृश्य, दूसरे वह हर जगह। देखने के लिए तो दूरी होना आवश्यक है जो उसमें और

हममें नहीं है।

इस सम्बन्ध में एक और बात की तरफ भी ध्यान देना आवश्यक है। जो वस्तु प्राप्त होती है उसकी तरफ मनुष्य का ध्यान नहीं जाता। जब हम स्वस्थ होते हैं तब हम जुकाम से, खाँसी से, बदहज़मी से, कब्ज से परेशान नहीं होते। हमें न यह खयाल होता है कि हमारे नाक है, न यह खयाल होता है कि हमारा गला है, पेट है या दूसरा कोई अंग है। अस्वस्थावस्था में ही मनुष्य का ध्यान नाक की तरफ, गले या पेट की तरफ जाता है। दाँत सबके हैं, आँखें सबकी हैं, परन्तु जब दाँत में दर्द होता है तब मनुष्य कहता है कि उसके दाँत हैं, जब आँख में मोतिया उतरता है तब हर समय वह आँख की ही चर्चा करता रहता है। शंका की जा सकती है कि अगर अदृश्य आत्मा की सत्ता निस्संदिग्ध है, तो उसकी अनुभूति क्यों नहीं होती? अगर अदृश्य परमात्मा की सत्ता भी असंदिग्ध है तो उसकी भी प्रतीति क्यों नहीं होती? इसका उत्तर यही है कि जो वस्तु सर्वगत अर्थात् सर्वव्यापक है, उसकी प्रतीति नहीं हुआ करती, सब जगह है—इसलिए उसे कहीं ढूँढा नहीं जा सकता, ढूँढा तो तब जाय जब वह एक जगह हो, दूसरी जगह न हो।

हाँ, उसकी प्रतीति का एक समय अवश्य है। स्वस्थावस्था में मनुष्य को पता नहीं होता कि उसके दाँत हैं; अस्वस्थावस्था में, जब दाँत में दर्द होता है, तब पता चलता है कि दाँत हैं। इसी प्रकार जब मनुष्य की रुग्णावस्था होती है तब उसे प्रतीति होती है कि कोई सत्ता है जो उसकी स्वस्थावस्था को, उसके नीरोग होने को, उसकी मानसिक शान्ति को देनेवाली है। अभाव में भाव की तरफ़ ध्यान जाता है; दुःख में, कष्ट में, दुःख-निवारक, कष्ट-भंजक की तरफ़ ध्यान जाता है।

संसार एक विचित्र खेल है। यह दृश्य है, इसलिए अदृश्य को मानना पड़ता है; यह विनाशी है इसलिए अविनाशी को मानना पड़ता है; यह गतिशील तथा परिवर्तनशील है इसलिए गतिहीन तथा अपरिवर्तनीय को मानना पड़ता है; यह दुःखमय है इसलिए दुःख-विनाशी को मानना पड़ता है; यह अपूर्ण है इसलिए पूर्ण को मानना पड़ता है। इसी को श्रुति ने कहा है—

स पर्यगात् शुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

—यजुर्वेद ४०।८

□

अदृश्य भी दीखता है

(त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि)

हमने देखा कि मनुष्य तथा संसार—ये दोनों दृश्य हैं, इसलिए इन दोनों के पीछे कोई अदृश्य सत्ता अवश्य होनी चाहिए। अदृश्य से ही दृश्य का प्रवाह होता है; अदृश्य न हो तो दृश्य नहीं हो सकता, अदृश्य ही पर दृश्य निर्भर करता रहता है। कहने को तो दृश्य सत्य है, परन्तु यथार्थ सत्ता अदृश्य की है, दीखने को वृक्ष सत्य है परन्तु यथार्थ सत्ता बीज की है, उस बीज की जिसमें वृक्ष अदृश्य है।

व्यक्ति में शरीर दीखता है, प्रकृति में संसार दीखता है, व्यक्ति के पीछे एक अवैयक्तिक, अदृश्य सत्ता है, संसार के पीछे एक असंसारी सत्ता, अदृश्य सत्ता है। सत्य तो दोनों हैं, परन्तु अवैयक्तिक तथा असांसारिक सत्ता अपेक्षाकृत अधिक सत्य है क्योंकि अदृश्य सत्ताओं पर ही दृश्य सत्ताएँ आधृत हैं, फिर भी हम शरीर तथा संसार से चिपटे रहते हैं, इनमें रमे रहते हैं।

अदृश्य सत्ता के अन्तिम सत्य होने पर भी हम उधर ध्यान क्यों नहीं देते? इसका कारण यह है कि वह सत्ता सर्वव्यापी होने के कारण हमें सदा प्राप्त है। जो वस्तु सदा प्राप्त होती है उसे प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया जाता। वह हमारे इतने सान्निध्य में है कि हम उधर सोचते ही नहीं। दूर हो तो मानें; जो हमारे सदा साथ है उसे कौन सोचे? वह सत्ता साथ होती हुई भी अदृश्य है, इसलिए भी उसकी तरफ ध्यान नहीं जाता; जो दृश्य है उसे ही सोचा करते हैं, उसी में रमे रहते हैं। मनुष्य अपनी अदृश्य-सत्ता को जो सदा उसके साथ है सदा भुलाये रहता है, अपनी दृश्य सत्ता, जो अपेक्षाकृत असत्य है, उसी से चिपटा रहता है। प्रकृति में भी प्राण-प्रतिष्ठा करनेवाली अदृश्य चेतन सत्ता को वह भूल जाता है, प्राकृतिक दृश्य-पदार्थों के पाने में ही जीवन का लक्ष्य बना बैठता है। मनुष्य की क्या विडम्बना है कि जो सत्य है उसके अदृश्य होने के कारण उसे भुला बैठा है, जो सत्यसम है उसे दृश्य होने के कारण सत्य समझकर उसमें लीन हो रहा है।

वेदान्ती तो व्यक्ति की अदृश्य सत्ता को (आत्मा या ब्रह्म) सत्य तथा दृश्य-सत्ता (प्रकृति) को असत्य मानते हैं, भ्रम मानते हैं। इसी प्रकार सृष्टि की अदृश्य सता (ब्रह्म या आत्मतत्त्व) को सत्य तथा दृश्य-सत्ता को—अर्थात् प्रकृति को—जो दीख रही है—असत्य मानते हैं। उनके कथनानुसार सृष्टि असत्य है,

भ्रम है, ठीक इस तरह जैसे अन्धेरे में पड़ी हुई रस्सी भ्रम के कारण सर्प प्रतीत होती है। उनके कथनानुसार आँखों से दीखनेवाला संसार रज्जु में सर्प की भ्रांति की तरह असत्य है; संसार का जहाँ स्रोत है वह ब्रह्म या आत्म-तत्त्व ही सत्य है। वे तो यहाँ तक पहुँच गये हैं कि सृष्टि को मानते ही नहीं, प्रकृति को ही ब्रह्म या ब्रह्म ही प्रकृति मानते हैं। यह सबकुछ अत्युक्ति है। असली स्थिति यह है कि अदृश्य-सत्ता वास्तविक है, यथार्थ है, सत्य है क्योंकि उसी के आधार पर दृश्य-सत्ता टिकी हुई है, परन्तु दृश्य-सत्ता में हमें उस सत्यता की, उस यथार्थता की प्रतीति हो रही है जो सत्यता या यथार्थता दृश्य-सत्ता में प्राण-प्रतिष्ठा करनेवाली अदृश्य सत्ता में है। इस दृष्टि से अदृश्य-सत्ता सत्य है, और दृश्य-सत्ता में सत्य की प्रतीति हो रही है। अदृश्य-सत्ता (परमेश्वर या ब्रह्म) के विषय में हम विचार-चिन्तन नहीं करते। इसके दो कारण हैं। पहला कारण यह है कि उसके विषय में हम निश्चिन्त होते हैं क्योंकि वह सत्ता सर्वव्यापक है, सब जगह मौजूद है, हमारे इतने सान्निध्य में है, इतने समीप में है कि उसके विषय में हमें सोचने की जरूरत ही नहीं पड़ती, वह हमें 'प्राप्त' है, जो वस्तु प्राप्त होती है उसके विषय में हमारा ध्यान ही उधर नहीं जाता, वह तो है। इसलिए सर्वसाधारण का जीवन ऐसे चल रहा है कि उन्हें आत्मा को, परमात्मा को जानने की जरूरत ही नहीं। हाँ, जिस सत्ता को जानने की जरूरत है वह दृश्य है, संसार है, प्रकृति है। मनुष्यमात्र ही उस वस्तु को चाहता है जो सत्य है, यथार्थ है, परन्तु क्योंकि अदृश्य-सत्ता सर्वव्यापक है, जहाँ मैं हूँ वहाँ वह भी है, जहाँ वह है वहाँ मैं भी हूँ; इसलिए वह सत्ता तो मिली ही हुई है। जो नहीं मिली हुई वह ऐसी वस्तु है जो हमसे दूर है, दृश्य जो कुछ है वह दूर ही तो है, दूर है तभी तो दीखता है, इसलिए मनुष्य आत्मा को, परमात्मा को पाने के लिए आतुर नहीं है; वह उस सत्ता को पाने के लिए आतुर है जो दृश्य है, दीखती है, जो उससे दूर है, जो उसे प्राप्त नहीं परन्तु जिसे वह प्राप्त करना चाहता है, इसलिए प्राप्त करना चाहता है क्योंकि उसमें उसे उस सत्ता की झाँकी दिखाई देती है जो अदृश्य तो है, परन्तु अदृश्य होती हुई भी सत्य है, यथार्थ है। अदृश्य सत्ता (परमेश्वर या ब्रह्म) के विषय में हम विचार-चिन्तन नहीं करते। इसका दूसरा कारण यह है कि यद्यपि वह सत्य है, यथार्थ है, तथापि अदृश्य है, बीज-रूप है, कारण-रूप है, आँखों के सामने नहीं है। क्योंकि अदृश्य-सत्ता मनुष्य के हाथ नहीं आती—अदृश्य होने के कारण तथा सर्वव्यापक होने से अत्यन्त समीप होने के कारण—इसलिए दृश्य में अदृश्य की झलक या प्रतीति होने की वजह से मनुष्य दृश्य में, संसार में रमा रहता है। दृश्य में रमे रहने का कारण यही है कि उसमें उसे अदृश्य में होनेवाली सत्यता या यथार्थता की प्रतीति होती है। मनुष्य का वास्तविक ध्येय सत्य को, यथार्थ को पाना है। जब सत्य या यथार्थ सत्ता अदृश्य होने अथवा सर्वव्यापक या निकटतम होने के कारण हाथ नहीं लगती, तब मानव

के लिए इसके बगैर चारा ही क्या रह जाता है कि वह अदृश्य-सत्ता को पाने के लिए दृश्य-सत्ता को हाथ लगाये, उस दृश्य-सत्ता को जिसमें अदृश्य-सत्ता की झलक या प्रतीति होती है। रस्सी को पकड़कर मनुष्य ऊपर पहुँचता है, दृश्य को पकड़ वह अदृश्य तक जा पहुँचता है परन्तु यथार्थ सत्ता तो अदृश्य ही है, दृश्य नहीं। यदि अदृश्य न हो तो दृश्य रह नहीं सकता, परन्तु मनुष्य उलझा दृश्य में ही रहता है, संसार में ही, संसार के विषय-भोग में ही रमा रहता है क्योंकि आँखों के सामने तो यह स्थूल संसार ही है। संसार जैसा दीखता है वैसा वह नहीं है। जैसा दीखता है वैसा वह हमारी इन्द्रियों की रचना के कारण है। आँख का लैंस जैसा देखता है संसार वैसा दीखता है। लैंस बदल जाय, तो संसार बदल जायगा। हर व्यक्ति का आँख का लैंस उन्नतोदर हो, तो हर वस्तु हर व्यक्ति को मोटी दिखाई देने लगेगी, लैंस अवनतोदर हो तो सभी को हर वस्तु पतली दिखाई देगी। हाथी को हम कितने दिखाई देते हैं, कीड़ी को कितने दिखाई देते हैं, यह तो हाथी या कीड़ी बनने पर पता चलेगा, परन्तु इसमें सन्देह नहीं, हर वस्तु का हमारा ज्ञान हमारे आँख के लैंस की बनावट पर निर्भर है, यथार्थ में वह कितनी है, कैसी है—यह हम नहीं कह सकते। हम अपनी इन्द्रियों के कारण इस तरह के बने हुए हैं कि संसार और उसके विषयों को ही यथार्थ समझते हैं। मेरा धन, मेरा मकान, मेरा पति, मेरी पत्नी, मेरे सम्बन्धी, मेरा समाज, मेरा देश—यह सब ज्ञान अयथार्थ है, असत्य है, बनाया हुआ है, कल्पित किया हुआ है; जब समय आता है तब यह सब-कुछ टूट जाता है, छिन्न-भिन्न हो जाता है, अस्लीयत यह है कि मैं और वह ये दोनों भिन्न-भिन्न सत्ताएँ हैं, इनका आपस का सम्बन्ध बनाया हुआ है, कल्पित किया हुआ है।

इतना ही नहीं कि यह सम्बन्ध कल्पित है, मेरे दृश्य रूप का और उसके भीतर रहनेवाले अदृश्य आत्मा का सम्बन्ध भी कल्पित है। मैं अपने को शरीर समझे बैठा हूँ। यथार्थ सत्य यह है कि मैं जो स्थूल रूप में दीखनेवाला शरीर है, और उसके भीतर जो विद्यमान अदृश्य अशरीर है—इन दोनों की पृथक्-पृथक् सत्ता है। उस अदृश्य-सत्ता से, जिसे आध्यात्मिक शब्दावली में 'आत्मा' कहते हैं, इस दृश्य शरीर का निर्माण होता है। यह दृश्य शरीर उस अदृश्य, अशरीर सत्ता के सहारे टिका हुआ है। अदृश्य कूच कर जाये तो दृश्य समाप्त हो जाता है। यही सिद्धान्त दृश्य-सृष्टि पर लागू है। यथार्थ-सत्ता इस दृश्य सृष्टि की नहीं, यथार्थ-सत्ता उस अदृश्य शक्ति की है जिसके सहारे यह दृश्य सृष्टि टिकी हुई है। सत्य वह है जो नहीं दीखता, असत्य वह है जो दीखता है। सृष्टि में जो बदलता रहता है, परिवर्तनशील है वह उस पर टिका हुआ है जो बदलता नहीं, परिवर्तित नहीं होता, सदा एक रहता है, स्थिर ही सत्य है, अस्थिर असत्य है, कम से कम अस्थिर स्थिर के ऊपर आश्रित है जैसे स्थिर किल्ली पर घूमनेवाली चक्की और स्थिर धुरे पर घूमनेवाला

पहिया आश्रित है।

जीवन का लक्ष्य सत्य को जानना है। हमारा जीवन असत्य में बीत रहा है। हम चारों तरफ से असत्य से घिरे हुए हैं। सत्य क्योंकि सर्वव्यापक है, सब जगह है इसलिए निकटतम होने तथा अदृश्य होने के कारण हम उसे देख नहीं पाते। सत्य सब जगह मौजूद होने के कारण हमें प्राप्त है; जो वस्तु 'प्राप्त' होती है उधर हमारा ध्यान नहीं जाता। हम परिवर्तनशील वस्तु को ही जो हमें अप्राप्त है, जो अस्थिर है, जो असत्य है, जिसे हम देख सकते हैं, और देख सकने के कारण ही जिसे हम सत्य समझते हैं, यद्यपि वह सत्य नहीं होती परन्तु जिसमें सत्य की प्रतीति होती है उसी में सम्पूर्ण जीवन बिता देते हैं। हमारे जीवन की यात्रा उस वस्तु को पाने के लिए नहीं है जिसमें सत्य तो न हो, केवल सत्य की प्रतीति हो; हम तो यथार्थ को, सत्य को पाना चाहते हैं। प्रश्न यह है कि इसका क्या उपाय है ? इस समस्या का क्या हल है ?

हमने प्रारम्भ में कहा था कि संसार के पदार्थों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—दृश्य तथा अदृश्य। अदृश्य यद्यपि दीखता नहीं है, परन्तु यथार्थ सत्ता उसी की है; दृश्य हमें दीखता है परन्तु उसकी सत्ता अपने-आप में कुछ नहीं है। अदृश्य न हो तो दृश्य रहता ही नहीं। मकान में रहनेवाला न रहे तो मकान बेकार, आत्मा न रहे तो शरीर बेकार, भोक्ता न रहे तो भोग्य-पदार्थ बेकार। इस तथ्य को समझ लेना ही उस प्रश्न का हल है, उस समस्या का समाधान है, जिस प्रश्न या जिस समस्या का हमने अभी उल्लेख किया है।

हम अभी तक 'प्रतीति' को 'प्राप्त' माने बैठे हैं, 'असत्य' को 'सत्य', 'अस्थिर' को 'स्थिर', 'परिवर्तनशील' को 'अपरिवर्तनीय', 'क्षण-भंगुर' को 'सनातन' समझे हुए हैं। हम 'प्रतीति' के प्रति जागे हुए हैं, 'प्राप्त' के प्रति सोये हुए हैं; 'असत्य' के प्रति जागे हुए हैं, 'सत्य' के प्रति सोये हुए हैं; 'अस्थिर' के प्रति जागे हुए हैं, 'स्थिर' के प्रति सोये हुए हैं; 'परिवर्तनशील' के प्रति जागे हुए हैं, 'अपरिवर्तनीय' के प्रति सोये हुए हैं। इसी को गीता में कहा है—**"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी, यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः"** (२।६९) जिस क्षेत्र में सर्व-साधारण लोग सोये रहते हैं, उसमें संयमी लोग जागे रहते हैं; जिस क्षेत्र में सर्व-साधारण लोग जागे रहते हैं उसमें संयमी सोये रहते हैं। हम सब भौतिक जगत् के प्रति सजग हैं, आध्यात्मिक जगत् के प्रति प्रसुप्त हैं। हमारी इस दीर्घ-निद्रा को देखकर ही स्वामी विवेकानन्द ने हमें ललकारा था—**उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान् निबोधत।** (कठ १।३।१४)

हमारी समस्या का हल तभी हो सकता है जब हम 'प्राप्त' को प्राप्त और 'प्रतीति' को प्रतीति समझें, 'असत्य' को असत्य और 'सत्य' को सत्य समझें। यह भी तब हो सकता है जब हम 'सत्य' और 'असत्य' एवं 'प्राप्त' तथा 'प्रतीति' के

भेद पर विचार करें और उनके भेद को समझें। इन दोनों के भेद को समझने के लिए विचार तथा ध्यान के भेद को समझना आवश्यक है।

हमें यह जान लेना चाहिए कि 'विचार' तथा 'ध्यान' ये दो अलग-अलग मानसिक प्रक्रियाएँ हैं। प्रायः 'विचार' तथा 'ध्यान' को एक ही वस्तु समझा जाता है, परन्तु ऐसा नहीं है। 'विचार' सविषय मानसिक प्रक्रिया है, इसमें ऊहापोह चलता है, मन के सामने भिन्न-भिन्न पथ आते हैं, किसी को यह ठीक समझता है, किसी को गलत। 'ध्यान' में ऐसा नहीं होता। 'ध्यान' के विषय में योगदर्शन का कहना है—**'ध्यानं निर्विषयं मनः'**—ध्यान मन की वह अवस्था है जब सब विचार शान्त हो जाते हैं, मन निर्विषय हो जाता है। भरे हुए तालाब में जैसे चारों तरफ से झंझावात के थपेड़ों से लहरें उठती और बैठती हैं ऐसी मानसिक अवस्था 'विचारों' की अवस्था है; जब लहरें उठना-बैठना छोड़कर समतल आ जाती हैं तब मन की जो अवस्था होती है उसे 'ध्यान' की अवस्था कहा जाता है।

'ध्यान' की अवस्था का क्या रूप है? यह तो हम बार-बार कह आये हैं कि मनुष्य में दो सत्ताएँ हैं—दृश्य तथा अदृश्य। शरीर दृश्य है, मन द्वारा शरीर में जो विक्षेप उत्पन्न हो जाते हैं उन्हें भी दृश्य-कोटि में रखा जा सकता है। जब हमारे भीतर का अदृश्य हमसे अलग होकर, हमारे दृश्य रूप को देखता है, तब हम जिस अवस्था में पहुँच जाते हैं उसे 'ध्यान' कहते हैं। अपने को अपने से अलग होकर देखने लगना 'ध्यान' कहलाता है। इसके लिए जे० कृष्णमूर्ति ने अंग्रेजी के जिस शब्द का प्रयोग किया है वह है—**Awareness**—अवेयरनैस—स्वात्म-प्रत्यक्ष—अपने को देख लेना, अपना साक्षात्कार करना। हम अपने को नहीं देखते, हम बहाव में बहे रहते हैं। हमें यह खयाल ही नहीं होता कि हम बहाव में से निकलकर अपने को काम-क्रोध-लोभ-मोह की नदी में बहता हुआ देख सकते हैं। अपने को देख सकना ही सबसे बड़ी कला है, सबसे बड़ा योग है।

प्रश्न यह है कि क्या हम अपने को अपने से अलग होकर देख सकते हैं या नहीं? हाँ, यह समस्या है, इसी को योग-दर्शन ने **'तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्'** कहा है—'ध्यान' उस अवस्था का नाम है जब व्यक्ति निर्विषय होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, अपने-आप में आ जाता है। कल्पना कीजिए कि आप क्रोध में हैं। आँखें लाल-लाल हो गयी हैं, गालियाँ बक रहे हैं, मुँह से झाग निकल रही है—यह आपकी क्रोध की दशा है। क्या अपनी इस क्रोधपूर्ण दशा को क्रोध से अलग होकर आप देख नहीं सकते? मनुष्य के उद्वेग—काम, क्रोध आदि—जब उसे घेर लेते हैं तब वह अन्धा हो जाता है। क्रोध में वह काँप रहा है, हाथ-पैर पटक रहा है। आप कहते हैं—तुम क्रोध में हो। वह कहता है—नहीं, मैं क्रोध में नहीं हूँ। उस समय वह क्रोधावेश में है, इसलिए वह उद्वेग के कारण अपने को देख नहीं पा रहा, अंधा हो रहा है। परन्तु क्या वह अपने क्रोधीपन को देख ही नहीं

सकता ? ज्योंही उसे दीखने लगे कि वह क्रोध में था, क्रोध रफूचक्कर हो जाता है। क्रोध रफूचक्कर इसलिए हो जाता है क्योंकि वह अपने से अलग होकर अपने को देखने लगता है। इस प्रकार अपने को अपने से अलग होकर देखने लगना ही 'ध्यान' कहलाता है।

'ध्यान' कोई अलग से योग की प्रक्रिया नहीं है। यह स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। इसे किसी गुरु से जानने की जरूरत नहीं। हर कोई इसे जानता है। जब क्रोध के बाद मनुष्य कहता है कि मुझे क्या हो गया, मैं अपने को भूल ही गया, इस छोटी-सी बात पर मुझे आपे से बाहर नहीं होना चाहिए था—यह सब ध्यान के कारण ही होता है। भेद यह है कि यह सब-कुछ हम क्रोध शान्त होने के बाद कहते हैं; अगर क्रोध की दशा में ही यह सब-कुछ कहने लगें, तो क्रोध उसी समय शान्त हो जाये, ठीक ऐसे जैसे दूध में उबाल आते ही उस पर पानी का छींटा देते ही उबाल बैठ जाता है।

अपने से अपने को अलग करके देखना—यह जीवन की एक कला है। जैसे हम संसार के पदार्थों को देखते हैं, ऐसे ही अपने को अपने से अलग कर देखने का अभ्यास करना चाहिए। जब मनुष्य काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि किसी मनो-विकार में हो, तब वह अपने रूप से अलग खड़ा होकर अपने को देखने लगे, तो क्रोध रहता ही नहीं, लोभ रहता ही नहीं, मोह रहता ही नहीं। इसी को आध्यात्मिक शब्दावली में रूपान्तरण या अंग्रेजी में Transformation कहते हैं। मनुष्य के रूपान्तरण में देर नहीं लगती, वह झट हो जाता है, आवश्यकता है सिर्फ ध्यान की—अपने को अपने से अलग होकर देखने की।

□

अदृश्य को देखनेवाला कौन है ?

हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ स्थूल संसार को देखती हैं, इसलिए इसी को सत्य समझती हैं, और हम जीवनभर इसी में उलझे रहते हैं। जीवन में एक समय आता है, देर में या अवेर में, जब यह दृश्यजगत् सपना मालूम पड़ने लगता है। बुद्ध के जीवन में यह समय युवावस्था में ही आ गया। उसे युवावस्था में ही दीख गया कि संसार का दृश्य-वैभव, सब राज-पाट, टीम-टाम जो दूसरों की दृष्टि में सत्य है वह सब असत्य है। वह राजकीय वैभव छोड़कर किसी अदृश्य शक्ति से प्रेरित होकर संसार से विरक्त हो गया। अदृश्य संसार को असत्य देख लेने की स्थिति वृद्धावस्था में प्रायः सभी को पकड़ लेती है; समय आता है जब मनुष्य का दृष्टिकोण बदल जाता है। युवावस्था में जो-कुछ दीखता था वृद्धावस्था में वह भ्रम अनुभव होने लगता है; स्त्री, पुत्र, कलत्र—यह सब भ्रम-जाल लगने लगता है। जिस दृश्यजगत् को वह सब-कुछ समझे बैठा था वह सब इन्द्र-जाल बन जाता है। ऐसी ही कोई मानसिक अवस्था थी जब याज्ञवल्क्य घर-बार छोड़कर जंगल जाने को निकल पड़े थे, और मैत्रेयी को कहा था—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः, मन्तव्यः"—अरे मैत्रेयी! संसार के इस भ्रम-जाल में से निकलकर आत्म के दर्शन करो, उसके दर्शन करो जो दीखता नहीं, परन्तु इस दृश्य संसार की तुलना में जो एकमात्र सत्य है—(बृहदारण्यकोपनिषद्, द्वितीय अध्याय, चतुर्थ ब्राह्मण, ५म खण्ड)

हमारी इन्द्रियाँ बनी ही ऐसी हैं—बाहर के संसार को देखती हैं, भीतर नहीं देखतीं। कठोपनिषद् के द्वितीय अध्याय की प्रथम वल्ली के प्रारम्भ में कहा है—"परांचि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः"—स्वयंभूः भगवान् ने इन्द्रियों को बाहर के पदार्थों को देखने के लिए बनाया है, इसलिए—"पराङ्, पश्यति"—यह मनुष्य बाहर जो-कुछ है उसी को देखता है—"नान्तरात्मन्"—उसके भीतर जो आत्मा है उसे नहीं देख पाता। कोई विरला पुरुष ही ऐसा होता है जो—"आवृतचक्षुः"—आँख बन्द करके—"आत्मानम् ऐक्षत्"—आत्मा के दर्शन कर लेता है। उपनिषत्कार ने यहाँ कह दिया कि भीतर की अदृश्य सत्ता को देखना हो, तो आँखें बन्द कर लेना होगा क्योंकि आँखों से जो दीखेगा वह दृश्य होगा, संसार होगा। इसी भाव को लोक-भाषा में प्रकट करते हुए किसी साधक ने कहा है—'बाहर के पट बन्द कर, भीतर के पट खोल।'

भीतर देखने का क्या अर्थ है ? हमने पिछले प्रकरण में 'विचार' तथा 'ध्यान' का भेद स्पष्ट किया है। 'विचार' में ऊहापोह होता है, एक विचार आया दूसरा गया, उनका परस्पर लेन-देन या संघर्ष होता है; 'ध्यान' में मन निर्विषय हो जाता है—योग-दर्शन की परिभाषा में "ध्यानं निर्विषयं मनः"—ध्यान में विचार नहीं रहता, ध्यान में मनुष्य अपने से अलग होकर अपने को देखता है, जैसे क्रोध के आवेश में पड़ा हुआ व्यक्ति उस भावावेश से अलग होकर अपने को देखे, अपने अक्रोधीपन को अपने अक्रोधीपन से देखे, अपने यथार्थपन के प्रति जागरूक हो। अपने प्रति जागरूकता आने पर मन के विक्षोभकारी उद्वेग अपने-आप तिरोहित हो जाते हैं, मिट जाते हैं। तभी मनुष्य कहता है—मुझे क्या हो गया था, मैं क्रोध में या काम में अंधा हो गया था। क्रोध में अंधा मैं, और उसी समय क्रोध से मुक्त मैं—मैं के ये दो रूप हैं। प्रत्येक मनुष्य में उसके ये दो रूप सम्भव हैं। जो व्यक्ति अपने को इन दो रूपों में ला सकता है उसमें 'जागरूकता' प्रकट हो जाती है। 'जागरूकता' को ही हमने 'ध्यान' कहा है।

केनोपनिषद् के प्रथम खण्ड में कहा गया है कि अगर आँखों से दीखनेवाला शरीर ही एकमात्र सत्ता है, और इसे गति देनेवाली कोई अदृश्य सत्ता नहीं, तो इसमें पहले-पहल गति कैसी आती है ? कौन इस गति का देनेवाला है ? अगर मन द्वारा गति होती है, तो मन भी तो अदृश्य है। उपनिषत्कार कहते हैं—"केनेषितं पतति प्रेषितं मनः"—मन को भी तो कोई 'अदृश्य' ही प्रेरणा देता होगा। अगर अदृश्य मन को कोई अदृश्य शक्ति प्रेरणा देती है, तो भी अदृश्य को अदृश्य प्रेरणा देता है, हर हालत में प्रेरणा का स्रोत अदृश्य है। दृश्य प्रेरणा का स्रोत नहीं हो सकता। इसे स्पष्ट करने के लिए छान्दोग्योपनिषद् (पंचम प्रपाठक, प्रथम खण्ड) में एक उपाख्यान की रचना की गयी है। इस उपाख्यान में कहा है कि एक बार आँख, कान, नाक, त्वचा और रसना—इन पाँचों इन्द्रियों तथा प्राण के रूप में प्रकट होनेवाली शरीर को गति के रूप में प्रेरणा देनेवाली अदृश्य शक्ति में विवाद उठ खड़ा हुआ कि हममें से कौन शरीर का संचालन कर रहा है ? हर एक इन्द्रिय कहने लगी कि मैं ही सबसे बड़ी हूँ, सबसे श्रेष्ठ हूँ, मुझसे ही शरीर का संचालन हो रहा है। इस विवाद में यह तय पाया गया कि जिसके बिना शरीर का कारोबार ठप्प हो जाय वही सबसे बड़ी शक्ति है, सबकी वन्दनीय है। यह सिद्ध कैसे किया जाए ? इसे सिद्ध करने के लिए निश्चय हुआ कि एक-एक इन्द्रिय को सालभर की छुट्टी दे दी जाए, उसके लौटने पर यदि शरीर का काम सुचारु रूप से चलता रहे, तो उसका सर्वश्रेष्ठ शक्ति होने का दावा रद्द कर दिया जाए, जिसके चले जाने पर शरीर ही समाप्त हो जाय उसी का सर्वश्रेष्ठ शक्ति होने का दावा ठीक मान लिया जाय। अब एक-एक करके इन इन्द्रियों को छुट्टी दी जाने लगी। पहले आँख को कहा गया कि तुम छुट्टी पर चली जाओ। हम देखेंगे कि

तुम्हारे बिना शरीर रहता है या नहीं, आँख सालभर दुनिया की सैर करके लौटी तो उसने देखा कि शरीर तो ज्यों-का-त्यों चल रहा है। आँख ने अचम्भे से पूछा, मेरे बिना तुम कैसे जीते रहे ? सबने उत्तर दिया—जैसे अन्धे बिना आँखों के जीते रहते हैं, वैसे हम भी तुम्हारे बिना जीते रहें। तुम्हारा यह दावा कि तुम ही शरीर में यथार्थ सत्ता हो, शक्ति हो, गलत है। अब कान की बारी आयी। वह भी शरीर को छोड़कर बाहर निकल पड़ा और सालभर बाद लौटा। उसने देखा, शरीर ज्यों-का-त्यों चल रहा है, उसका कुछ नहीं बिगड़ा। उसने आश्चर्य से पूछा —मेरे बिना तुम कैसे जीते रहे ? सबने उत्तर दिया—जैसे बहरे कानों के बिना जीते रहते हैं, वैसे हम भी जीते रहे। तुम्हारा यह दावा कि तुम ही शरीर में यथार्थ सत्ता हो, गलत है। धीरे-धीरे पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ इस दावे में असफल हो गयीं कि उनके बिना मनुष्य का जीवन नहीं चल सकता। जब शरीर का संचालन करने-वाली ये दृश्य इन्द्रियाँ अपने दावे में असफल होकर हार गयीं, तब शरीर में बैठी एक अदृश्य शक्ति ने अपना दावा पेश किया, वह अदृश्य शक्ति थी—प्राण के रूप में शरीर का संचालन करनेवाला अदृश्य 'आत्मा'। आत्मा ने शरीर छोड़ने की तैयारी ही की थी कि आँख, कान आदि सब इन्द्रियों के खूँटे उखड़ने लगे और सबका जीवन सूखने लगा। उन्हें ऐसे लगा मानो जीवात्मा शरीर छोड़ेगा तो उनकी भी जान निकल जायगी। उपनिषत्कार कहते हैं कि आत्मा तो अदृश्य शक्ति है, वह अदृश्य शक्ति कूच कर जाय तो ये दृश्य शक्तियाँ—आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा क्यों कूच करने लगते हैं ? कारण यही है कि यथार्थ सत्ता, सत्य सत्ता अदृश्य ही है, वही दृश्य को साधन बनाकर उससे काम कराती है। उपनिषत्कार का कहना है कि आँखें स्वयं देखती प्रतीत होती हैं, परन्तु देखनेवाला कोई और है जो आँखों से देखता है परन्तु स्वयं नहीं दीखता; कान स्वयं सुनते प्रतीत होते हैं, परन्तु सुनने-वाला कोई और है, जो कानों से सुनता प्रतीत होता है परन्तु स्वयं नहीं दीखता; नाक स्वयं सूँघती प्रतीत होती है, परन्तु सूँघनेवाला कोई और है जो नाक से सूँघता प्रतीत होता है परन्तु स्वयं नहीं दीखता; रसना स्वयं रस लेती प्रतीत होती है, परन्तु रस लेनेवाला कोई और है जो जिह्वा से रस लेता प्रतीत होता है परन्तु स्वयं नहीं दीखता; त्वचा स्पर्श करती प्रतीत होती है, परन्तु स्पर्श का अनुभव करने-वाली सत्ता—अदृश्य सत्ता—जो न दीखते हुए भी देखती, सुनती, सूँघती, चलती, स्पर्श अनुभव करती है, यही शरीर की वास्तविक एवं यथार्थ सत्ता है क्योंकि इसके कूच करते ही सब दृश्य इन्द्रियाँ कूच करने लगती हैं। दृश्य इन्द्रियों से इस अदृश्य को अलग से पा लेना ही सत्य को पा लेना है। आँख आदि इन्द्रियों ने मानव-शरीर को दो रूपों में देख लिया—एक वह रूप था जिसमें शरीर में आँख आदि इन्द्रियाँ शरीर में जड़ी हुई थीं, दूसरा अपना ही वह रूप था जिसमें आँख आदि इन्द्रियाँ शरीर से निकलकर बाहर चली गई थीं और मानव अपने इन दो रूपों

को अलग-अलग देख रहा था। अपने इन दोनों रूपों को देख लेना ही जागरूकता है, यथार्थ—ज्ञान को पा लेना है। इस 'जागरूकता' का ही नाम 'ध्यान' है। जागरूकता या ध्यान से ही अदृश्य देखा जाता है। दृश्य में देखनेवाले इस अदृश्य को ही 'आत्मा' कहते हैं।

शास्त्रों में अपने इन दो रूपों को देखने को दो प्रकार बतलाए गए हैं—एक है—'अग्रबुद्धि' से अपने भीतर के अदृश्य को देखना—"दृश्यते अग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभः"—आगे-आगे जानेवाली बुद्धि से अपने भीतर के अदृश्य को देखना। दूसरा है—निर्विषयिक ध्यान से अपने भीतर के अदृश्य को देखना। अग्र-बुद्धि से देखने की युक्ति का वर्णन सांख्यकारिका में दिया है—"संघात-पदार्थत्वात्"—अर्थात् जो पदार्थ या वस्तु है, वह पदार्थ है, दूसरे के भोगने के लिए है, अपने लिए नहीं। मकान अपने लिए नहीं होता, मालिक-मकान के लिए होता है; कपड़ा-लत्ता अपने लिए नहीं होता, किसी के पहनने के लिए होता है। अगर कहीं मकान है और उसमें रहनेवाला कोई नहीं है तो वह जीर्ण-शीर्ण हो जाता है; अगर कहीं कपड़ा-लत्ता है और उसका कोई उपयोग नहीं करता तो वह भी पुराना होकर चीथड़े हो जाता है। शरीर भी तो एक पदार्थ है। यह किसके लिए है ? शरीर शरीर के लिए तो नहीं हो सकता। अगर ऐसा होता तो शरीर कभी मरता नहीं, कभी सड़ता-गलता नहीं। शरीर में कोई सत्ता है, जो इसका उपभोग करती है। वह सत्ता जब निकल जाती है तब इसका उपभोग करनेवाला कोई नहीं रहता। ऐसी हालत में इसे श्मशान में ले-जाकर भस्म कर दिया जाता है। शरीर का उपभोग करनेवाला कौन है ? वह कहीं दीखता तो नहीं। अग्र-बुद्धि का तकाज़ा है कि अगर दीखता नहीं तो वह 'न दीखनेवाला' होगा, अदृश्य होगा। इस प्रकार अदृश्य को देख लेना अग्र-बुद्धि का काम है। इसे अग्र-बुद्धि इसलिए कहा गया है क्योंकि यह आगे-आगे चलती है, ठहरती नहीं, तबतक नहीं ठहरती जबतक इसे समस्या का हल नहीं मिल जाता। अग्र-बुद्धि से हम इस परिणाम पर पहुँच जाते हैं कि शरीर का मालिक कोई अशरीरी है, कोई अदृश्य सत्ता है। यह भी तो एक प्रकार का देखना है।

अदृश्य को देखने का एक दूसरा प्रकार भी है। उस दूसरे प्रकार को शास्त्रों में ध्यान कहा गया है जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। ध्यान का लक्षण है—"ध्यानं निर्विषयं मनः"—ध्यान व्यक्ति की वह अवस्था है जब मन में कोई विषय नहीं होता। दीया जल रहा है, प्रकाश दे रहा है। दीये के प्रकाश को देखने के लिए कोई दूसरा दीया नहीं लाया जाता। सूर्य को देखने के लिए क्या दूसरे सूर्य को लाना होगा ? ध्यान की अवस्था ही वह है जब मनुष्य आत्मस्थ हो जाता है। आत्मा तो स्वयं-द्रष्टा है, स्वयं-प्रकाश है। याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का संवाद हो रहा था (बृहदारण्यक, द्वितीय अध्याय, १४१)। याज्ञवल्क्य से जब मैत्रेयी ने

पूछा कि अदृश्य आत्मा को कैसे देखें तो याज्ञवल्क्य ने कहा—"येन इदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् विज्ञातारं अरे केन विजानीयात्"—अरे मैत्रेयी, जिस अदृश्य शक्ति से हम इन सब दृश्य-पदार्थों को जानते हैं उसे किससे देखें, किससे जानें ? जो स्वयं जाननेवाला है उसे जानने के लिए क्या किसी और को लाना होगा ? तब तो कहीं अन्त ही नहीं होगा। हर जाननेवाले के लिए कोई दूसरा जाननेवाला लाना होगा और यह सिलसिला कभी समाप्त नहीं होगा। जाननेवाले को जानने के लिए किसी अन्य जाननेवाले की जरूरत नहीं। जानने-वाला दीपक की तरह, सूर्य की तरह स्वयंप्रकाश है, संसार के विषय उसके प्रकाश को ढके हुए हैं, इन आवरण-स्वरूप विषयों के हटते ही वह स्वयंप्रकाश से उज्ज्वल रूप में प्रकट हो जाता है। ध्यान की अवस्था में उसका वह रूप स्वयं प्रकट हो जाता है। उस अवस्था में वह अपने को शरीर से पृथक् अनुभव कर लेता है। जिसमें यह अनुभूति प्रकट हो जाती है उसे ही जागरूक, प्रबुद्ध (Enlightened) कहा जाता है। वह स्वयं अदृश्य है और वही अदृश्य को देखनेवाला है।

जब हम कहते हैं कि वह अदृश्य-सत्ता जो हमारे जीवन का प्रेरणामय स्रोत है दीपक की लौ के समान, सूर्य के प्रकाश के समान स्वयं ज्योति है, ज्योति को देखने के लिए दूसरी ज्योति की जरूरत नहीं होती, तब उसका यह अभिप्राय नहीं है कि उस अदृश्य सत्ता का दर्शन अग्नि की ज्योति के रूप में या सूर्य के प्रकाश के रूप में प्रकट होता है। अगर यह ज्योति के रूप में प्रकट हो तब तो वह सत्ता दृश्य हो गई। वह तो स्वयं अदृश्य है, दृश्य को प्रेरणा देती है। उसका अदृश्य रूप दीपक की लौ के समान या सूर्य के प्रकाश के समान नहीं; वह रूप आनन्द के रूप में प्रकट होता है, वह दीपक की लौ या सूर्य के प्रकाश के समान दीखता नहीं; आनन्द—अखण्ड आनन्द—के रूप में अनुभव होता है। उस समय हम सांसारिक विषयों से विरक्त होकर अपने सहज आनन्दमय स्वभाव में आ जाते हैं जिसमें आकर हम शरीर से परे चले जाते हैं। यह अवस्था हमारे भीतर दृश्य शरीर से अविरिक्त वर्तमान अदृश्य सत्ता का अपने स्वरूप में आ जाने की है जिसे योग-दर्शन ने कहा—"तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्"—तब देखनेवाला अपने को देख लेता है, अपनी यथार्थ स्थिति में आ जाता है। यह इसका आनन्दमय रूप है जिसे प्रकाशमय सत्य कहा गया है। अपने भीतर प्रकाश देखने का अभिप्राय सूर्य की ज्योति का-सा प्रकाश नहीं, तब तो वह दृश्य हो गया; अपने भीतर प्रकाश देखने का अभिप्राय है आनन्द-स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना, आनन्दस्वरूप हो जाना।

□

क्या हम भाग्य को बदल सकते हैं ?

मेरे एक मित्र हैं जिनके साथ मैं घूमने जाया करता हूँ। भिन्न-भिन्न विषयों पर चर्चा हुआ करती है, परन्तु एक विषय ऐसा है जो उन्हें कभी छोड़ता नहीं। हर बात में हेर-फेर करके उसी पर आ जाते हैं। उनका कहना है कि जो-कुछ होता है वही करता है, उसकी मर्जी के बगैर कुछ नहीं होता। और जब वे यह बात कह रहे होते हैं तब वे आसमान की तरफ हाथ उठा लेते हैं और कहते जाते हैं—वही करता है बस, वही करता है—मनुष्य कुछ नहीं करता। वे अपनी बात इस निश्चय से कहते हैं, मानो उसको, जिसे वे ऊपरवाला कहते हैं, वे जानते हैं। मैं जब पूछता हूँ, यह ऊपरवाला कौन है, तब उनका कहना होता है—जो-कोई भी हो, दीखता हो न दीखता हो, करता सब वही है, उसी के हुक्म से सब-कुछ होता है। ३१ अक्टूबर १९८४ को भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमती गांधी की दो हत्यारों ने हत्या कर दी। हम लोग घूमने जा रहे थे। मैंने पूछा—यह हत्या भी तुम्हारे उस ऊपरवाले ने की। वे जरा भी नहीं हिचकिचाये और झट बोल उठे—उसी ऊपरवाले का हुक्म था, तभी यह दुर्घटना हुई। ऊपरवाले के हुक्म के बिना पत्ता तक नहीं हिलता। भारत जैसे महान् देश के प्रधानमन्त्री की हत्या हो जाना साधारण घटना नहीं थी। मैं भी सोच में पड़ गया। सुरक्षा के कितने प्रबन्ध थे! आगे-पीछे, दायें-बायें, भीतर-बाहर सब प्रकार के प्रबन्धों के रहते हुए एक ऐसी घटना हो जाना जिसकी स्वप्न में भी कल्पना नहीं की जा सकती थी—मन ने कहा यह सब तभी हो सकता है जब हम मान लें कि अपने बस में कुछ नहीं, कोई और ही शक्ति है जो विश्व की महान् घटनाओं का संचालन कर रही है। एक आदमी गोलों की बौछार में बाल-बाँका हुए बिना साफ निकल आता है, दूसरा एक काँटा लगने पर ही जन्म के लिए बेकार हो जाता है—यह सब क्यों है, कैसे है? क्या यह सब-कुछ ऊपरवाला ही करता है?

सब-कुछ ऊपरवाला ही करता है—यह बात कुछ अटपटी-सी लगती है, परन्तु अपने देश में और विदेशों में भी, इस विचार को माननेवाले अनेक हैं। जब मनुष्य देखता है कि उसके सामने अनेक अनहोनी घटनाएँ हो जाती हैं, ऐसी घटनाएँ जिनका सिर-पैर नहीं, जिनका कोई कारण समझ नहीं आता, तो वह हर बात का जिम्मेदार ऊपरवाले को कहने लगता है। परन्तु सोचने की बात है कि

हर बात की जिम्मेदारी ऊपरवाले की क्यों मानी जाय ? कहीं चोरी हो गई, कहीं डाका पड़ गया, कहीं कत्ल हो गया—क्या यह सब-कुछ ऊपरवाला करता है ? मनुष्य इन सब घटनाओं से अपने को बचाने के लिए जिम्मेदारी ऊपरवाले पर डालने का प्रयत्न करता है। ऊपरवाले को क्या पड़ी है कि किसी से चोरी कराये, किसी के घर डाका डलवाये, किसी से कत्ल करवाये ? जो लोग ऐसे विचार रखते हैं उनकी दृष्टि में दुनिया एक तमाशा है, ऊपरवाले का खेल है। सत्य यह है कि संसार इस प्रकार का खेल-तमाशा नहीं। यहाँ सब-कुछ नियमानुसार किसी लक्ष्य को लेकर चल रहा है। ऊपरवाले की बात सर्वथा निस्सार है।

भारत के मनीषियों ने जीवन की समस्याओं पर सोचते-सोचते ऊपरवाले के अतिरिक्त एक अन्य सिद्धान्त को भी निखारा था जिसे कर्म का सिद्धान्त कहा जाता है। इस सिद्धान्त की जड़ में एक दूसरा सिद्धान्त काम कर रहा है जिसे कारण-कार्य का सिद्धान्त कहते हैं। जो भी कार्य है उसका कोई कारण होता है, जो कारण है उसका कोई कार्य होता है। इस सिद्धान्त को आस्तिक-नास्तिक सब मानते हैं। कारण-कार्य के सिद्धान्त का कर्म के सिद्धान्त से यह सम्बन्ध है कि जीवन में हम जो कर्म करते हैं, वह कारण है, उसका हमें जो फल मिलता है वह 'कार्य' है। साधारणतया जीवन में यह सिद्धान्त कारगर होता हुआ दीखता है, तभी हम अच्छे या बुरे कर्म में प्रवृत्त होते हैं। अगर कर्म के सिद्धान्त में, इस बात में हमें निश्चय न हो कि जो कुछ हम करेंगे उसका हमें फल अवश्य मिलेगा, तो दिनभर हम कर्म करने में जुटे क्यों रहते हैं ? हम सवेरा होते ही किसी-न-किसी काम में जुट जाते हैं, जीवनभर ऐसा करते हैं, और काम कर चुकने के बाद फल की आशा करते हैं। फल की आशा तभी की जा सकती है जब हमें विश्वास हो कि हमने जो कर्म किया है उसका फल अवश्य मिलेगा, क्योंकि कारण-कार्य के अटल नियम में हमें विश्वास है।

परन्तु कई घटनाएँ ऐसी भी हो जाती हैं जिन्हें देखकर हमारा कर्म के सिद्धान्त पर विश्वास डाँवाडोल हो जाता है। एक व्यक्ति के नाम हाथ-पैर हिलाये बिना एक लाख की लाटरी निकल आयी, एक व्यक्ति का घोड़ा रेस में दस लाख रुपया जीत लाया, एक व्यक्ति ने जन्म ही राजा के घर लिया, एक व्यक्ति बिना कोई कुकर्म किये कोढ़ी के घर पैदा हो गया—सैकड़ों अवसर आते हैं जिनमें हमने कुछ नहीं किया, परन्तु दुःख हम भोग रहे हैं। जो जन्म से राजा के घर पैदा हुआ उसने क्या पुण्य किया था जो पैदा ही राजा के घर हुआ ? जो जन्म से ही गरीब के घर पैदा हुआ, उसने इस जन्म में क्या पाप किया था जो पैदा ही भिखारी के घर हुआ ? कर्म का फल भोगने से पहले तो वह पैदा ही नहीं हुआ था। ऐसे अनेक दृष्टान्त मिल जायेंगे जिनमें व्यक्ति ने कोई भी अच्छा काम नहीं किया किन्तु दुःख भोगने के बजाय वह सुख भोग रहा है, और कई लोग ऐसे मिल जायेंगे जो जीवन-

भर पुण्य का काम करते रहे परन्तु सुख भोगने के बजाय वे जीवन-भर दुःख ही भोगते रहे। इसका उत्तर भी सोचनेवालों ने सोच रखा है। वे कहते हैं कि यह सब पूर्व-जन्म का फल है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त कर्म की उस विषम समस्या का हल ढूँढता है जिसका उल्लेख हमने अभी किया है। अगर इस जन्म में हम बिना हाथ-पैर हिलाये सुखी हैं, तो इसका कारण यह है कि पिछले जन्म में हमने अच्छे कर्म किये थे। अगर इस जन्म में हम बिना किसी कारण के दुःखी हैं तो इसका कारण यही है कि पिछले जन्म में हमने कुछ बुरे कर्म किये थे। इस सारी विचारधारा का अभिप्राय यह है कि हम जो-कुछ हैं, या तो इस जन्म के किये गए कार्यों से हैं, या पिछले जन्म के किये कार्यों से हैं। इस तथा पिछले जन्म में हमने जो अच्छे कर्म किये उनसे हम सुखी हैं, जो बुरे कर्म किये उनसे हम दुःखी हैं। इसका अभिप्राय यह भी है कि हम जो-कुछ हैं या जो-कुछ कर रहे हैं उसमें हम कर्म के बंधन से बँधे हुए हैं, हम जो-कुछ हैं वह किस्मत का, दैव का परिणाम है—इस जन्म के कर्म या पिछले जन्म के कर्म से हम जो-कुछ बन सकते थे वही बने हैं, इससे भिन्न हम बन ही नहीं सकते थे, हमारे साथ जो-कुछ हो रहा है वह होना ही था, विधि का विधान था, वह टल नहीं सकता था।

संसार में जो विषमता हम देखते हैं उनका हल मिलना चाहिए। विषमता के मुख्य तौर पर दो हल हैं। एक हल दिव्य-शक्ति को इसका कारण मानता है, दूसरा कर्मों को इसका कारण मानता है। दिव्य-शक्ति या परमेश्वर इस विषमता का कारण है, इसका अभिप्राय यह है कि जो-कुछ हो रहा है, भगवान् की इच्छा से हो रहा है। वह जिसे चाहे सुखी बना दे, जिसे चाहे दुःखी बना दे। जिस पर वह प्रसन्न हो गया उस पर सुखों की वर्षा कर दी, जिस पर वह अप्रसन्न हो गया उससे उसके पास जो कुछ है वह भी छीन लिया। भगवान् की जो आराधना करते हैं, उनके कर्म कैसे ही क्यों न हों, 'भगवत्कृपा' से वे भव-सागर की कठिनाइयों को पार कर जाते हैं; भगवान् जिससे रुष्ट हो जाते हैं उसे तबाह कर देते हैं। इस विचार में कर्म को वह स्थान नहीं जो भगवत्कृपा को स्थान है। यह भक्ति मार्ग का रास्ता है, परन्तु यह बात बुद्धिगम्य नहीं है कि कर्म भले ही कैसे करो, भगवान् की भक्ति करो—इससे भव-सागर तर लिया जाता है। अगर यह कहा जाय कि भक्त कभी बुरा काम नहीं करता और भक्त अच्छा ही काम करता है, तब भगवत्कृपा भी व्यक्ति के कर्म को कृपा का आधार बना लेती है।

संसार में जो विषमता हम देखते हैं उसका दूसरा कारण हमारे कर्म हैं। कर्म को दो भागों में बाँटा जा सकता है—'दैव' और 'पुरुषार्थ'। दैव को बोल-चाल की भाषा में भाग्य कहते हैं, किस्मत कहते हैं, तकदीर कहते हैं। लोग भाग्य के ही फेर में रहा करते हैं, पुरुषार्थ की भी बात इस सिलसिले में ही करते हैं कि

पुरुषार्थ से भाग्य बदला जा सकता है या नहीं। न बदलनेवाली वस्तु भाग्य है, किस्मत है। हम अक्सर सुना करते हैं कि भाग्य में जो लिखा है वह मिटाये मिट नहीं सकता। लोग हाथ की रेखाएँ दिखाते हैं, जन्म-पत्री दिखाते हैं, माथे की लकीर की बात करते हैं। यह सब-कुछ इसलिए किया जाता है क्योंकि हमारा विश्वास है कि सबका भाग्य, सबकी किस्मत निश्चित है, उसे कोई बदल नहीं सकता। जन्म-पत्री मिलाते हुए यह देखा जाता है कि लड़के-लड़की के जन्म के ग्रह मिलते हैं या नहीं। किस्मत पर हम सबका इतना भरोसा है कि अगर कोई अनहोनी बात हो गई तो हम किस्मत को ही दोष देते हैं। लाटरी मिल गई तो किस्मत, बना-बनाया खेल बिगड़ गया तो किस्मत। कर्म से किस्मत बनती है— यह ज्ञानमार्ग या कर्ममार्ग का रास्ता है। किस्मत माननेवालों का कहना है कि जो किस्मत बन गई वह बन गई, उसे बदला नहीं जा सकता।

परन्तु किस्मत बनती कैसे है ? या तो परमात्मा अपनी मर्ज़ी से कुछ को अच्छी किस्मत देकर पैदा करता है, कुछ को बुरी किस्मत देकर पैदा करता है। यह तो परमात्मा पर दोष देना है, उसे अन्यायी मानना है। ऐसा परमात्मा जो कुछ को आसमान पर चढ़ा दे, कुछ को नरक में पटक दे, किस काम का ? परमात्मा के विषय में तो सबका विचार यह है कि यह न्यायकारी है, फिर यह अन्याय क्यों ? या यह मानना पड़ेगा कि जो व्यक्ति अच्छे कर्म करते हैं वे अच्छी किस्मत लेकर पैदा होते हैं, जो बुरे कर्म करते हैं वे बुरी किस्मत लेकर पैदा होते हैं। परन्तु यह अच्छी या बुरी किस्मत बनने का कारण क्या है ?

हम इस जन्म में जो-कुछ हैं वह पिछले जन्म की किस्मत का परिणाम है। अर्थात्, पिछले जन्म में हमने जो-कुछ किया था उससे हमारी इस जन्म की किस्मत बन गई। एक व्यक्ति राजा के घर पैदा हुआ, दूसरा रंक के घर पैदा हुआ। राजा के घर जो पैदा हुआ उसने पिछले जन्म में जो कर्म किये थे यह जन्म उनका परिणाम है; रंक के घर जो पैदा हुआ वह भी पिछले जन्म में किये हुए बुरे कर्मों का परिणाम है। अगर यह बात है, तो चलिए पिछले जन्म में चलें। उस पिछले जन्म में हम जो-कुछ कर रहे थे या हमने जो-कुछ किया उसे करने में हम स्वतन्त्र थे या नहीं थे ? अगर स्वतन्त्र थे तो यह 'पुरुषार्थ' हो गया, अगर स्वतन्त्र नहीं थे तो पिछला जन्म उससे पिछले जन्म का परिणाम होगा। अगर पिछला जन्म भी उससे पिछले जन्म में किये हुए कर्मों का परिणाम है तो उस पिछले जन्म में हम स्वतन्त्र थे। किसी-न-किसी समय हम कर्म करने में स्वतन्त्र थे, तभी हमारा भाग्य बना, अन्यथा पहले-पहल भाग्य बन कैसे सकता था ? भाग्य बनता ही तब है जब हम कर्म करने में स्वतन्त्र होते हैं। अगर हम कभी स्वतन्त्र कर्म कर ही नहीं सकते तो भाग्य बन ही नहीं सकता। यह तो मानना ही पड़ता है कि किसी समय बिना भाग्य से बँधे स्वतन्त्र रूप में हमने कर्म किया जिसका परिणाम भाग्य बना। अब

प्रश्न यह रह जाता है कि अगर हम किसी भी जन्म में कर्म करने में स्वतन्त्र हैं, अपने पुरुषार्थ से, बिना भाग्य से बँधे कर्म कर सकते हैं तो इस जन्म में हम कर्म करने में स्वतन्त्र क्यों नहीं हैं ? अगर हम कभी कर्म करने में स्वतन्त्र थे, तो जैसे हमने स्वतन्त्र कर्म द्वारा इस जन्म के अपने भाग्य को बनाया, वैसे ही अपने स्वतन्त्र कर्म से भाग्य को बदल भी क्यों नहीं सकते ? सारी समस्या का केन्द्र-बिन्दु यह है कि हम बिना भाग्य से बँधे स्वतन्त्र रूप से कर्म कर सकते हैं या नहीं ? जब भाग्य का निर्माण ही तब हो सकता है जब हम कर्म करने में स्वतन्त्र हों, तब स्वतन्त्र रूप में कर्म कर सकना अवश्यम्भावी हो जाता है। इसी प्रकार अगले जन्म का भाग्य भी तभी बनता है जब इस जन्म में कर्म करने में हम स्वतन्त्र हों, अन्यथा अगले जन्म की जरूरत ही नहीं रहती। अगर पुरुषार्थ न माना जाय, और किस्मत को ही सब-कुछ माना जाय, तो इस जन्म में किस्मत के रूप में हमने जो-कुछ भोगा उससे कर्म का चक्कर समाप्त हो गया, क्योंकि इस जन्म में हमने स्वतन्त्र रूप से कोई कर्म किया ही नहीं जिससे अगले जन्म की अच्छी या बुरी किस्मत बने।

संक्षेप में कहा जाय, तो हम कह सकते हैं कि किस्मत को मानना स्वतन्त्र पुरुषार्थ को माने वगैर हो ही नहीं सकता, क्योंकि किस्मत पुरुषार्थ से ही बनती है। पुरुषार्थ का अर्थ है मनुष्य का कर्म करने में स्वतन्त्र होना। जिस व्यक्ति ने वैदिक संस्कृति को "स्वतन्त्रः कर्ता"—इस सिद्धान्त का प्रदान किया था उसने इस संस्कृति को एक महामन्त्र दिया था जैसे न्यूटन ने विज्ञान के क्षेत्र को गुरुत्वाकर्षण-शक्ति के आविष्कार का प्रदान किया था। 'किस्मत' के वोझ से लदी मानव-जाति को इस वोझ को परे फेंकने का साहस 'पुरुषार्थ' के सिद्धान्त से ही प्राप्त हुआ।

परन्तु इतना कह देने मात्र से हमारी कर्म की समस्याओं का अन्त नहीं हो जाता। यह बात तो ठीक है कि हम कर्म करने में स्वतन्त्र हैं, परन्तु यह बात भी उतनी ही ठीक है कि हम कर्म करने में उतने ही परतन्त्र भी हैं। हम लाख कोशिश करते हैं, परन्तु फेल हो जाते हैं; दूसरा कुछ नहीं करता परन्तु पास हो जाता है। हर व्यक्ति का जीवन ऐसी घटनाओं से भरा पड़ा है, जो उसे यह मानने को बाधित करती हैं कि उसके बस में कुछ नहीं है। दूसरी तरफ उसके जीवन में ऐसी भी घटनाएँ घटी हैं जब सब विपत्तियों का उस अकेले ने अपने साहस से—अपने पुरुषार्थ से—सामना किया, और उन विपत्तियों के जाल को, जिनमें से निकल सकना असम्भव था, एक झटके में परे फेंक दिया। हमारे सामने किस्मत की भी घटनाएँ हैं, पुरुषार्थ की भी घटनाएँ हैं। इन दोनों के बीच में से एक रास्ता दिशा-निर्धारण का गीता ने निकाला है जिसे निष्काम-कर्म कहते हैं। भारतीय संस्कृति का कर्म का त्रिक् इन तीन के बीच में घूमता है—भाग्य, पुरुषार्थ, निष्काम-कर्म।

यह पक्की बात है कि अनेक घटनाओं का हल केवल भाग्य है। एक भिखमंगे को एक लाख की लाटरी मिल गई—यह भाग्य नहीं तो क्या है ? परन्तु यह भी

पक्की बात है कि भाग्य का निर्माण पुरुषार्थ से होता है। इस जन्म का, या पिछले जन्म का पुरुषार्थ ही तो भाग्य बनता है। इस दृष्टि से भाग्य तथा पुरुषार्थ दोनों सही सिद्धान्त हैं, परन्तु इन दोनों को सही मानने के लिए पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्म को मानना आवश्यक है क्योंकि जिस अनहोनी घटना का सम्बन्ध इस जन्म से न हो उसका सम्बन्ध पूर्वजन्म से ही हो सकता है, इसी प्रकार इस जन्म का परम-पुरुषार्थ अगर इस जन्म में फलप्रद न हो तो यह किस्मत बनकर अगले जन्म में प्राप्त होगा—यह मानकर ही संतोष कर लेना पड़ेगा। परन्तु अगर किसी घटना को पिछले जन्म के स्वतन्त्र कर्म और अगले जन्म की किस्मत से भी न जोड़ा जा सके, तब जो सिद्धान्त टिक सकता है वह निष्काम-कर्म का सिद्धान्त है।

पिछला जन्म था या नहीं था—यह कौन जानता है ? अगला जन्म होगा या नहीं—यह भी कौन जानता है ? हमारा पिछला जन्म था तथा अगला जन्म होगा—अगर ये दोनों बातें निश्चित हैं—तब तो हमने किस्मत तथा पुरुषार्थ के विषय में जो-कुछ लिखा है वह आत्म-सन्तोष के लिए काम आ जाता है, क्योंकि हमने जो-कुछ लिखा है उसका अभिप्राय यह है कि किस्मत भी होती है, पुरुषार्थ भी होता है, पुरुषार्थ से ही किस्मत बनती है। पूर्वजन्म या पुनर्जन्म हो या न हो, इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि यह जन्म तो है ही। दो बातें निश्चित हैं—पहली बात यह है कि वर्तमान जन्म है, दूसरी बात यह कि मनुष्य पुरुषार्थ करता है क्योंकि स्वतन्त्र किये हुए कर्म से ही किस्मत बनती है। इन दो बातों को निश्चित मानकर जीवन का मार्ग निश्चित करना होगा। वह मार्ग क्या है ?

हम जो काम करते हैं उसका कुछ अच्छा फल होगा—यह सोचकर करते हैं। कभी अभिलषित फल मिलता है, कभी नहीं; कभी, उलटा ही फल निकल आता है तो ऐसी हालत में हमें दुःख होता है। कर्म की गहराई में जानेवालों का कहना है कि कर्म तो करो परन्तु फल की आशा न करो। फल की आशा करने पर जब अभिलषित फल नहीं मिलता तब दुःख होता है। फल की आशा न करने को वे निष्काम-कर्म कहते हैं। उनका कहना है कि गीता का यही उपदेश है। परन्तु यह फिजूल-सी बात लगती है। फल के लिए ही तो कर्म किया जाता है, फिर फल की आशा क्यों न करें ? क्या गीता के निष्काम-कर्म का यह अर्थ है, और क्या इसी फिजूल-सी बात के लिए गीता प्रसिद्ध हुई है ? नहीं, गीता के निष्काम-कर्म का यह अर्थ नहीं है। तो फिर, गीता के निष्काम-कर्म का क्या अर्थ है ? निष्काम-कर्म की व्याख्या करते हुए गीता में कहा है—

> कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
> मा कर्मफलहेतुर्भूः मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ —२।४७

इसका अर्थ यह है कि ऐ मनुष्य, तेरा अधिकार कर्म करने में तो है परन्तु फल में तेरा अधिकार नहीं। गीता में कहा गया है कि फल की आशा नहीं रखनी

चाहिए। कर्म किया है तो फल की आशा क्यों नहीं रखनी चाहिए, अवश्य रखनी चाहिए, परन्तु फल पर अधिकार रखना सीमा से बढ़ जाना है। आशा रखना और अधिकार रखना—इन दोनों में भेद है। कर्म करना हमारे हाथ में है, फल देना दूसरे के हाथ में है। बालक इम्तिहान देता है—यह उसके हाथ में है, परिणाम देना परीक्षक के हाथ में है। परीक्षक जब परिणाम देता है तब उसके दो रूप हो सकते हैं। एक रूप तो वह है जिसकी हम अपने किये कर्म के अनुसार आशा रख सकते हैं। कर्म करना हमारा 'पुरुषार्थ' था, उसका जैसा हम फल चाहते थे वैसा मिल जाना हमारा 'भाग्य' कहा जायगा जो हमारे कर्म का अवश्यम्भावी परिणाम था। परन्तु यह भी हो सकता है कि हमें हमारा अभिलषित फल न मिले। क्यों न मिले—इसका हमारे पास कोई उत्तर नहीं। हम केवल इतना कह सकते हैं कि संसार का अनुभव यह बतलाता है कि कभी-कभी अनहोनी घटनाएँ होती हैं, ऐसी घटनाएँ जिनके सामने कारण-कार्य का नियम फेल हो जाता है। जब हमारा पुरुषार्थ सर्वथा पंगु हो जाता है, हम लाख कोशिश करते हैं परन्तु कुछ बनता नहीं, तब दोनों हाथ नीचे डालकर, सिर झुकाकर कहना पड़ता है कि संसार में ऐसी भी घटनाएँ घटती हैं जिनका हमारे पास कोई समाधान नहीं, जो न पुरुषार्थ के सिद्धान्त से हल होती हैं, न भाग्य के सिद्धान्त से हल होती हैं, जो हमें किसी प्रकार हल होती नहीं प्रतीत होतीं। उस स्थिति में जिस सिद्धान्त की शरण लेनी पड़ती है उसी को गीता ने कहा है—**'निष्काम कर्म'** का सिद्धान्त। निष्काम-कर्म के सिद्धान्त का अर्थ है—मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, फल भोगने में परतन्त्र है, फल-प्राप्ति की पूर्ण आशा से मनुष्य कर्म में भरपूर शक्ति के साथ प्रवृत्त हो, क्योंकि उसे जो जन्मजात स्वतन्त्रता मिली है उसके आधार पर उसका कर्म करने में पूरा अधिकार है—**'कर्मण्येवाधिकारस्ते'** परन्तु अगर उसका वांछित फल उसे न मिले तो उसे शान्त भाव से समझ लेना चाहिए कि फल-प्राप्ति का क्षेत्र उसके हाथ में नहीं है, किसी दूसरी शक्ति के हाथ में है। इसी विचार से मनुष्य को शान्ति मिलती है—कर्म करते चलो, फल मिलेगा, तकदीर भी बदलेगी; न मिला, तकदीर न बदली, तो उस शक्ति के सामने सिर झुका दो जो विश्वात्म-शक्ति है क्योंकि उसकी सर्वव्यापी दृष्टि में केवल तुम्हीं नहीं हो, सब समाये हुए हैं, उसे तुम्हीं को नहीं सभी को सम्भालना है।

□

सभ्यता तथा संस्कृति

जीवधारी प्राणियों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—पशु तथा मनुष्य। पशु का संचालन 'सहज क्रिया' (Instinct) से होता है, मनुष्य का संचालन बुद्धि (Intelligence) से होता है। इस भेद को दर्शाते हुए हितोपदेश में कहा है—**"आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्। धर्मो हि तेषां अधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः"**(कथामुख, २५)—पशु तथा मनुष्य में यह भेद है कि भूख लगना, खाना-पीना, सोना, भय, मैथुन—ये सब पशु तथा मनुष्य दोनों में समान रूप से पाये जाते हैं, परन्तु धर्म एक ऐसा तत्त्व है जो मनुष्य में तो पाया जाता है, पशु में नहीं पाया जाता। प्रश्न यह है कि 'धर्म' क्या है जो मनुष्य में विशेष रूप से पाया जाता है ?

धर्म की व्याख्या करते हुए कहा गया है—**"धारणात् धर्ममित्याहुः"** (शांति पर्व १०९/११)—वह तत्त्व जो समाज को धारण करता है, टिकाये रखता है, उसे 'धर्म' कहते हैं। यहाँ धर्म से अभिप्राय बौद्ध-धर्म, जैन-धर्म, इस्लाम, ईसाइयत आदि से नहीं है। धर्म वह तत्त्व है जो मानव-समाज के अन्तःसम्बन्धों से उत्पन्न होता है, और जिनके कारण मानव-समाज एकजुट रहकर बुद्धि से उन्नति करता हुआ पशु-समाज से उठकर उससे भिन्न हो जाता है। ये तत्त्व जो मनुष्य को पशु से भिन्न कर देते हैं दो हैं जिन्हें 'सभ्यता' तथा 'संस्कृति' कहते हैं। सभ्यता तथा संस्कृति ऐसे तत्त्व हैं जो मानव-जगत् में मनुष्य मनुष्य के साथ अन्तःसम्बन्धों से उत्पन्न होते हैं, पशु पशु के अन्तःसम्बन्धों से ये उत्पन्न नहीं होते। पशु पशुओं के साथ करोड़ों वर्षों तक बराबर रहें, वे आहार, निद्रा, भय, मैथुन से ऊपर नहीं उठेंगे। मनुष्यों का मनुष्यों से जो अन्तःसम्बन्ध हुआ उससे दो नवीन तत्त्वों का उदय हो गया जिन्हें 'सभ्यता' तथा 'संस्कृति' कहा जाता है। इन्हीं आधारभूत दो तत्त्वों को संस्कृत में 'धर्म' कहा जाता है, बाकी जिन्हें हम धर्म के नाम से पुकारते हैं—बौद्ध धर्म, जैन धर्म, इस्लाम, ईसाइयत आदि—ये सब सभ्यता तथा संस्कृति, इन दोनों में से 'सभ्यता' से विकसित न होकर 'संस्कृति' से विकसित हुए हैं। मानव-समाज के अन्तःसम्बन्धों से सभ्यता तथा संस्कृति उत्पन्न हुए और संस्कृति से वे मत-मतान्तर उत्पन्न हुए जिन्हें हम धर्म के नाम से पुकारा करते हैं। इस दृष्टि से समाज का विकास इस प्रकार हुआ—पहले मनुष्य पशु-समान था,

फिर मानव का मानव के साथ निकट का सम्बन्ध हुआ, इस अन्तःसम्बन्ध से एक अन्तःसम्बन्ध का विकास हुआ जिसे धर्म कहते हैं, फिर यह अन्तःसम्बन्ध अधिकाधिक विकसित होता गया, इसके विकसित होते-होते क्रमशः दो तत्त्व विकसित हुए जिनमें से भौतिक विकास को 'सभ्यता' कहते हैं, आध्यात्मिक-विकास को 'संस्कृति' कहते हैं, और इस संस्कृति से संसार के भिन्न-भिन्न मतों का विकास हुआ जिन्हें हम भ्रमवश 'धर्म' कहते हैं। असल में, धर्म वह तत्त्व है जिससे सामाजिक संगठन एकजुट बना हुआ है और जिससे 'सभ्यता' तथा 'संस्कृति' का विकास हुआ।

'सभ्यता' तथा 'संस्कृति'—ये दो शब्द ऐसे हैं जिनका हमारी शब्दावली में गलत प्रयोग होता है। हम इनमें भेद को नहीं समझते। 'संस्कृति' के स्थान में हम 'सभ्यता' शब्द का प्रयोग कर देते हैं, 'सभ्यता' के स्थान में हम 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग कर देते हैं। इन दोनों में महान् भेद है। 'सभ्यता' तथा 'संस्कृति' में प्रबल भेद यह है कि 'सभ्यता' भौतिक है, 'संस्कृति' आध्यात्मिक है। इन दोनों का विकास कैसे हुआ ?

(क) सभ्यता तथा संस्कृति का विकास—हमने कहा कि 'सभ्यता' भौतिक-विकास का नाम है, 'संस्कृति' आध्यात्मिक विकास का नाम है। ये दो प्रकार के विकास कैसे हुए ? इन दोनों के विकास में भौतिक पर्यावरण का विशेष योगदान है। किसी देश का जैसा भौतिक या भौगोलिक पर्यावरण होगा वैसी ही सभ्यता तथा वैसी ही संस्कृति वहाँ जन्म लेगी। यूरोप के देशों में गर्मी नहीं पड़ती, सर्दियों में वे हिमाच्छादित रहते हैं। उन्हें ऐसे उपायों की जरूरत रहती है, जिनसे सर्दी का मुकाबिला कर सकें। उनका सारा ध्यान अपने शरीर की रक्षा की तरफ बना रहता है। वहाँ का भौतिक पर्यावरण इतना कठोर है कि वहाँ की सर्दी से लड़ने के लिए उन्हें जी-जान खपानी पड़ती है। यही कारण है कि यूरोप में भौतिक साधनों का विकास हुआ जिनसे पर्यावरण का मुकाबिला किया जा सके। इन्हीं साधनों तथा उपकरणों के विकास को हम 'सभ्यता' (Civilization) कहते हैं। यूरोप के विपरीत भारत का पर्यावरण सर्वथा भिन्न रहा। यह देश चारों तरफ से पर्वतमालाओं तथा समुद्र से घिरा हुआ है। बाह्य शत्रुओं से प्रकृति द्वारा सुरक्षित भी रहा। जीवन की कशमकश भिन्न थी—न अधिक सर्दी, न अधिक गर्मी। गर्मियों में वृक्षों की छाया के नीचे सो सकते थे। अधिक वस्त्रों की भी जरूरत नहीं थी। प्रकृति ने मानो ऐसा प्रदेश रच दिया था जहाँ रहते हुए प्रकृति से परात्पर तत्त्व की तरफ ही ध्यान जाता था। यही कारण है कि भारत में आध्यात्मिक तत्त्वों की तरफ ध्यान गया। इन्हीं आध्यात्मिकता के विचारों को आधार बनाकर जिस चिन्तन का विकास हुआ उसे हम भारतीय 'संस्कृति' (Culture) कहते हैं। इस संस्कृति के अपने कुछ मूल-तत्त्व हैं जिन्हें हम अहिंसा, सत्य, अस्तेय,

ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह कहते हैं।

(ख) **सभ्यता तथा संस्कृति का आदान-प्रदान**—वैसे तो भौतिक सभ्यता का विकास यूरोपीय देशों में हुआ, इसलिए हुआ क्योंकि वहाँ का पर्यावरण ही ऐसा था जहाँ यान्त्रिक विकास हो सकता था। आध्यात्मिक विकास भारत में हुआ, इसलिए हुआ क्योंकि भारत का पर्यावरण भी ऐसा था जहाँ आत्मा-परमात्मा-परलोक के विचार विकसित हो सकते थे। क्योंकि आदि-काल में आवागमन की सुविधाएँ नहीं थीं इसलिए जो भौतिक विकास यूरोप में हुआ वह वहीं सीमित रहा; जो आध्यात्मिक विकास भारत में हुआ वह भारत में ही सीमित रहा; परन्तु तोयनबी का कहना है कि ज्यों-ज्यों आवागमन की सुविधाएँ बढ़ीं त्यों-त्यों सभ्यता के उपकरण यूरोप से पूर्वी देशों में और भारत की आध्यात्मिकता भारत से पश्चिमी देशों में जा पहुँची और सभ्यता तथा संस्कृति-विषयक पर्यावरण-सम्बन्धी सीमा मिटती चली गई, सभ्यता के भौतिक उपयोगी उपकरण पूर्व में पहुँचे और पूर्व की आध्यात्मिकता के विचार पश्चिम में पहुँचे, फिर भी सभ्यता तथा संस्कृति की भेदकता बनी रही, सभ्यता का रूप भौतिक तथा संस्कृति का रूप आध्यात्मिक बना रहा। यद्यपि यूरोप में सांस्कृतिक विचार घर करने लगे, तो भी यूरोप सभ्यता-प्रधान बना रहा; इसी प्रकार यद्यपि पूर्व में यन्त्रों के प्रचार के द्वारा भौतिकवाद जा पहुँचा, तो भी पूर्व मूलतः आध्यात्मिकवादी बना रहा। इस दृष्टि से कहना होगा कि भौतिकवाद की उपस्थिति के बावजूद भारत मूलतः अध्यात्मवादी देश है। यदि कहा जाय कि आवागमन की प्रगति तथा सुविधा के परिणामस्वरूप सभ्यता तथा संस्कृति का पश्चिम तथा पूर्व के साथ का सम्बन्ध मिटता जा रहा है तो कोई अत्युक्ति न होगी।

(ग) **'सभ्यता' वस्तु की उपयोगिता को मापती है, 'संस्कृति' समाज की प्रचलित विचारधारा का मूल्यांकन करती है**—बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी, मोटर-साइकल, मोटर, हवाई जहाज—ये सब (भौतिक पदार्थ) 'सभ्यता' के सूचक हैं; चोरी, जारी, लंपटपन, सादा जीवन, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—ये सब आध्यात्मिक तत्त्व 'संस्कृति' के सूचक हैं। पहली बातें भौतिक हैं, दूसरी बातें आध्यात्मिक हैं। बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी आदि की 'उपयोगिता' मापी जाती है; चोरी, जारी, गुण्डेबाजी, अहिंसा, सत्य आदि का 'मूल्य' आंका जाता है। बैलगाड़ी से घोड़ागाड़ी और घोड़ागाड़ी से मोटरसाइकल ज्यादा उपयोगी है क्योंकि उत्तरोत्तर वे अपने काम को ज्यादा तेजी से कर सकते हैं; चोरी-जारी, लंपटपन, अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि को उपयोगिता की कसौटी पर नहीं परखा जाता, उनका अपने-आप में मूल्य है। चोरी-जारी, लंपटपन को निकृष्ट मूल्य का समझा जाता है; अहिंसा-सत्य आदि को उत्कृष्ट मूल्य का समझा जाता है। समाज ने अपनी संस्कृति के जो मूल्य-निर्धारण कर लिये हैं उनमें बदलाहट नहीं

होती। चोर का चोरों की सोसाइटी में जो मूल्य है वह है चोरी करके पकड़ा न जाना, पकड़े गये तो चोर का मूल्य अपनी बिरादरी में जाता रहता है। सभ्यता में बदलाहट होती रहती है। पहले बैलगाड़ी चली, उसके बाद घोड़ागाड़ी चली, उसके बाद मोटरसाइकल चली, फिर मोटर चली, फिर हवाई जहाज चला—उपयोगिता की दृष्टि से उत्तरोत्तर उन्नति होती गई; यह नहीं होता कि पहले हवाई जहाज चले, फिर मोटर, फिर साइकल, फिर घोड़ागाड़ी, फिर बैलगाड़ी। 'सभ्यता' में उपयोगिता की दृष्टि से उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है, 'संस्कृति' में या तो उसका मूल्यांकन स्थिर रहता है, या उसमें अगर परिवर्तन होता है तो वह ऊपर भी जा सकती है, नीचे भी जा सकती है। ईजिप्ट और बेबीलोन की संस्कृति बहुत ऊँचे स्तर पर पहुँच चुकी थी, फिर नष्ट हो गई। संस्कृति के जो मूल तत्त्व हैं वे या तो ऊँचे जाकर स्थिर हो जाते हैं या धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं।

सभ्यता तथा संस्कृति का भेद इस कथन से और अधिक स्पष्ट हो जायगा यदि हम कहें कि एक व्यक्ति 'संस्कृति' की दृष्टि से उच्चकोटि का हो सकता है, 'सभ्यता' की दृष्टि से असभ्य हो सकता है; इसी तरह दूसरा व्यक्ति 'सभ्यता' की दृष्टि से ऊँचे दर्जे का कहा जा सकता है, परन्तु 'संस्कृति' की दृष्टि से अत्यन्त नीचे दर्जे का हो सकता है। महात्मा गांधी घुटने तक धोती पहनते थे, पाँवों में चप्पल, नंगा बदन जिन्हें चर्चिल नंगा फकीर कहता था—असभ्य व्यक्ति, परन्तु भौतिक सभ्यता से यदि वे वंचित थे, तो आध्यात्मिक दृष्टि से वे सत्य पर प्राण देनेवाले थे; एक कोट-बूट-पैंटधारी व्यक्ति जो गुंडों को साथ लेकर किसी बैंक को लूट रहा है उसमें भौतिक सभ्यता की दृष्टि से कोई कमी नहीं, परन्तु संस्कृति की दृष्टि से वह एक सभ्य लुटेरा ही कहा जायगा। 'सभ्यता' साधन है, 'संस्कृति' साध्य है, लक्ष्य है। संस्कृति सभ्यता को साधन बनाकर ऊँचे भी उठ सकती है, नीचे भी जा सकती है। हमारा तथा देश का हित संस्कृति की रक्षा करना है।

(घ) संस्कृति की रक्षा कैसे की जा सकती है—हमने देखा कि सभ्यता भौतिक है, संस्कृति आध्यात्मिक है। सभ्यता में भौतिक यंत्र आ जाते हैं, संस्कृति में आध्यात्मिकता आती है। मनुष्य अधिकतर भौतिकता में ही जीता है इसलिए उसकी रक्षा का तो प्रश्न ही नहीं उठता, भौतिकता की रक्षा तो अपने-आप होती है। असली प्रश्न आध्यात्मिकता की, संस्कृति की रक्षा करने का है। जैसा हम पहले कह आये हैं संस्कृति ऊँची भी हो सकती है, नीची भी हो सकती है। जब दो संस्कृतियाँ आपस में एक-दूसरे के सम्पर्क में आती हैं तब अनेक प्रकार की सामाजिक प्रक्रियाएँ प्रारम्भ हो जाती हैं जिनकी तरफ ध्यान देना आवश्यक है। जब दो संस्कृतियों का संघर्ष होता है तो उनमें दो तरह की प्रक्रियाएँ शुरू हो जाती हैं—एक मेल की, दूसरी बेमेल की। इस सबका मनोवैज्ञानिक आधार है।

हर व्यक्ति में भी ये दो प्रकार के मनोभाव हैं। या तो वह अपनेपन को कायम रखता हुआ दूसरे के साथ सख्य-भाव से, अर्थात् बराबरपन के भाव से, मेल से रहने लगता है, या अपने प्रबल अहंभाव के कारण दूसरे को दबा देता है, दूसरे के साथ वेमेलपन अथवा शत्रुता उत्पन्न कर दूसरे को नष्ट कर देता है। यही दोनों मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ समाज में (जहाँ भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का सामना होता है) काम करती हैं। जब दो या दो से अधिक संस्कृतियों का आपस में सम्पर्क होता है तब पहले तो दो प्रक्रियाएँ शुरू हो जाती हैं—या तो सहकारिता की प्रक्रिया (Associative process) या असहकारिता की प्रक्रिया (Dissociative process)। अगर इनमें सहकारिता की प्रक्रिया शुरू हो गई है तब भी दो बातें हो सकती हैं—या तो दोनों एकसाथ रहने को राजी हो जायें जैसे यूरोप में रोमन कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेण्ट रहते हैं, या कभी हिन्दुस्तान में हिन्दू तथा मुसलमान रहने लगे थे—इसे **'व्यवस्थापन'** (Accommodation) कहा जा सकता है, या इनमें से एक दूसरे में विलीन हो जाय, अपने को समाप्त कर दे, इसे **'सात्मीकरण'** (Assimilation) कहा जा सकता है। अनेक संस्कृतियों के पारस्परिक सम्पर्क में आने से दूसरी प्रक्रिया असहकारिता की प्रक्रिया है, एक-दूसरे से दूर रहने की प्रक्रिया है। अगर इनमें असहकारिता की प्रक्रिया शुरू हो गई तो तीन बातें हो सकती हैं—(क) या तो उनका एक-दूसरे के साथ वाद-विवाद चलता रहेगा—एक संस्कृति कहेगी मैं बड़ी, दूसरी कहेगी मैं बड़ी, जिसे 'प्रतिस्पर्धा' (Competition) कहा जा सकता है, (ख) या एक-दूसरे के साथ विरोध चलता रहेगा जिसे 'संघर्ष' (Contravention) कहा जा सकता है, या (ग) उनका पारस्परिक वैमनस्य चलता रहेगा जिसे 'विद्वेष' (Conflict) कहा जा सकता है।

किसी संस्कृति की रक्षा तभी हो सकती है जब वह दूसरों से प्रबल हो—प्रतिस्पर्धा, संघर्ष तथा विद्वेष की जगह दूसरी संस्कृति को अपने साथ सहयोग करने के लिए बाधित कर दे या इतनी बलवती हो कि दूसरी संस्कृति को अपने में हज़्म कर ले, उसे आत्मसात् कर उसे मिटा दे।

(ङ) भारत की संस्कृति सदा प्रबल रही है—भारत का सांस्कृतिक इतिहास देखने से स्पष्ट हो जाता है कि भारत की संस्कृति आदि-काल से संसार की अनेक संस्कृतियों के सम्पर्क में आयी है और प्रतिस्पर्धा, संघर्ष तथा विद्वेष की जगह या तो अन्य संस्कृतियों को आत्मसात् कर गई है या अन्य संस्कृतियाँ इसके सामने विलीन हो गई हैं।

भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के सम्पर्क में आने के इस इतिहास को तीन खण्डों में विभक्त किया जा सकता है। वे खण्ड हैं—ईसा से पूर्व का काल, मुगल-काल तथा अंग्रेजों का काल। इन तीनों कालों में भारत की संस्कृति का अन्य संस्कृतियों के साथ जो सम्पर्क रहा है, वह इस प्रकार का रहा है जिसमें भारत की संस्कृति

अधिकांश रूप में अन्य संस्कृतियों से प्रबल रही है, और इसलिए या तो ये अन्य संस्कृतियाँ इसमें विलीन हो गई हैं, या अगर इसके साथ कन्धा मिलाकर भी रहीं हैं तो भारतीय संस्कृति को प्रबल मानकर रही हैं। कम-से-कम ऐसा समय कभी नहीं आया जब भारतीय संस्कृति ने अपना अस्तित्व उनमें सर्वथा खो दिया हो, या स्वयं लुप्त हो गई हो। उदाहरणार्थ—

१. ईसा से पूर्व का काल

ईसा से चौथी शताब्दी पूर्व ग्रीक लोगों ने भारत को पराजित करने का प्रयत्न किया था। इन लोगों को भारतीय साहित्य में यवन कहा गया है। यवन का अर्थ है—म्लेच्छ, दुष्ट, पतित। ईसा से ३२६ वर्ष पूर्व सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया और उस समय पहले-पहल ग्रीक संस्कृति तथा भारतीय संस्कृति का सम्पर्क हुआ। कथानक प्रसिद्ध है कि जब पहले-पहल सिकन्दर भारत पर आक्रमण करने के लिए निकला तब अपने गुरु सुकरात के पास गया और पूछा कि वहाँ से आपके लिए क्या तोहफा लाऊँ? उस समय भी भारत की आध्यात्मिक-जगत् में ख्याति इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि सुकरात ने कहा कि वहाँ के किसी दार्शनिक विद्वान् को अपने साथ लेते आना। इसके बाद सैल्यूकस ने भारत पर आक्रमण किया और चन्द्रगुप्त से पराजित हो गया। इस पराजय में जो सन्धि हुई उसमें सैल्यूकस ने अपनी बेटी हेलन का चन्द्रगुप्त से विवाह कर दिया। भारत की संस्कृति इतनी उच्च कोटि की थी कि ग्रीक क्षत्रप ने प्रसन्नता से अपनी पुत्री का इस देश के राजा से विवाह कर दिया। इस विवाह से जो पुत्र हुआ उसका नाम बिन्दुसार था। बिन्दुसार में भारतीय तथा ग्रीक रुधिर था—ऐसा कई विद्वानों का मत है। यवन लोग जब आक्रान्ता बनकर भारत आये थे तब लौटते समय उनके अनेक सिपाही भारत में ही बस गये थे और यहाँ की संस्कृति में खप गये थे। कहने का अभिप्राय यह है कि यवन लोग भारत को जीतने आये थे, परन्तु कालान्तर में यहाँ की संस्कृति में विलीन हो गये। उन पर भारत ने छाप छोड़ी, उन्होंने भारत पर कोई छाप नहीं छोड़ी। इसके बाद सौ साल तक ग्रीक लोगों के कोई आक्रमण नहीं हुए। उसके बाद युथेडीज, युफ्राइटीज, डेमेक्लियस, मिनिएण्डर आदि के आक्रमण हुए जिनमें से डेमेक्लियस तो हिन्दू बन गया और मिनिएण्डर बौद्ध बन गया क्योंकि वे भारत की सांस्कृतिक विचारधारा से अत्यन्त प्रभावित हुए। इसके बाद उत्तर चीन की ओर से शकों के आक्रमण हुए जिन्होंने भारत में आकर बौद्ध-धर्म स्वीकार कर लिया। इन्हीं आक्रमणों के समय उत्तर-चीन की तरफ से यूशी तथा कुशाणों के आक्रमण हुए जिनमें से कुशाण राजा का नाम कनिष्क था जो बौद्ध बन गया और जिसके संरक्षण में बौद्ध-धर्म के महायान मार्ग का प्राबल्य हो गया। शकों की तरह चीन के उत्तर से हूणों ने भारत पर आक्रमण

किया, परन्तु ये सब लोग भारत में ही बस गये जिनमें से कुछ बौद्ध हो गये, कुछ वैष्णव हो गये, कुछ अन्य मतावलम्बी हो गये। कई ऐतिहासिक कहते हैं कि जाट तथा गूजर इन्हीं हूणों की सन्तान हैं जो भारतीय संस्कृति में रच-मिल गई हैं। ईसा से पूर्व की शताब्दियों में जिन जातियों ने भारत पर आक्रमण किया, या तो वे पराजित होकर पीछे को लौट गईं या यहाँ की संस्कृति से इतनी प्रभावित हुईं कि अपनी संस्कृति को, अपने रहन-सहन को, अपनी भाषा को बिल्कुल भूल गईं और भारतीय संस्कृति में इतनी रच-मिल गईं कि आज उन्हें पृथक् रूप से कोई जानता तक नहीं। उनका यहाँ की संस्कृति में पूर्ण विलय हो गया।

२. मुगल-काल

यवनों, शकों, हूणों आदि के बाद आठवीं शताब्दी के बाद से भारत पर इस्लामी देशों का आक्रमण हुआ। दसवीं सदी में महमूद ग़ज़नवी ने और बारहवीं सदी में मुहम्मद ग़ोरी ने भारत पर आक्रमण किया। ये आक्रान्ता लूट-मार के लिए आये थे इसलिए इनका भारत के साथ कोई सांस्कृतिक सम्पर्क नहीं हुआ। ये आये और गये। इनके बाद भारत पर आक्रमण और लूटमार के लिए अफगानिस्तान की तरफ से अफगान और तुर्क आये। तुर्कों में प्रथम बाबर आया, उसने शासन किया, उसका लड़का हुमायूँ था, उसका अकबर था। अकबर के विषय में कहा जा सकता है कि उसके समय में मुगल संस्कृति तथा भारतीय संस्कृति का सम्पर्क हुआ। जैसा संस्कृतियों के सम्पर्क के विषय में कहा जा चुका है, अगर उनमें असहकारिता हो तो दोनों में विद्वेष हो सकता है, टकराव हो सकता है; अगर सहकारिता हो तो उनमें व्यवस्थापन अथवा सात्मीकरण हो सकता है। अकबर के समय में भारतीय संस्कृति तथा मुगल संस्कृति के सम्पर्क में ये दोनों प्रक्रियाएँ हुईं। इनके विद्वेष की प्रक्रिया तो तब प्रकट होती है जब हम इतिहास में पढ़ते हैं कि जब १५६७ में अकबर की फौजें मेवाड़ की तरफ चलीं, और मेवाड़ के तत्कालीन राजा उदयसिंह इस समाचार को सुनकर मेवाड़ की रक्षा का काम जैमल और फत्ता के सुपुर्द कर स्वयं पहाड़ियों में जा छिपे, तब मुगल सेना ने चित्तौड़ को घेर लिया और इस प्रकार घिरे जाने पर वहाँ की स्त्रियों ने आत्म-रक्षा के लिए जौहर कर लिया। इतिहासकार श्री ईश्वरीप्रसाद 'ग्रेट लीडर्स ऑफ इंडिया' के पृ० ९४ में लिखते हैं कि इस समय अकबर चित्तौड़गढ़ के किले में प्रविष्ट हुआ और उसने कत्लेआम का आदेश दे दिया। कथानक प्रचलित है कि इस कत्लेआम में जो लोग मारे गये उनके यज्ञोपवीत का वजन साढ़े ७४ मन था। यह संख्या अब भी राजस्थान के बैंकर्स के पत्रों पर लिखी जाती है जिसका अभिप्राय यह है कि जो इस पत्र की पवित्रता को नष्ट करेगा उस पर इतने व्यक्तियों को मारने का पाप लगेगा। एक तरफ तो अकबर के समय में ही इन दो संस्कृतियों का इतना भयंकर

टकराव हुआ, दूसरी तरफ उसी अकबर ने अम्बेर के राजपूत घराने के राजा बिहारीमल की कन्या से विवाह किया। अकबर हिन्दू-धर्म के इतना निकट आ गया था कि उसका पुत्र सलीम (जहाँगीर) इसी हिन्दू स्त्री से उत्पन्न हुआ था। अकबर तो हिन्दू धर्म और संस्कृति में इतना ओत-प्रोत हो गया था कि जब उसकी माँ हमीदा बेगम का देहान्त हो गया तो वह सब काम-काज छोड़कर आगरा लौट आया और हिन्दू प्रथा के अनुसार उसने सिर मुँडवाया। धर्म की दृष्टि से अकबर हिन्दू-धर्म के अत्यन्त निकट पहुँच गया था। इस्लाम तथा हिन्दू-संस्कृति के मुकाबिले में वह हिन्दू-संस्कृति पर इतना मोहित हो गया कि वह परमेश्वर को व्यक्ति-विशेष के रूप में नहीं मानता था, सूर्य-चन्द्र-तारों को भगवान् की अभिव्यक्ति मानता था। उसका कहना था मनुष्य का ध्येय बुराई पर विजय पाना तथा भलाई करना है। अकबर के जीवनकाल में इस्लामी संस्कृति तथा भारतीय संस्कृति का जो सम्पर्क हुआ उसमें भारतीय संस्कृति ने ऊँचा स्थान प्राप्त किया। संस्कृतियों के एक-दूसरे के साथ सम्पर्क में आने का यह नियम है कि जो संस्कृति प्रबल होती है वह निर्बल पर हावी हो जाती है, राजनैतिक-दृष्टि से भले ही निर्बल संस्कृति के लोग प्रबल संस्कृति के लोगों से ज्यादा शक्तिशाली हों।

अकबर का एक हिन्दू स्त्री से लड़का सलीम हुआ जिसका पीछे नाम जहाँगीर पड़ा। जहाँगीर का लड़का शाहजहाँ हुआ, जिसकी अनेक सन्तानें हुईं जिनमें दो मुख्य समझनी चाहिएँ—औरंगजेब तथा दारा शिकोह। औरंगजेब तथा दारा मुगल तथा भारतीय संस्कृतियों के दो टक्कर के नमूने थे। औरंगजेब मुस्लिम-संस्कृति का कट्टर पुजारी था, इस्लाम के लिए कोई समझौता नहीं कर सकता था; दारा उससे उलटा था। दारा उपनिषदों पर लट्टू था। उसने काशी से कुछ पण्डितों को अपने यहाँ बुलाया और उनसे छः महीने तक उनकी व्याख्या सुनता रहा। सन् १६५६ में दारा ने उपनिषदों का फारसी में अनुवाद किया। दारा के इसी भाषान्तर को फ्रैंच विद्वान् एन्किटिल ड्यु पैरों ने पढ़ा। इसे पढ़कर उसे भारतीय शास्त्रों को पढ़ने की रुचि हुई और इस फारसी अनुवाद के आधार पर १८०१ ईसवी में उनका लैटिन में अनुवाद किया।

ईसा से पूर्व के काल तथा मुगल-काल में भारत पर बाहर से आक्रमण हुए। पूर्व के काल के आक्रमण सांस्कृतिक आक्रमण नहीं थे, लुटेरों के आक्रमण थे। उनकी कोई अपनी संस्कृति नहीं थी, इसलिए सांस्कृतिक टकराव का कोई प्रश्न नहीं था। वे यहाँ आये और यहाँ की संस्कृति में घुल-मिल गये। मुगल-काल में जो आक्रमण हुए वे राजनैतिक आक्रमण तो थे ही, साथ ही सांस्कृतिक आक्रमण भी थे। मुगल लोग भारत में बस ही नहीं गये, यहाँ के लोगों को भी जबर्दस्ती मुसलमान बनाने लगे; परन्तु अन्त तक स्थिति यह ही रही कि यहाँ के लोग

अपनी संस्कृति पर डटे रहे; इस्लाम के साथ भारतीय संस्कृति का, यहाँ की विचारधारा का टकराव होता रहा; दोनों साथ-साथ रहे परन्तु विद्वेष-भाव से रहे; शास्त्रार्थ होते रहे, सांस्कृतिक दंगे भी होते रहे, मुसलमान हिन्दुओं को मुसलमान बनाते रहे, हिन्दुओं ने मुसलमानों को हिन्दू बनाने के लिए शुद्धि का आन्दोलन छेड़ा, परन्तु इन दोनों संस्कृतियों में विद्वेष-भाव बढ़ता ही गया जिसके परिणामस्वरूप अन्त में १९४७ में देश का बँटवारा हो गया। हिन्दुस्तान तथा पाकिस्तान—इन दो हिस्सों में देश बँट गया। देश के टुकड़े क्यों हुए ? इसलिए हुए क्योंकि हिन्दू तथा मुस्लिम संस्कृतियों का आपसी विद्वेष तथा टकराव इतना जबर्दस्त था कि दोनों साथ-साथ नहीं रह सकते थे। असहिष्णुता की इस भावना को राजनैतिक स्वार्थों से बल मिला और दोनों संस्कृतियाँ घुलने-मिलने के स्थान में अलग-अलग रास्ते पर चल पड़ीं।

३. अंग्रेजों का काल

अंग्रेजों के काल से पहले तो भारतीय संस्कृति के साथ जिस किसी संस्कृति का सम्पर्क हुआ, यहाँ की संस्कृति के सामने या तो विलुप्त हो गई, या उनका आपसी संघर्ष चलता रहा, या भारतीय संस्कृति का उच्च स्थान रहा। अंग्रेज जब आये तब पाश्चात्य सभ्यता तथा पाश्चात्य संस्कृति को लेकर आये। सभ्यता के विषय में हम पहले ही लिख आये हैं कि इसका मूल भौतिकता है, आध्यात्मिक नहीं। सभ्यता सदा आगे-आगे चलती है, आगे से पीछे को नहीं लौटती। बैलगाड़ी के बाद मोटर आती है, मोटर के बाद बैलगाड़ी नहीं। अंग्रेज जब भारत में आये तो वे यांत्रिक सभ्यता को लेकर आये। इसके साथ जिस संस्कृति को लेकर आये वह भी भौतिकता-प्रधान थी। उनका रहन-सहन, चमक-दमक, वेष-भूषा—सब आकर्षक थे। लॉर्ड मैकाले को निश्चित किया गया कि वे इस देश की शिक्षा-व्यवस्था को ठीक ढंग से ढाल दें। लॉर्ड मैकाले ने १८३५ में अपनी रिपोर्ट तैयार कर दी। उसने कहा कि इस समय हमें अपने राज्य को कायम रखने के लिए ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता है जो रुधिर तथा रंग-रूप में हिन्दुस्तानी हों परन्तु रुचि, विचार-शैली, रीति-रिवाज और विचारों से अंग्रेज हों। वह शिक्षा-प्रणाली जारी कर दी गई जिसका परिणाम यह हुआ कि वह संस्कृति, जो अबतक सिर ऊँचा किये हुई थी, संसार के भीषण-से-भीषण आक्रमणों से भी नहीं झुकी थी, पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क में आने पर एक तरह से धराशायी होती प्रतीत होने लगी।

परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि पाश्चात्य संस्कृति का सामना होने पर भारतीय संस्कृति सर्वथा हिल गई। जिन पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय सांस्कृतिक साहित्य पढ़ा है वे इस पर लट्टू हो गये हैं। मैक्समूलर ने लिखा था

कि अगर संस्कृति का आदिकालीन स्रोत ढूँढना हो तो भारत की तरफ देखना होगा । जर्मन विद्वान् शोपनहार उपनिषदों के गुटके को अपने तकिये के नीचे रखकर सोते थे। उनका कथन था कि मृत्यु-काल में अगर उन्हें कहीं शान्ति मिलेगी तो उपनिषदों के पाठ में मिलेगी। आज भी यूरोप में भारतीय सन्त-महात्मा पूजे जाते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने जब अमरीका में पार्लियामेंट आफ रिलिजन्स को सम्बोधित करते हुए 'लेडीज़ एण्ड जण्टलमेन' की जगह 'सिस्टर्स एण्ड ब्रदर्स' कहा तो सारा हॉल हर्ष की तालियों से गूँज उठा। प्रत्येक युवा स्त्री को बहन कहना भारतीय संस्कृति की विशेषता है।

हमने देखा कि 'सभ्यता' तथा 'संस्कृति' में क्या भेद है। 'सभ्यता' भौतिक है, 'संस्कृति' आध्यात्मिक है; सभ्यता आगे-आगे विकसित होती जा रही है; संस्कृति पीछे भी जाती है, टिकी भी रह सकती है, दूसरी संस्कृति में लीन हो सकती है। सभ्यताओं का संघर्ष नहीं होता, संस्कृतियों का आदान-प्रदान तथा संघर्ष होता है; भारतीय संस्कृति कई संस्कृतियों के सम्पर्क में आयी है— कभी जंगलियों के सम्पर्क में, कभी मुगलों के सम्पर्क में, कभी अंग्रेज़ों के सम्पर्क में, परन्तु यह अन्य संस्कृतियों को प्रभावित करती रही है, किसी संस्कृति के सामने झुकी नहीं है। संसार के इतिहास में कई संस्कृतियाँ उत्पन्न हुईं, परन्तु आज उनका नामलेवा भी कोई नहीं। एक भारत की ही संस्कृति है जो आदि-काल से अनेक झंझावातों में से गुज़रती हुई आज तक जीवित है।

□

आत्मा की आवाज़

जे० कृष्णमूर्ति आज के युग के महान् विचारक माने जाते हैं। कोई समय था जब उन्हें थियोसोफिकल सोसाइटी के कर्ता-धर्ता श्रीमती एनीबीसेंट तथा लेडवीटर इस युग का भावी अवतार मानते थे। उनके नेतृत्व में 'स्टार ऑफ दी ईस्ट' नामक संस्था स्थापित की गई थी। उन्हें इंग्लैंड में ऑक्सफोर्ड में शिक्षा दी गई थी। एक दिन निश्चित किया गया था जब बनारस में उनके अवतार होने की घोषणा की जानी थी। हॉल खचाखच भरा हुआ था। देश के उच्च कोटि के अध्यात्म-विद्या में निष्णात देश-विदेश के विद्वान् इस समारोह में इकट्ठे हुए थे। भारत के प्रसिद्ध दार्शनिक डॉ० भगवानदास भी उस समारोह में उपस्थित थे। इस अवसर पर ठीक समय आने पर श्री कृष्णमूर्ति ने खड़े होकर अपने अवतार होने से इन्कार कर दिया, और अपने लिए स्थापित 'स्टार ऑफ दी ईस्ट' संस्था को भंग कर दिया। ऐसे उच्च कोटि के व्यक्ति हैं जे० कृष्णमूर्ति। इसमें सन्देह नहीं कि वे उच्च कोटि के विद्वान् हैं। यूरोप तथा भारत में जगह-जगह उनके व्याख्यान होते हैं और हर देश की चुनी हुई जनता उनके विचारों को सुनने के लिए एकत्रित हो जाती है।

श्री कृष्णमूर्ति के भाषणों का केन्द्रबिन्दु एक ही रहता है। वे कहते हैं कि हमारा सारा ज्ञान उधार लिया हुआ है, यथार्थ में यह ज्ञान नहीं है। यथार्थ-ज्ञान वह होता है जो दूसरों से लिया नहीं जाता, अपने भीतर से उभरता है। परन्तु देखने में यह आता है कि हमारा सारा ज्ञान बाहर से आता है। हममें से कोई मुसलमान, कोई ईसाई, कोई बौद्ध, कोई जैन है। हम हिन्दू क्यों हैं? हम हिन्दू इसलिए हैं क्योंकि हम हिन्दू माता-पिता के यहाँ पैदा हुए हैं। अगर हम किसी मुस्लिम के घर पैदा होते तो हम मुसलमान होते। यही अन्य सब धर्माव-लम्बियों का हाल है। लोग हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि इसलिए नहीं हैं क्योंकि हम इन धर्मों को सत्य तथा अन्य धर्मों को असत्य समझते हैं, हम जो-कुछ हैं इसलिए हैं क्योंकि हम उस घराने में पैदा हुए हैं, जिसमें ये धर्म माने जाते हैं। जैसे माँ-बाप के यहाँ पैदा होना हमारे विचारों का और हमारी संस्कृति का निर्माण करता है, वैसे परिस्थिति भी हमारा निर्माण करती है। अगर हम इंग्लैंड में पैदा होते तो कुछ और होते, अफ्रीका में हब्शियों में पैदा होते तो हम हब्शी

होते। श्री कृष्णमूर्ति कहते हैं कि हम गीता पढ़ते हैं तो उस ज्ञान को आत्मसात् करते हैं जो गीता में लिखा है, कुरान पढ़ते हैं तो कुरान की बात कहने लगते हैं। मांस-भोजी मांस-भोजी इसलिए है क्योंकि वह बचपन से मांस खाना सीख गया है, शाक-भोजी शाक-भोजी इसलिए है क्योंकि वह बचपन से मांस-भोजन से घृणा करना सीख गया है। हमारा सम्पूर्ण ज्ञान पूर्वाग्रहों से ग्रग्रस्त (Conditioned) है। हम वही सोचते हैं, उसी को ठीक समझते हैं जो हमें सिखाया गया है। हम शुद्ध सोचने में स्वतन्त्र नहीं हैं। हम अपने-आप में, अपने शुद्ध रूप में क्या हैं, और जिसे हम तथ्य समझ रहे हैं वह क्या है—इन दोनों बातों में भेद है। हम तथ्य को वैसा नहीं समझते जैसा उसका अपने-आप में शुद्ध रूप है, हम उसे गीता के रंग में, कुरान के रंग में, बाइबल के रंग में, हम जो-कुछ परिस्थितिवश बन चुके हैं उस रंग में देखते हैं। हमारे गुरु ने हमें जो समझा दिया उसी के रंग में हमारी समझ बन जाती है। गुरु ने हमारी समझ पर अपना रंग न चढ़ाया हो तो हमारा ज्ञान हमारे भीतर से उपजेगा। वही यथार्थ ज्ञान होगा। श्री कृष्णमूर्ति सब धर्मों के तथा धर्म-ग्रन्थों के खिलाफ बोलते हैं, पंडितों, पुरोहितों, पादरियों, मौलवियों के खिलाफ बोलते हैं। उनका कहना है कि हम अपनी बोली नहीं बोलते, इन धर्म-ग्रन्थों की तथा इन धर्म-गुरुओं की बोली बोलते हैं। हम एक तरह से इनसे बंधे हुए हैं, इनकी कैद में हैं। हमें इन बंधनों से मुक्त होना है, अपने भीतर से जो ज्ञान उदित हो उसे पाना है। धर्मों की लड़ाई क्यों होती है? व्यक्ति में एक-दूसरे के प्रति असहिष्णुता क्यों आती है? यह सब इसलिए नहीं है कि हम ही सच्चे हैं, दूसरे गलत हैं। हम अपने को सच्चा और दूसरे को गलत इसलिए मानते हैं और हमारी दूसरों से लड़ाई इसलिए होती है क्योंकि हम एक खास परिस्थिति में उत्पन्न हुए हैं, उसमें रहे हैं, एक खास प्रकार के विचारों में पले हैं, उन विचारों से 'ग्रस्त' (Conditioned) हैं, उनसे स्वतन्त्र होकर विचार नहीं कर सकते। अगर हम उन विचारों में पले होते जिनमें हमारा प्रतिद्वन्द्वी पला है, तब बात उलटी होती। उस अवस्था में जिस बात को हम सच समझ रहे हैं उसे हम झूठ समझते और जिसे झूठ समझ रहे हैं उसे सच समझते। सत्य पर हमारी परिस्थिति का पर्दा पड़ा हुआ है। इस पर्दे से मुक्त होकर ही सत्य का साक्षात्कार हो सकता है। इसलिए परिवार अथवा समाज के बन्धनों से हमें मुक्त होना है।

इन्हीं सब विचारों के वशीभूत होकर इन्होंने 'स्टार ऑफ दी ईस्ट' के संगठन को जिसके वे मुखिया थे भंग कर दिया। इस संगठन की करोड़ों की सम्पत्ति थी जो कृष्णमूर्ति को मिल रही थी; उन्होंने उस सबको लात मार दी और अवतार होकर करोड़ों अनुयायियों के नेता होने के स्थान में एक स्वतन्त्र विचारक बनकर जीवन बिताने लगे।

प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य परिवार, समाज तथा परिस्थिति द्वारा आरोपित विचारों से मुक्त हो सकता है ? बच्चा जब उत्पन्न होता है तब वह किसी प्रकार के भी संस्कारों से शून्य होता है। पिछले जन्म के संस्कार रहे हों या न रहे हों—इस बहस में हम नहीं पड़ना चाहते। गत-जन्म के संस्कार अगर रहे हों, तब भी इतने सूक्ष्म रूप में होते होंगे जिन पर इस जन्म के आरोपित संस्कार उन्हें इतना दबा देते हैं कि उनका प्रभाव नगण्य के समान समझना चाहिए। अधिकतर बालक का विकास तो इस जन्म के संस्कारों द्वारा होता है। ऐसे परीक्षण किये गए हैं जिनमें एक चीनी बालक को जन्म से ही अमरीकन परिवार में रख दिया गया, और एक अमरीकन बालक को जन्म से ही चीनी परिवार में रख दिया गया। बड़ा होकर चीनी बालक शारीरिक-रचना में तो चीनी ही रहा, परन्तु बोल-चाल, संस्कृति, धर्म, विचार आदि में अमरीकन हो गया। इसी प्रकार अकरीकन बालक शारीरिक रचना में बड़ा होकर अमरीकन ही रहा, परन्तु वेष-भूषा, बोल-चाल, संस्कृति, धर्म, विचार आदि में चीनी हो गया। इस प्रकार के दृष्टांतों के आधार पर अनेक शिक्षाविदों का निष्कर्ष है कि शिशु का मन जन्म के समय सर्वथा खाली होता है। जॉन लॉक (१६६२—१७७४) का कहना था कि जन्मते ही बच्चे का मन एक खाली पट्टी (Tabula rasa) के समान होता है। ज्यों-ज्यों बच्चा माता-पिता, भाई-बहन तथा बाहर के संसार के सम्पर्क में आता है त्यों-त्यों उस खाली पट्टी पर मानो लिखा जाने लगता है। समाज-शास्त्रियों का कहना है कि शिशु का जन्म के बाद समाजीकरण (Socialization) होता है। इसी प्रक्रिया से वह सीखता है। वह जो-कुछ है या होगा, समाज द्वारा बनता है या बनेगा। समाज के सम्पर्क में वह न आए तो वह कोरा-का-कोरा रह जायगा। दो मास की अवस्था में वह अपने व्यक्तित्व को दूसरों से पृथक् समझने लगता है। पुकारने पर वह उनकी तरफ देखने लगता है। चौथे-पाँचवें महीने में गोद-से-गोद में जाने लगता है, जिनको पहचानता है उनकी तरफ आता है, जिन्हें नहीं पहचानता उनसे हटता है। समाजीकरण से धीरे-धीरे उसमें विकास होना शुरू हो जाता है। जॉन लॉक का कथन है कि बच्चे को भाषा का ज्ञान तो समाज द्वारा ही होता है। जिन माता-पिता के यहाँ वह पैदा हुआ था, जिन लोगों के बीच वह रहता है, उन्हीं की भाषा को वह सीखता है। ज्यों-ज्यों वह संसार के सम्पर्क में आता है त्यों-त्यों वह 'शब्दों' तथा उनके अभिप्रेत 'प्रत्ययों' का संग्रह करता जाता है। इन शब्दों तथा इनसे अभिप्रेत प्रत्ययों—अर्थों—के पारस्परिक सम्बन्ध के जुड़ने से भाषा का बोध हो जाता है और इसी प्रकार उसका ज्ञान बढ़ता जाता है। शिक्षाविदों का कथन है कि ऐसे समय बच्चे के इर्द-गिर्द ऐसा सामाजिक वातावरण उत्पन्न कर देना चाहिए जिससे उसका विकास इच्छित दिशा की तरफ होता चला जाये।

जे० कृष्णमूर्ति का यह कहना कि हमारा सम्पूर्ण ज्ञान उधार लिया हुआ है, दूसरों से लिया हुआ है—कोई नई बात नहीं है। शिक्षा-शास्त्री इस बात को स्वीकार करते हैं। हमारा ज्ञान परिस्थिति से आग्रस्त (Conditioned) है, यह वात रशिया में जानवरों पर किये परीक्षणों से सिद्ध है। रशिया में पवलव (१८४६–१९३६) ने १९०५ में चूहों पर कुछ परीक्षण किये। चूहों ने जो-कुछ सीखा वह परिस्थिति से आग्रस्त (Conditioned) था। पवलव एक कुत्ते पर परीक्षण करते थे। वे कुत्ते के सामने जिस समय भोजन रखते थे, ठीक उस समय एक घंटी भी वजा देते थे। भोजन को देखते ही कुत्ते के मुख में सैलाइवा आने लगता था। जब इस प्रक्रिया को अनेक बार दोहराया जा चुका, तब भोजन लाने से पूर्व घंटी को बजते सुनकर और भोजन के लिए चहल-पहल को देखकर उसके मुँह में लार आने लगती थी। यहाँ तक कि भोजन लानेवाले के कदमों को सुनकर भी उसका मुँह लार से भीज जाता था। पवलव ने सोचा कि भोजन को देखकर तो मुँह में लार आ जाना स्वाभाविक है, परन्तु भोजन को बिना देखे, घंटी को सुनकर, भोजन लानेवाले कदमों की आहट पाकर लार क्यों आने लगती है? इस परीक्षण से वह इस परिणाम पर पहुँचा कि हमारे ज्ञान की प्रतिक्रिया सिर्फ वस्तु के सम्मुख उपस्थित होने पर ही निर्भर नहीं है, अपितु उस परिस्थिति के साथ अन्य जो भी बातें लगी हुई या बँधी हुई हैं उनके उपस्थित होने पर भी हमारी वही प्रतिक्रिया होती है जो वास्तविक घटना के उपस्थित होने पर होनी चाहिए। श्री कृष्णमूर्ति के शब्दों में हम जिस परिवार में उत्पन्न हुए हैं, जिन माता-पिता के घर हमने जन्म लिया है, जिस परिस्थिति में हम रहे हैं, उससे इतने बँधे हुए हैं, उससे इतने जकड़े हुए हैं कि उससे मुक्त नहीं हो सकते। हम वही सोचते, समझते और करते हैं, हमारा ज्ञान वहीं तक सीमित है जिस वातावरण में हम साँस लेते हैं। हम सत्य में नहीं जीते, हम परिस्थिति-जन्य वातावरण के शिकार हैं। हिन्दू मन्दिर में पूजा के लिए इसलिए नहीं जाते क्योंकि इस प्रकार पूजा करना ही अन्तिम सत्य है, मुसलमान मस्जिद में नमाज़ पढ़ने इसलिए नहीं जाता क्योंकि नमाज़ पढ़ना अन्तिम सत्य है, ईसाई गिर्जे में इसलिये नहीं जाता क्योंकि यही अन्तिम सत्य है—यह सब-कुछ इसलिए होता है क्योंकि हिन्दू हिन्दू घराने में उत्पन्न हुआ है, मुसलमान मुस्लिम घराने में उत्पन्न हुआ है, ईसाई ईसाई घराने में उत्पन्न हुआ है। अगर हिन्दू मुस्लिम घराने में और ईसाई हिन्दू घराने में उत्पन्न हो तो आज जो हिन्दू है वह मुसलमान होता, आज जो ईसाई है वह हिन्दू होता। श्री कृष्णमूर्ति का कथन है कि हम सब जिन मन्दिरों, मस्जिदों, गिर्जों में बँधे हुए हैं, जिन पुस्तकों—गीता, कुरान, बाइबल—से बँधे हुए हैं, उनसे मुक्त होने पर ही यथार्थ सत्य पाया जा सकता है, अन्यथा नहीं। इसी विचारधारा का वे प्रचार करते हैं और इसी कारण उन्होंने

अपने लिए बनाई 'स्टार ऑफ दी ईस्ट' को भंग कर दिया और सब प्रकार के आरोपित बन्धनों से मुक्त हो गए।

प्रश्न यह है कि क्या ज्ञान को समाजीकरण से मुक्त किया जा सकता है? श्री कृष्णमूर्ति कहते हैं कि हमारा सारा ज्ञान उधार लिया हुआ है। यह ठीक है, परन्तु क्या बिना उधार लिया हुआ ज्ञान हो सकता है? क्या ऐसा हो सकता है कि एक हिन्दू हिन्दू घराने में जन्म लेकर हिन्दुता के आरोपित या हिन्दुत्वग्रस्त आग्रहों (Conditions) से मुक्त हो सके? श्री कृष्णमूर्ति का तो यही कहना है कि यथार्थ-सत्य तो तभी प्रकट होगा जब उस पर पड़े समाज के पर्दे हट जायेंगे और भीतर का उजाला प्रकट होगा। सर्वसाधारण का ज्ञान तो वैसा ही है जैसा जॉन लॉक तथा पवलव ने कहा है।

इसमें एक बात ध्यान देने की है। उक्त दोनों विद्वानों के कथन में दो बातें आती हैं। पहली बात तो यह कि हमारा भाषा का ज्ञान, चलने-फिरने का ज्ञान, वेष-भूषा, रहने-सहने का ज्ञान तो सिखाने से ही आता है। इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। दूसरी बात यह कि हमारा विचारों का ज्ञान, धर्म का ज्ञान, सत्य का ज्ञान सिर्फ माता-पिता से, समाज से आता है या गीता, कुरान, बाइबल या पंडितों, पुरोहितों, मौलवियों, पादरियों से आता है—यह विचारणीय है। इनसे आता है—यह तो हम सब जानते हैं, परन्तु श्री कृष्णमूर्ति का कथन है कि यह सब ज्ञान सत्य नहीं है। हमारा यह ज्ञान उधार लिया हुआ है, संस्था-संगठनों से लिया हुआ ज्ञान है, उनके सही-गलत विचारों को हमने अपनाया हुआ है, उनसे मुक्त होकर हमें अपने स्वतन्त्र विचार को पाना होगा। समाज से आरोपित विचारों से मुक्त होकर सत्य को कैसे पाया जाए? इस सम्बन्ध में मनुस्मृति का एक श्लोक बड़े सुविचार से कहा गया है। वह श्लोक है—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतत् चतुर्विधं प्राहुः साक्षात् धर्मस्य लक्षणम्।। (१।२१२)

इस श्लोक का अर्थ यह है कि सत्य क्या है, असत्य क्या है—इसके परखने की चार कसौटियाँ हैं। पहली कसौटी है—'श्रुति', अर्थात् धर्म-ग्रन्थ। धर्म-ग्रन्थों में जो लिखा है वह सत्य है। इस बात को किसी भी धर्म को माननेवाले लोग मानते हैं। हिन्दू उसे मानते हैं जो वेद, उपनिषद्, पुराण, गीता में लिखा है, परन्तु इन ग्रन्थों में जो लिखा है उसे मान लेना तो सत्य को उधार-रूप में लेना है। हिन्दू के धर्म-ग्रन्थ में कुछ और लिखा है, मुसलमान के कुरान में कुछ और, ईसाई की बाइबल में कुछ और। सत्य तो सदा एक रहेगा; जहाँ विविधता है वहाँ सत्य का अभाव है। यह ठीक है कि कई लोग धर्म-ग्रन्थों को प्रमाण मानते हैं, परन्तु श्री कृष्णमूर्ति इसे उधारी-धर्म मानते हैं, यथार्थ-धर्म नहीं। बात भी ठीक है; यदि एक ही विषय में सब धर्मों के अलग-अलग विचार तथा निर्णय हों, तो सब तो

ठीक नहीं हो सकते। सत्य को जानने की दूसरी कसौटी है 'स्मृति'। स्मृति का अर्थ है जो सदा से चला आ रहा है। सत्य की यह कसौटी भी कच्ची है। गलत बात भी सदा से चली आ सकती है। सत्य को जानने की तीसरी कसौटी है—'सदाचार'। सदाचार का अर्थ है—श्रेष्ठ पुरुषों का आचार-व्यवहार। श्री कृष्णमूर्ति का कहना है कि बड़े लोग जैसा करते आए हैं वैसा करना तो उनकी नकल हुई। नकल असल का स्थान नहीं ले सकती। यह भी उधारी बात हुई। यह कहना कि फलाँ ने ऐसा किया था इसलिए मैंने ऐसा किया, कोई युक्ति नहीं है। अच्छे-अच्छे आदमी भी गलती कर जाते हैं। सत्य को जानने की चौथी बात जो इस श्लोक में कही गई है वह लाजवाब है। चौथी कसौटी है—**'स्वस्य च प्रियं आत्मनः'**—अर्थात् सत्य वह है जिसे अपनी आत्मा कहे कि यह सत्य है, यह मुझे प्रिय है, मेरी अपनी रुचि के अनुकूल है।

इस वाक्य को हम लाजवाब क्यों कहते हैं, इसका एक कारण है। श्रुति, स्मृति तथा सदाचार के विषय में तो कहा जा सकता है कि इन तीनों का उद्भव-स्रोत व्यक्ति स्वयं नहीं, दूसरों की कही तथा आचरित बात पर इनका आधार है, परन्तु **'स्वस्य च प्रियम्'** का दूसरों पर आधार नहीं है। जो बात अपने को ठीक लगे, वही सत्य है; दूसरे कहते हैं—इसलिए हम उस बात को मान लें, यह बात उधारू हो जाती है, आग्रस्त (Conditioned) हो जाती है। परन्तु प्रश्न हो सकता है कि अपने को ऐसी बात भी प्रिय हो सकती है जो बुरी हो। अपने को प्रिय लगनेवाली बात की भी शास्त्रों में व्याख्या है। अपने को प्रिय लगनेवाली बात की व्याख्या है : **'आत्मनः विपरीतानि परेषां न समाचरेत्'** जो तुम नहीं चाहते कि दूसरे तुमसे करें वह दूसरों से न करो—यह व्याख्या है, अपने को प्रिय लगने की। इसी भाव को ईसा ने कहा था—'Do unto others as you would to be done by'—जो तुम चाहते हो कि जैसा व्यवहार दूसरे तुमसे करें वैसा व्यवहार तुम दूसरों से करो—अर्थात् दूसरों ने आत्म-विपरीत व्यवहार मत करो। तभी किसी को बुरा काम करते हुए हम कहा करते हैं कि अगर तुम्हारे साथ कोई ऐसा करे तो तुम क्या कहोगे? सत्य को जानने की कसौटी यह है कि यह सोचो कि जो व्यवहार तुम दूसरे के साथ कर रहे हो अगर कोई वैसा व्यवहार तुम्हारे साथ करे तो तुम्हारी क्या प्रतिक्रिया होगी? इस कसौटी पर रखकर सत्य-असत्य का निर्णय किया जा सकता है। इसमें न हमें वेद का उद्धरण देने की आवश्यकता होगी, न गीता की, न उपनिषद् की, न कुरान की, न बाइबल की। यह कसौटी हमारे हृदय में भगवान् ने हमारे पैदा होते ही हमारे भीतर रख दी है। इस कसौटी की सत्यता को निम्न उदाहरणों से पुष्ट किया जा सकता है—

(क) एक आदमी साइकल पर चढ़ा जा रहा था। दूसरी तरफ़ से एक आदमी

पैदल आ रहा था। दोनों की टक्कर हो गई। साइकलवाला पैदल आ रहे व्यक्ति को पकड़कर गालियाँ देने लगा, साथ ही पीटने लगा। कहता जाता था—आँखें फूट गई हैं, देखकर नहीं चल सकते ? दोनों में हाथापाई होने लगी, गाली-गलौज होने लगी। मैंने देखा और दोनों के बीच पड़कर साइकलवाले से कहा—कल्पना करो, जिसे तुम पीटने लगे वह साइकल पर होता और तुम पैदल आ रहे होते, गफ़लत से टक्कर हो जाती, तुम्हें वह गालियाँ बकने लगता, पीटने लगता, तो तुम क्या करते ? उसने उत्तर दिया—क्या करता, या माफी माँग लेता या कह देता गलती हो गई। मैंने कहा, जो तुम उस समय करते वह अब क्यों नहीं कर सकते ? या तुम कह दो, गलती हो गई या वह कह दे गलती हो गई; मार-पीट से मामला घटने के स्थान में बढ़ेगा। मैंने उन दोनों को यह मन्त्र याद रखने को कहा कि किसी भी स्थिति में दूसरे के साथ समस्या उत्पन्न हो जाय, तो एकदम भड़क जाने के स्थान में अपने को दूसरे की स्थिति में रखकर सोचे, समस्या अपने-आप हल हो जायगी। उत्तर न श्रुति में लिखा है, न स्मृति में लिखा है, न दूसरों के व्यवहार में लिखा है; हर समस्या का समाधान अपने भीतर से उभरता है, इसी को **'स्वस्य च प्रियं आत्मनः'** कहा है।

(ख) कोई चोर नहीं चाहता कि उसके घर कोई चोरी करे, कोई दुराचारी नहीं चाहता कि उसकी बहू-बेटी के साथ कोई छेड़खानी करे, कोई धोखा देने-वाला नहीं चाहता कि उसे कोई धोखा दे। अपने भीतर से ज्ञान उभरने का यही अर्थ है कि जो तुम्हारी अन्तरात्मा कहती है कि अगर कोई दूसरा तुम्हारे साथ वैसा करेगा जैसा दुर्व्यवहार तुम उसके साथ कर रहे हो, तो वह अनुचित होगा—तो इसी को सत्य की कसौटी समझो। इस कसौटी को सीखना नहीं पड़ता, यह अपने-आप सबके भीतर मौजूद है। इस कसौटी को जो पकड़ लेता है वह सत्य को पा जाता है।

'स्वस्य च प्रियमात्मनः' का अर्थ कॉनशियेन्स (Conscience) नहीं है। कॉनशियेन्स भी समाज से बनती है, इसे भी उधारी तत्त्व समझना चाहिए। कई लोग कहते हैं कि उनकी कॉनशियेन्स ही चोरी करने की है, बदला लेने की है। चोरों, डाकुओं, लुटेरों, हत्यारों की भी कॉनशियेन्स होती है। उन्हें चोरी करने, डाका डालने, लूटने में कोई लज्जा, शंका, भय नहीं होता। कहते हैं कॉनशियेन्स की आवाज में लज्जा, शंका, भय होता है। परन्तु कई पके हुए दुराचारियों में न लज्जा होती है, न बुरा काम करने में शंका होती है, न उनमें भय होता है। कॉनशियेन्स का लज्जा, शंका, भय भी उधार लिये हुए मनोभाव हैं। समाज के मान-दंड के अनुसार जो बुरा है, वह बुरा, और उसके करने में लज्जा, शंका, भय होता है। परन्तु समाज के मानदंड बदलते रहते हैं। व्यक्ति की कॉनशियेन्स भी समाज की विचारधारा का परिणाम है। मनुष्य में केवल एक तत्त्व है जो

समाज से नहीं बनता, जो उसका अपना है, बिल्कुल अपना। वह तत्त्व है—अपनापन। जिस बात को चाहते हो कि दूसरे तुम्हारे साथ न करें, वह दूसरों के साथ न करो—यही सत्य की अन्तिम कसौटी है जिसे मनु ने 'स्वस्य च प्रियं आत्मनः'—इन शब्दों में कहा है, और जिसकी व्याख्या 'आत्मनः विपरीतानि परेषां न समाचरेत्'—इस वाक्य में, और बाइबल में 'Do unto others as you would to be done by'—इस वाक्य में की है।

□

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः

आज का युग भौतिकवादी युग है। भौतिकवाद का खरा अर्थ है—पैसे का युग। पैसा हो तो जीवन सार्थक माना जाता है, पैसा न हो तो जीवन निरर्थक है। मैं दैनिक पत्रों में विवाह के इश्तिहार पढ़ता हूँ। लड़कीवाले इश्तहार ढूँढते हैं कि लड़का पैसेवाला है या नहीं, बिज़िनेस करता हो, मोटर हो, मकान हो, भौतिक सुख-सुविधा हो, खूब कमाई हो चाहे काले धन की कमाई हो। इश्तिहार में यह कोई नहीं लिखता कि लड़का स्वस्थ हो, शराबी न हो, सच्चरित्रवान् हो। यह समझा जाता है कि मोटर होगी, मकान होगा, कमाई होगी, बिज़िनेस होगा, फैक्टरी-कारखाना होगा, तो इस बात की क्या चिन्ता है कि स्वस्थ है या नहीं, सच्चरित्र है या नहीं, शराबी है या नहीं ? इस बात को भुला दिया जाता है कि जहाँ जरूरत से ज्यादा पैसा होगा वहीं अनेक इल्लतें घर में सेंध लगाने को तैयार-पर-तैयार बैठी होती हैं। लड़के के पास पैसा है, उसे पतली कमर की गोरी-चिट्टी, कॉनवेंट में पढ़ी हुई, मातृभाषा की जगह अंग्रेजी में गिट-पिट करनेवाली, कुत्ते की शौकीन बीवी चाहिए जो उसके साथ क्लबों में जा सके, दोस्तों के साथ शराब पी सके, रात के दो बजे तक क्लब-हॉल में डांस कर सके। इस सब में पैसे की जरूरत होती है, परन्तु पैसा ? पैसा उसके लिए क्या है ? वह हजारों रुपये दोस्तों के साथ जुए में या रेस में गँवा सकता है। ये सब इल्लतें पैसे से आ जाती हैं। पैसा जैसे आता है वैसे चला भी जाता है, परन्तु पैसे को जोड़नेवाला यह नहीं देखता कि आगे क्या आनेवाला है। जब पैसा चला जाता है तब दो तरह की बीमारियाँ पीछे छोड़ जाता है। पहली बीमारी है—पैसा नहीं रहा, अब क्या करें ? चोरी करें, डाका डालें, हत्या करें ? पैसे ने जो आदतें डाल दी थीं वे छूटती नहीं; जब पैसा इल्लतों में चला गया और अपने पीछे आदतें छोड़ गया, तब सिर पर जो मुसीबत आ खड़ी होती है उसे पैसे को खो देनेवाला ही जानता है। पहली बीमारी भौतिक है—शराब की लत पड़ गई, जुए में पैसा चला गया; दूसरी बीमारी मानसिक है। पैसे के लिए चोरी की, डाका डाला, अब पकड़े जाने का डर सताने लगा, नींद आना बन्द हो गया, चिन्ता-फिक्र ने घेर लिया। यह जरूरी नहीं कि सभी पैसेवालों की यह हालत होती है, परन्तु जैसे-तैसे पैसा कमाने पर ऐसी हालत आ जाना सम्भव है। सम्भव ही नहीं, पचास फीसदी का यही हाल

होता है। यही कारण है कि सर्व-साधारण में प्रचलित है कि कुछ अपवादों को छोड़कर तीन पुश्तों तक ही लक्ष्मी अपना वास रखती है। पहली पुश्त कमाती है, दूसरी पुश्त ऐशो-आराम तथा इल्लतों में खाती है, तीसरी पुश्त पुरखों का कमाया वेहूदगियों में गँवा देती है।

पं० गुरुदत्त विद्यार्थी आर्यसमाज के एक यशस्वी विद्वान् थे। उन्होंने अंग्रेजी में एक निवन्ध लिखा था जिसका शीर्षक था—Pecuniomania—अर्थात् पैसे का पागलपन। वे लिखते हैं—वैद्य और डाक्टर लोग स्वास्थ्य सम्वन्धी नियमों के जनता में प्रचार के स्थान में सादा-से-सादा रोगों और ओषधियों को विदेशी नामों के वेश में छिपाते हैं और नुस्खों के गुप्त संकेत नियत करके रोगियों को लूटने में लगे हैं। वैद्यों का असंख्य दल इस समय हमारे देश में मौजूद है जो रोगों को जड़ से उखाड़ने और तन्दुरुस्ती की सुन्दर कली को खिला देने के स्थान में दिन-रात यही प्रार्थना करता है कि धनवान् लोग वहुतायत से रोग-ग्रस्त हुआ करें ताकि वे अपनी चाँदी वनाते रहें। वकील लोग शान्तिमय मित्रता के भाव उत्पन्न करने और मेल-मिलाप वढ़ाने के स्थान में झगड़े-रगड़े को वढ़ाते हैं ताकि मुकद्दमेवाजी वरसों और कभी-कभी पुश्त-दर-पुश्त चलती रहे और उनका रुपया कमाने का धंधा पनपता रहे। व्यापारी लोग जनता की आवश्यकताओं को पूरा करने के स्थान में अपनी निजी आवश्यकताओं को पूरा करने में जुटे हैं, माल कम तोलते हैं दाम ज्यादा लेते हैं, अनभिज्ञ ग्राहकों को मिलावटी माल देते हैं। यहाँ तक कि उपदेशक लोग जिनका काम सीधी-सादी सचाई और आचार की दिशा की तरफ जनता को ले-जाना होता है, पैसा कमाने के लिए झूठ और दंभ में लिपटे पड़े हैं; नाम धर्म का लेते हैं, काम अधर्म का करते हैं।

पैसे के प्रति इस पागलपन का परिणाम यह हो गया है शराव-अफीम वेचने-वाला एक साहूकार मूंछें मरोड़ता हुआ अपने घृणित व्यवसाय के द्वारा धन कमाने के कारण समाज में फूलता-फलता है और सब उसकी जी-हुजूरी में लगे रहते हैं। सहस्रों निर्धन, निरपराध व्यक्ति उन अपराधों के लिए दोषी माने जाते हैं जिन्हें उन्होंने कभी किया ही नहीं, और एक धनवान् अपराधी वकीलों के हथकंडों के कारण साफ वच निकलता है। हम चिल्ला-चिल्लाकर कहते हैं कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, व्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह ही शुद्ध तथा दोष-रहित जीवन के आधारस्तम्भ हैं, परन्तु दौलत के लिए अन्धाधुन्ध दौड़-धूप ही इन्हीं सद्गुणों की जड़ें खोखली कर रही है।

पं० गुरुदत्त जी का कहना है कि धन के प्रति इस प्रकार का मोह एक प्रकार का रोग है; साधारण रोग नहीं, संक्रामक रोग है। रोग भी ऐसा जैसा हैजे का रोग होता है, संक्रामक ऐसा जैसा तपेदिक का रोग होता है। यह हैजे जैसा रोग इसलिए है क्योंकि वढ़ते-वढ़ते यह सम्पूर्ण जीवनी-शक्ति का ह्रास कर देता है।

दिन-रात व्यक्ति पैसा कमाने में लगा रहता है। न पत्नी की परवाह, न बाल-बच्चों की परवाह, न अपने स्वास्थ्य की परवाह। आदमी यह भूल जाता है कि पैसा कमाना अपने तथा अपने आश्रितों के भरण-पोषण के लिए और अपनी तथा आश्रितों की सुरक्षा के लिए है। इसका चस्का ऐसा लग जाता है कि मनुष्य पैसे के लिए पैसा कमाने लगता है। और कोई उद्देश्य सामने नहीं रहता, सिर्फ पैसा कमाना ही उद्देश्य रह जाता है। दिन को आराम नहीं, रात को आराम नहीं। पैसा कमाने में मनुष्य ऐसा डूब जाता है कि खाने-पीने की भी सुध नहीं रहती। वह होश में तब आता है जब पैसा कमाते-कमाते कमर टूट जाती है, स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है, भूख लगनी बन्द हो जाती है। लोगों से उधार लेकर अगर धन्धा किया था तो व्याज सिर पर चढ़ जाता है। ऐसे लोग मैंने देखे हैं जिनको हम लखपति समझते थे, उन पर बैंकों का उधार था, मित्रों का उधार था, भीतर से वे खोखले थे। इस प्रकार के पैसे के शिकार बीमारों को पं० गुरुदत्त ने पैसे के हैजे रोगी कहा है। जब यह रोग पुत्र-पौत्रों तक चल पड़ता है तब यह छूत का रोग हो जाता है, तपेदिक का रोग। कोई भी रोग जब तपेदिक का रूप धारण कर लेता है तब समझो अन्त आ गया। अब इससे उबरना मुश्किल हो जाता है, यह जान लेकर ही छोड़ता है। पं० गुरुदत्त जी ने लिखा है कि इस रोग के निम्न लक्षण हैं—

इसका पहला लक्षण यह है कि पैसे के रोगी की लालसा दिनोंदिन बढ़ती जाती है। एक लाख है तो दो लाख क्यों नहीं होना चाहिए, दो लाख है तो तीन लाख क्यों नहीं होना चाहिए, तीन लाख है तो चार लाख क्यों नहीं होना चाहिए। इस लालसा का कहीं अन्त नहीं। वर्तमान भौतिकवादी युग में पैसे के लिए जो उपद्रव हो रहे हैं, कहीं बैंक लूटे जा रहे हैं, कहीं चोरियाँ हो रही हैं, राह-चलती स्त्रियों के गलों की सोने की जंजीरें झपटी जा रही हैं—यह सब पैसे की भूख के लक्षण हैं। कई डकैतियाँ तो ऐसे लोग कर रहे हैं जिनके पकड़े जाने पर पता चलता है कि उन्हें पैसे की कोई जरूरत नहीं थी। घर के सम्पन्न, मालदार, परन्तु फिर भी सन्तोष नहीं, अधिक पैसा चाहिए, जिस किसी तरह हो पैसा चाहिए। इस प्रकार की प्रवृत्ति का दिनोंदिन उग्र होते जाना रोग नहीं तो क्या है?

पैसे की होड़ का दूसरा लक्षण है अधिक खाने, अधिक पहनने, अधिक जोड़ने, आलस्य, विलासिता, अनिद्रा, चिन्ता, अनैतिकता, असन्तोष और भौतिक सुख के लिए सीमातीत लालसा। जब पैसा सीमा का उल्लंघन कर जाता है तब वह दुनिया की सब इल्लतों को निमन्त्रण देता है। रुधिर-पसीने, परिश्रम से कमाया हुआ पैसा मनुष्य को पथ-भ्रष्ट नहीं होने देता, मनुष्य उसका अपव्यय दुष्कर्मों में नहीं करता; कर भी कैसे सकता है! परन्तु सहज-प्राप्त धन मानव को कुपथगामी

होने से कैसे रोक सकता है ! अपवादों को छोड़ दें, तो प्रायः देखा जाता है कि जितने दुष्कर्म होते हैं वे पैसा पाने के लिए होते हैं या पैसेवालों द्वारा किये जाते हैं। इस प्रकार की प्रवृत्ति का बन जाना भी रोग का ही लक्षण है।

पैसे का इतना मोह क्यों बढ़ता जा रहा है—इसका एक मुख्य कारण है। वह कारण क्या है ? वह कारण तब समझ में आता है जब हम यह जान लें कि पैसे की उत्पत्ति कैसे हुई ? कोई समय था जब पैसे का अस्तित्व नहीं था। दुनिया का क़ारोबार पैसे के बिना चलता था। लोग खेती करते थे। कोई गेहूँ की खेती करता, कोई कपास बोता, कोई चावल उगाता। जिसको जिस चीज की जरूरत होती उसका तोल से अदला-बदला करता था। इसे अर्थशास्त्र की परिभाषा में बार्टर-सिस्टम कहते हैं। उस समय पैसा नहीं था, जिन्सों की अदला-बदली होती थी। पैसा नहीं था तो न रिश्वत थी, न घूसखोरी थी, न बेईमानी थी, न दगा-फरेब था। समय आया जब मानव को अनुभव होने लगा कि सिर्फ अदला-बदली या बार्टर-सिस्टम से काम नहीं चलेगा। गेहूँ-कपास-चावल को मनुष्य कितना और कब तक सम्हालकर रख सकता है ? कभी आग लग गई, कभी कीड़ा लग गया। खेती की उपज को एक जगह सम्हालकर रखने तथा मनों ढेर को एक जगह से दूसरी जगह ले-जाने में अनेक दिक्कतों का सामना करना पड़ता था। ऐसी हालत में बुद्धिमानों ने सोचा कि विनिमय का कोई ऐसा माध्यम होना चाहिए जिसे मनुष्य देर तक सम्हालकर रख सके, दो वर्ष नहीं बीसियों वर्ष वैसे-का-वैसा बना रहे, जिसे जेब में रखकर देश-विदेश मनुष्य आ-जा सके, और जब चाहे जिस वस्तु में उसे बदल सके। इस समस्या को हल करने के लिए मनुष्य ने सिक्के का आविष्कार किया, उसे हर वस्तु का माध्यम बना लिया। उसे अंटी में दबाकर रखा जा सकता था, जिस किसी जिन्स में बदला जा सकता था, जहाँ चाहे मनुष्य विनिमयशीलता के आधार पर निःशंक जा सकता था, क्योंकि पैसे में हर वस्तु के क्रय की शक्ति उत्पन्न हो गई। जिस दिन मनुष्य ने पैसे का आविष्कार किया उस दिन उसने समाज की एक विकट समस्या का हल ढूंढ लिया। पैसे में एक ताकत पैदा हो गई जिसके कारण मनुष्य अनेक उलझनों से निकल गया। यह सिलसिला और आगे बढ़ा, सिक्कों के बोझ को हल्का करने के लिए नोट बने, बैंक बने। इस सबका परिणाम यह हुआ कि पैसे की क्रय-शक्ति बढ़ती चली गई। काम इतना आसान हो गया कि पैसे से सब-कुछ खरीदा जा सकने लगा, यहाँ तक कि पैसे से इन्सान भी खरीदा जाने लगा।

हमारी सामाजिक व्यवस्था में जितने विकार उत्पन्न हो गये हैं उन सबका कारण पैसे में क्रय-शक्ति का केन्द्रित हो जाना है। गरीब लोगों के वोट खरीदकर सरकारें बनती हैं जो अपने को जनतन्त्र का नाम देती हैं। जिन देशों के पास अथाह पैसा होता है वे गरीब देशों को ऋण देकर उन्हें अपनी नीतियों का पिट्ठू

बना लेते हैं। पैसे का उत्पादन घर-गृहस्थी में, समाज में, देशों में, इतनी विद्वेष-भावना को जन्म दे रहा है कि कहना पड़ेगा कि जहाँ पैसे के आविष्कार ने मानव की एक बड़ी समस्या को हल किया है, वहाँ साथ ही एक ऐसी बड़ी समस्या को जन्म दिया है जिसके सामने हल हुई समस्या फीकी पड़ गई है। पैसे की क्रय-शक्ति जो केन्द्रित हो गई! यह भस्मासुर की तरह दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। उसी के कारण काला धन, चोरबाजारी, लूट-खसोट, डाकेजनी, रिश्वत, हत्याएँ बढ़ती जा रही हैं। सब पैसे के दीवाने हो रहे हैं। हर व्यक्ति का जिस किसी तरह हो पैसा पैदा करना और उसे जोड़ना लक्ष्य हो गया है। पैसे के लिए चारों दिशाओं में हा-हा-कार मचा हुआ है। हड़तालें होती हैं, धोखे होते हैं, मार-पीट होती है, सिर्फ पैसे के लिए।

प्रश्न यह है कि क्या इस समस्या का कोई हल है? इस समस्या का पहला हल तो यह है कि हमारा समाज जीवन के यथार्थ मूल्यों को समझे। इस समय हमारा समाज भौतिक समृद्धि को ही जीवन का यथार्थ मूल्य समझता है। उक्ति प्रसिद्ध है—**यस्यार्ऽर्थस्तस्य मित्राणि यस्यार्थस्तस्य बान्धवाः, यस्यार्थः स पुमान् लोके यस्यार्थः स हि पण्डितः** (हितोपदेश १२०)—जिसके पास पैसा है उसी के सब मित्र बनते हैं, जिसके पास पैसा है उसी को सब बन्धु-बांधव प्यार करते हैं, जिसके पास पैसा है उसी को आदमी समझा जाता है, जिसके पास पैसा नहीं वह खाक छानता है। यही भौतिकवादी विचारधारा है जो पैसे में सर्वशक्तिमत्ता केन्द्रित हो जाने के कारण उपजी है। जब तक समाज का दृष्टिकोण न बदल जाय, इन भौतिकवादी हीन-मूल्यों के स्थान में आध्यात्मिक उच्च मूल्य प्रतिष्ठित नहीं हो पाते, तब तक समाज से भ्रष्टाचार दूर नहीं हो सकता। हम सब एक-स्वर से भ्रष्टाचार दूर करने की बात करते हैं, परन्तु हमारे पग भ्रष्टाचार के कीचड़ की दलदल में धँसे हुए हैं। 'भ्रष्टाचार दूर होना चाहिए'—यह हम गला फाड़-फाड़-कर चिल्लाते हैं, केवल चिल्लाते-भर हैं, परन्तु चिल्लानेवाले ही जब भ्रष्टाचारी हों तब यह रोग दूर कैसे होगा? भ्रष्टाचार की जड़ पैसा है। अच्छा-बुरा जो भी काम कराना हो उसके लिए पैसा चाहिए। अच्छा, नैतिक तथा न्यायसंगत काम भी पैसे के बगैर नहीं हो पाता, फिर पैसे के लिए दौड़-धूप क्यों न मचे? पैसे की शक्ति का अवमूल्यन तभी हो सकता है जब समाज नैतिक दृष्टि से नहीं तो कम-से-कम यथार्थता की दृष्टि से इस बात को हृदयंगम कर ले कि पैसे का अन्त क्या हो सकता है। पैसे के विषय में उपनिषद् ने कहा है—**"त्रयो गतयः वित्तस्य भोगः दानम् क्षयः"**—वित्त अर्थात् पैसे की तीन गतियाँ होती हैं—या तो उसे भोग लिया जाय, भोगने से बचे तो उसे दान में दे दिया जाय, ये दोनों न किये जायें तो वह नष्ट हो जाता है। सभी लोग आवश्यकता से ज़्यादा पैसा जमा करने में लगे रहते हैं। उन्हीं के लिए यह अध्याय लिखा जा रहा है। जिनके पास पेट भरने को

भी पैसा नहीं उनकी बात हम नहीं कर रहे। प्रश्न उनका है जिनके पास असीम पैसा है, फिर भी उनका पेट नहीं भरता। उन्हें सोचना होगा कि जो कमाई वे जोड़ते जाते हैं उसका अन्त क्या होगा ? उपनिषत्कार कहते हैं कि कमाया हुआ धन तथा जोड़ा हुआ पैसा या तो भोग लो, या ज्यादा है तो दान में दे दो, और अगर न भोगोगे, न दान में दोगे तो वह नष्ट हो जायगा। यह बात कि वह बाल-बच्चों के काम आवेगा तभी कही जा सकती है अगर बाल-बच्चों को हमने नाकारा और अपाहिज बना दिया हो। नाकारों और अपाहिजों के हाथ वह पड़ेगा तो फिर नष्ट ही होगा, पैसा क्या नष्ट होगा तुम्हारे वंशज ही नष्ट हो जायेंगे क्योंकि जो पैसा मेहनत से नहीं कमाया जाता वह बेहूदगियों में नष्ट हो जाता है। पैसे की कदर पैसा कमानेवाला ही जानता है।

अगर हम समझ लें कि न भोगा हुआ और दान में भी न दिया हुआ पैसा नष्ट ही हो जानेवाला है तब पैसे के लिए मारामारी अपने-आप धीमी पड़ जायेगी। जरूरत इस बात की है कि जैसे पैसे में क्रय-शक्ति का आधान हुआ, यह समझकर कि पैसे में निहित यह क्रय-शक्ति समाज में भ्रष्टाचार का कारण बन रही है, इस क्रय-शक्ति का अवमूल्यन किया जाय। भारत की संस्कृति के निर्माताओं ने समझा था कि समाज में सदाचार तथा सच्चरित्रता का समावेश करने के लिए जीवन को ऐसी दिशा भी दी जाय जिससे पैसा कमाने के पागलपन से लोग मुक्त हो जायें। पैसे के द्वारा उत्पन्न होनेवाली समस्याओं को हल करने का यह पहला उपाय है—पैसे की यथार्थता को समझकर उसका अवमूल्यन। यह दार्शनिक दृष्टिकोण है।

इस समस्या का एक दूसरा भी हल है। उपनिषदों में कथानकों द्वारा ऐसे स्थल पाये जाते हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि उस काल के ऋषि यह समझने का प्रयत्न करते थे कि भौतिक सुख-सम्पदा का संग्रह जीवन के उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए पर्याप्त नहीं है। वे कथानकों से यह दर्शाते थे कि आत्म-ज्ञान ही सर्वोपरि ज्ञान है, उसी से आत्म-सन्तोष होता है क्योंकि आध्यात्मिक आनन्द नित्य, सनातन है, भौतिक सुख क्षणिक है। इस सम्बन्ध में यम-नचिकेता का उपाख्यान तथा याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का संवाद विशेष रूप से मननीय है।

नचिकेता एक युवक बालक था जिसका अपने गुरु यमराज से वार्तालाप हुआ। नचिकेता की समस्याएं आध्यात्मिक थीं। वह जानना चाहता था कि आत्मा क्या है, परमात्मा क्या है, आध्यात्मिक जीवन क्या है ? गुरु ने उस नवयुवक को अध्यात्म से हटाकर भौतिक जीवन बिताने की प्रेरणा देने का यत्न किया। गुरु ने कहा—पैसा कमाओ, दुनिया उधर ही भागी जा रही है, क्यों ऐसी बातें कर रहे हो जिनसे संसार का भोग्य-ऐश्वर्य हाथ से जाता रहे ? उत्तर में नचिकेता ने जो कहा वह हृदयंगम करने योग्य है। उसने कहा—"श्वो भावाः मर्त्यस्य यदन्त-

कंतत्"—हे गुरुजी महाराज, संसार के भोग्य ऐश्वर्य तो "श्वो भाव" हैं—कल तक हैं, फिर नहीं रहेंगे। मुझे तो वह सम्पदा चाहिए जो सदा टिकी रहे; कल तक भी न रहे—ऐसी सम्पत्ति नहीं चाहिए। ऋषि ने एक युवक के मुख से यह कहलवाया कि पैसे में जो क्रय-शक्ति है वह क्षणिक है; देखा नहीं, कम-से-कम पैसे से जो कुछ खरीदा जा सकता है वह हाथी-घोड़े-रथ आदि भौतिक पदार्थ ही खरीदे जा सकते हैं, चिरस्थायी आत्म-सम्पदा नहीं खरीदी जा सकती।

इस संदर्भ में याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयी का संवाद भी पैसे की क्रय-शक्ति पर प्रकाश डालता है। वैदिक संस्कृति का निष्कर्ष था कि गृहस्थ का सुख भोगकर व्यक्ति वानप्रस्थाश्रम में चला जाता था, घर-बार छोड़ देता था। याज्ञवल्क्य भी गृहस्थाश्रम निपटाकर वानप्रस्थाश्रम में जाने को तैयार हुए और चलते हुए अपनी पत्नी मैत्रेयी को कहा कि अब हम सब-कुछ तुम्हें देकर जंगल की राह लेने लगे हैं। मैत्रेयी ने पूछा—आप क्यों सब-कुछ छोड़ना चाहते हैं? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—मुझे अमृत-जीवन की तलाश है, उस अमृत-जीवन की तलाश है जिसे पाने के लिए मनुष्य संसार में जन्म लेता है। मैत्रेयी ने पूछा—आप मुझे संसार की सम्पत्ति देकर जंगल की राह लेना चाहते हैं ताकि आपको वह अमृत-जीवन मिले जिसे पाने के लिए मनुष्य इस पृथिवी पर जन्म लेता है, तो क्या संसार की सम्पत्ति को पाकर मुझे वह अमर-जीवन प्राप्त हो जायगा—"यन्नु इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् कथं तेनाहं अमृता स्याम्"? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—नहीं, सब धन-सम्पत्ति पाकर तुम्हारा जीवन वैसा रहेगा जैसा साधन-सम्पन्न व्यक्तियों का होता है—"यथेव उपकरणवतां जीवनं तथैव ते जीवनं स्यात्"। फिर आगे कहा—अगर तुम रुपये-पैसे से अमृतमय जीवन की आशा करो तो वह धन-सम्पत्ति से नहीं मिलेगा—"अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन"। मैत्रेयी को सब धन-सम्पति मिल रही थी, परन्तु उसने रुपये-पैसे, धन-सम्पत्ति को लेने से इन्कार कर दिया और कहा—"येनाहं नामृता स्याम् किमहं तेन कुर्याम्" जिस रुपये-पैसे, धन-सम्पत्ति से मुझे अमर जीवन की प्राप्ति न हो उसे लेकर मैं क्या करूँगी? याज्ञवल्क्य स्वयं तो अमर-जीवन की तलाश में थे और मैत्रेयी के उत्तर में कह रहे थे—"अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन" रुपये-पैसे से सिर्फ वे साधन खरीदे जा सकते हैं जो शरीर का सुख दें, इससे आत्मानन्द नहीं खरीदा जा सकता। समय की विडम्बना है कि आज के भौतिकवादी युग में हमने रुपये-पैसे में ही सब-कुछ केन्द्रित कर दिया है, और इसीलिए पैसेवालों की पूजा होती है और भूमण्डल का सारा वातावरण रुपये-पैसे से उठनेवाली दुर्गन्ध से भरा पड़ा है।

अगर हम समाज के जीवन को स्वच्छ-सुन्दर बनाना चाहते हैं तो पैसेवालों के चरणों में सिर झुकाने के स्थान में पैसा छोड़नेवाले त्यागी तपस्वियों के चरणों

में सिर झुकाना सीखना होगा। सामाजिक मूल्य बदलने होंगे। यह नहीं कि ऐसा हो नहीं सकता। ऐसा ही होने से समाज अर्थ-जन्य कुरीतियों से मुक्त होगा। आज जो लूट-खसोट होती है, डाकेजनी, पैसे का पागलपन, नवविवाहिता बहुओं की डावरी (दहेज) के कारण आत्म-हत्या, पैसे के जोर पर चुनाव जीतना—इस प्रकार के दुर्गुण समाज को घुन की तरह खाये जा रहे हैं—इन सबका इलाज एक ही है, और वह है पैसे के भीतर जो शक्ति का केन्द्रीकरण हो गया है, उसे मिटा देना। ऊँची स्थिति के लोग जो कुछ करते हैं, अन्य सब उसका अनुकरण करते हैं। ऊँची स्थिति के लोग अगर शान-शौकत से रहेंगे—और पैसे के बिना ऐसे रहा नहीं जा सकता—तो साधारण जनता भी वैसा ही करने की नकल करेगी। महात्मा गांधी घुटने तक की धोती पहनते थे, बदन पर एक चद्दर लपेटते थे। सबने उनकी नकल करना शुरू कर दिया। अगर देश का राष्ट्रपति तपस्या का जीवन बिताये तो तपस्या एक फैशन हो जायगा।

भारत जैसे अध्यात्म-प्रिय देश में यहाँ के शासक कैसा तपस्यामय जीवन बिताते थे, यह स्वर्गीय पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति भूतपूर्व संसद-संदस्य के "यदि आचार्य चाणक्य प्रधान मंत्री होते"—इस लेख से स्पष्ट हो जायगा, जो उन्होंने जीवन के अन्तिम दिनों में मृत्यु से कुछ दिन पूर्व लिखा था। यह लेख आर्य-सन्देश के ३० दिसम्बर १९८४ के अंक में प्रकाशित हुआ था।

□

यदि आचार्य चाणक्य प्रधानमन्त्री होते

आचार्य चाणक्य की नीति और वीर चन्द्रगुप्त मौर्य के परस्पर सहयोग से उस मौर्य साम्राज्य की स्थापना हुई थी, जिसकी उत्तरी सीमा हिन्दूकुश पर्वत को, पूर्वी सीमा बंगाल की खाड़ी को, दक्षिण की सीमा वर्तमान नल्लौर को और पश्चिमी सीमा अरब सागर को छूती थी। अफ़गानिस्तान, कश्मीर और नैपाल तक उसी के अन्तर्गत थे। इतने बड़े साम्राज्य की स्थापना जितनी कठिन थी, उसकी सुरक्षा उससे भी अधिक कठिन थी।

घर के अन्दर नन्द के साथियों का असन्तोष, बाहर विश्वविजेता सिकन्दर की सुशिक्षित सेनाओं और कुशल सेनापतियों का आतंक—शत्रुओं का कोई अन्त नहीं था। ऐसे संकटों से घिरे हुए साम्राज्य को २४ वर्षों तक निर्विघ्न चलाना, उसके लिए राज्य-नियमों के पालन की सुव्यवस्था करना, और इसी बीच में आक्रमणकारी यूनानियों को पीछे धकेलकर हीन-सन्धि करने के लिए बाध्य करना कोई साधारण बात नहीं थी।

नये राज्यों के सम्मुख जो कठिनाइयाँ आया करती हैं, वे सभी आचार्य के सामने थीं। वह मौर्य साम्राज्य के प्रधानामात्य थे। उनके समय में देश न केवल धन-धान्य से समृद्ध रहा, वह सुरक्षित भी रहा। उसमें इतनी शक्ति थी कि उसकी सेनाएँ बढ़ती हुई विदेशी सेनाओं को परास्त करके पीछे धकेल दें।

महाराजा विक्रमादित्य से लगभग तीन सौ पूर्व जिस महापुरुष ने विशाल साम्राज्य की स्थापना करके न केवल उसे सुखी और समृद्ध दशा में रखा, आक्रांताओं को मुँहतोड़ उत्तर भी दिया, वह यदि आज जीवित होते, और जनता उन्हें प्रधानमन्त्री का पद प्रदान करती तो वह क्या करते, कैसे रहते, किन उपायों से देश की प्रजा को सुखी बनाते और किस प्रकार आक्रांताओं को परास्त करते—ये प्रश्न यद्यपि कल्पनात्मक प्रतीत होते हैं, तो भी उपयोगिता से खाली नहीं। हम चाहें तो उनसे लाभ उठा सकते हैं।

पहला प्रश्न यह है कि उनका रहन-सहन कैसा होता? इस प्रश्न का उत्तर हमें महाकवि विशाखदत्त के मुद्राराक्षस नाटक से मिलता है। भारत के प्रतापी सम्राट् चन्द्रगुप्त का संदेश लेकर जब कंचुकी प्रधानामात्य आचार्य चाणक्य के पास पहुँचता है, तब उनके निवास-स्थान की विभूति को देखकर कह उठता है—

उपलशकलमेतत् भेदकं गोमयानां वटुभिरुपहृतानां बर्हिषां स्तूपमेतत्।
शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभिः विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम् ।।

एक ओर गोबर के उपलों को तोड़ने के लिए पत्थर का टुकड़ा रखा है, और दूसरी ओर शिष्यों द्वारा लाई हुई कुशाओं का ढेर पड़ा है। पुरानी दीवार की छत पर जलाने के लिए लकड़ियाँ सुखाई गयी हैं, जिससे छत का सिरा झुक गया है।

यह है राजाधिराज के मन्त्री की विभूति !

सम्भव है, इस वर्णन में कवि ने कुछ अत्युक्ति कर दी हो, परन्तु इसमें संदेह नहीं आचार्य चाणक्य भारतवर्ष की राजधानी पाटलिपुत्र में रहते हुए भी तपस्वी मुनि की तरह रहते थे। तभी तो जब सम्राट् चन्द्रगुप्त उनसे मिलने आता था, उनके पाँव छूता था।

आचार्य चाणक्य आज प्रधानमन्त्री होते तो कैसे स्थान में रहते ? सम्भवतः वह फूस की कुटिया में तो रह न सकते थे क्योंकि नई दिल्ली की गन्दी बस्तियों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं छप्पर बनाने की आज्ञा शायद ही मिले, परन्तु यह हो सकता है कि ऐसे छोटे-से मकान में रहते, जैसे मकान में महात्मा गांधी रहा करते थे। निश्चय ही यह कोई ऐसा महल या शानदार भवन न होता जिसकी रक्षा के लिए हजारों की राशि व्यय करनी पड़ती।

सोवियत यूनियन के संस्थापक लेनिन के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि विशाल साम्यवादी गणराज्य के एकाधिकारी बनकर भी बड़े सरकारी कार्यालय के समीप एक तीन कमरे के मकान में निवास करते रहे। वियतनाम के राष्ट्रपति के बारे में भी प्रसिद्ध है कि वह स्वतन्त्रता-संग्राम के समय और उसमें जीतकर भी फकीरों की भाँति रहते थे। इन दृष्टान्तों से प्रतीत होता है कि वर्तमान काल में, स्वाधीन और उन्नत जातियों में भी राज्याधिकारियों का सादा जीवन व्यतीत करना असम्भव नहीं है। महल में रहकर भी सादा जीवन व्यतीत किया जा सकता है, यह बात कहने में भली प्रतीत होती है परन्तु वस्तुतः असम्भव कल्पना जैसी है।

यह बड़ी अजीब बात है कि जो महानुभाव स्वाधीनता-संग्राम के दिनों में बिल्कुल सादा रहन-सहन और सादी वेशभूषा को पसन्द करते थे, शक्तिसम्पन्न कुर्सियों पर बैठते ही उनका रंग-ढंग बदल गया। इस नई टीप-टाप को हमारे राष्ट्रीय जीवन में लाने की उत्तरदायिता अंग्रेजी राज्य की है। हमने अंग्रेजों से स्वाधीन होकर भी अपने कानून, विधान, भाषा, रहन-सहन और कारोबार में इंगलैण्ड की अधीनता मानो स्थिर रूप से स्वीकार कर ली है।

यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यदि आचार्य चाणक्य वर्तमान भारतीय संघ के प्रधान होते तो वह स्वयं अत्यन्त सादा जीवन व्यतीत करते,

अन्य केन्द्रीय और प्रादेशिक मन्त्रियों को भी सादा जीवन व्यतीत करने के लिए मजबूर करते। उससे दो लाभ होते। एक तो अधिकारियों तथा सामान्य प्रजा के मध्य जो गहरी खाई बनती जा रही है, वह न बनती और राष्ट्र के कोष पर इतना भारी बोझ भी न पड़ता। महात्मा गांधी ने कौंसिल-प्रवेश के प्रस्ताव को अनुमति देते हुए यह इच्छा प्रकट की थी कि कांग्रेसी मन्त्री ५००/- मासिक में अपना निर्वाह किया करें। आचार्य चाणक्य का निजी व्यय इससे शायद कुछ कम ही होता।

□

नाल्पे सुखमस्ति

हम सब दुःखी हैं, अमीर भी दुःखी हैं, गरीब भी दुःखी हैं, शायद अमीर गरीबों से ज्यादा दुःखी हैं। गरीब तो दुःखी हैं ही क्योंकि उनका जीवन अभावग्रस्त है। उनके पास रहने को मकान नहीं, पहनने को कपड़ा नहीं, खाने को अनाज नहीं। जब अमीर देखता है कि उसके पास एक मकान है, उसके पड़ोसी के पास दो मकान हैं, तो वह ईर्ष्या से जल उठता है, सोचता है उसके पास भी दो मकान क्यों नहीं ? जब अमीर देखता है कि उसके पास पर्याप्त वस्त्र हैं पर उसके पड़ोसी की बीवी के पास मिंक-कोट है तब उसका कलेजा जल उठता है। वह यही नहीं सोच सगता कि उसकी बीवी के पास भी मिंक-कोट हो, बल्कि धोखाधड़ी के उपाय भी सोचने लगता है कि कैसे इसे प्राप्त किया जा सकता है ? जब अमीर देखता है कि उसके पड़ोसी के यहाँ रोज शराब की बोतलें उड़ती हैं तब वह भी सोचने लगता है कि पड़ोसी की अपेक्षा इतना अधिक धन कमा ले कि उसके यहाँ दिन-रात कॉकटेल पार्टियाँ होती रहें। अस्ल बात तो यह है कि हम गरीब इसलिए नहीं हैं कि हम वास्तविक अर्थों में गरीब हैं; हम गरीब इसलिए हैं क्योंकि दूसरे हमसे ज्यादा अमीर हैं। हम अपनी अमीरी की तरफ नहीं देखते, दूसरों की अमीरी को देखकर अपने को गरीब समझते ही नहीं मानने भी लगते हैं। इसलिए हमने कहा कि गरीब तो दुःखी हैं ही, अमीर उनसे ज्यादा दुःखी हैं, क्योंकि अमीर होते हुए भी अपने को उनकी तुलना में गरीब ही समझते हैं।

अमीरी-गरीबी की बातें छोड़ दें, दुःख-सुख की भी यही बात है। हम सब तरह से सुखी हैं, परन्तु जब दूसरे को अपने से ज्यादा सुखी देखते हैं तब सुखी होते हुए भी दुःखी हो जाते हैं, अपने सुख को भी दुःख मानने लगते हैं—हाय, यह हमसे ज्यादा सुखी क्यों है ? दुःखी को देखकर उसके प्रति सद्भावना नहीं होती, यही मन होता है कि भगवान् की हम पर कितनी कृपा है कि यह हमसे ज्यादा दुःखी है। मैं एक बीमार को देखकर आ रहा था। वह शैयारूढ़ था, चल-फिर भी नहीं सकता था, देर से बीमार था, अब चला कि तब चला की फिक्र हो रही थी। उसके एक मित्र मुझे उनके घर के बाहर मिले। वे भी लँगड़ाते चल रहे थे। इतना जबर्दस्त आर्थराइटिस था कि लाठी लेकर भी चलना मुश्किल हो रहा था। मुझसे पूछने लगे—हमारे दोस्त का क्या हाल है ? मैंने कहा—

अच्छा नहीं। झट से बोले, भगवान् कृपा करेंगे! परन्तु उनके दयाभाव से टपकता था कि उनके दोस्त चल बसें तो ठीक है। हम बाहर से दया दिखाते हैं, भीतर से निर्दयी होते हैं। इसलिए हमने कहा कि दुःखी दूसरे के दुःख को देखकर सुखी और सुख को देखकर दुःखी रहता है।

हम अमीरी चाहते हैं तो शिखर की, सुख चाहते हैं तो बेअन्त, बीच में रुकना हम नहीं जानते। बीच में रुकने का अर्थ है—'अल्प' में सन्तुष्ट हो जाना, जो-कुछ मिला है उस तक को तो भगवान् की सिर्फ कृपा समझना। भगवान् ने जितना हमें दिया है उतना हमारे लिए काफी नहीं है—हमें और चाहिए, और चाहिए, इसीलिए चोरियाँ होती हैं, डाके डलते हैं, लूट होती है, समाज का कड़ाहा हर समय उबलता रहता है। कोई टिककर, शान्त-भाव से नहीं बैठता—अमीर भी, गरीब भी, सुखी भी, दुःखी भी। चारों तरफ हाहाकार मचा हुआ है। चैन, सुख-शान्ति से कोई नहीं बैठा। भौतिकवाद के तीन पक्ष हैं—पहला, दूसरा तथा तीसरा। ये तीन पक्ष क्या हैं?

भौतिकवाद का पहला पक्ष तो यह है कि व्यक्ति को थोड़े में सन्तोष नहीं होता, अधिक-से-अधिक की चाह बनी रहती है। जितना हमें मिले, उससे ज्यादा चाहिए। धन जितना मिलता है उससे ज्यादा की चाह बनी रहती है, सुख जितना मिलता है उससे ज्यादा की चाह बनी रहती है, इसके साथ ही हमें जितना मिलता है दूसरे को उससे कम मिले, धन हो या सुख हो, दोनों दूसरे को हमसे कम मिलें। इन दोनों बातों का एक ही अर्थ है। अपने को दूसरे से ज्यादा मिले, दूसरे को हमसे कम मिले।

भौतिकवाद का दूसरा पक्ष यह है कि यद्यपि मनुष्य अल्प से सन्तुष्ट नहीं होता, अधिक-से-अधिक ही चाहता है, तो भी जो भौतिक है वह अन्ततोगत्वा सदा अल्प हो जाता है। धन कितना भी हो, वह कहने को भले ही बेअन्त कहा जाय, परन्तु होता वह सान्त है, नपा-तुला है। ऐसा धन नहीं हो सकता जिसका कहीं खात्मा ही न हो। मैं जयपुर गया। वहाँ राजाओं के महल देखे, पुराने किले देखे। जब बने थे कितने महान्, कितने विशाल थे! देखनेवालों की आँखें फट जाती होंगी। वहाँ राजा-रानियाँ रहती थीं। अब वहाँ जा सकना भी सम्भव नहीं है। आज वे अनन्त धन-राशि से बने महल तथा किले निरे मट्टी हो गये हैं। उल्लू भी वहाँ नहीं बोलते। भौतिक सुख-दुःख का भी यही हाल है। कोई भौतिक सुख चिरस्थायी नहीं है, कोई भौतिक दुःख भी चिरस्थायी नहीं हैं।

भौतिकवाद का तीसरा पक्ष यह है कि इसमें हर बात की प्रतिक्रिया होती है। शराब पीते हैं, मजा आता है, फिर और पीते हैं, फिर लत पड़ जाती है, लत पड़ते-पड़ते शराब पीनेवाला शराब को नहीं पीता, शराब उसे पीने लगती है। यह शराब पीने की प्रतिक्रिया है। पहले चित्त उभरा था, अब प्रतिक्रिया के रूप

में चित्त गिरने लगता है। सुख पाने के लिए हम चले थे, थोड़े सुख से तो सन्तोष नहीं होता—'नाल्पे सुखमस्ति'—'अल्प' सुख देनेवाली वस्तु से तो पेट भरता नहीं, और-और की लालसा हमें सांसारिक भोगों में आगे-आगे धकेलती चलती है, और स्थिति वह आ पहुँचती है जिसमें जितना सुख हमें मिलता था वह तो मिलने से रहा, उलटा दुःख सामने आ खड़ा हुआ। किसी को शराब पीने से दिल का दौरा पड़ने लगा, किसी ने जो-कुछ जोड़ा था वह लुटा दिया, कोई सड़कों या गलियों में भिखमंगों का-सा होकर जीवन से हाथ धो बैठा। भौतिकवाद की प्रतिक्रिया को समझने के लिए ऐलोपैथिक ओषधियों की प्रतिक्रिया को समझ लेने से बात समझ पड़ जायेगी। नींद की गोली खाकर सोने की प्रतिक्रिया में कब्ज हो जायेगी। कब्ज के लिए दस्तावर दवा लेंगे तो कमजोरी हो जायगी। दिनोंदिन अखबारों में पढ़ते हैं कि अमुक रोग की अमुक अचूक दवा, जिसके बिना ऐलोपैथिक इलाज चल ही नहीं सकता था, प्रतिक्रिया करने लगी है, अब वह दवा लेना हानिकर है। समय था जब विटामिनों के लिए कहा जाता था कि वे प्राण-प्रद हैं, अब उनके लिए भी कहा जाने लगा है कि इनकी भी प्रतिक्रिया होती है। भौतिक-वाद का नियम ही प्रतिक्रिया है।

भौतिकवादी जीवन में तीन बातों को स्मरण रखना चाहिए—पहली बात यह कि हममें और-और की चाह सदा बनी रहती है, जितना मिलता है उससे अधिक की चाह के बने रहने से जीवन में से सन्तोष सदा के लिए विदा ले लेता है; दूसरी बात यह कि भौतिकवाद से जो मिलता है वह अन्त तक टिकनेवाला नहीं होता, समय आता है जब सब किया-कराया हाथ से निकल जाता है; तीसरी बात यह कि भौतिकवादी जीवन की हर बात की प्रतिक्रिया होती है, जिस बात के पीछे हम पड़े हैं वह हाथ तो आती है, परन्तु ठीक उससे उलटी वस्तु हाथ में रह जाती है।

तो फिर प्रश्न उठता है कि अगर भौतिकवाद में पूर्णता नहीं, सदात्व नहीं, प्रतिक्रिया है, तो वह कौन-सा रास्ता है जिसमें पूर्णता हो, सदात्व हो और जिसमें प्रतिक्रिया न हो? सन्तों का कहना है कि वह अध्यात्मवाद का रास्ता है।

अध्यात्मवाद का रास्ता क्या है? यह समझ लेना कि अशान्ति बाहर नहीं है, हमारे मन में है, हमारे भीतर है, यही समझ लेना शान्ति का रास्ता है, यही अध्यात्म का रास्ता है। हम दूसरों से डाह करते हैं। हमें अशान्ति इसलिए नहीं कि हमारे पास किसी चीज की कमी है, हम अशान्त इसलिए रहते हैं कि दूसरों के पास हमसे अधिक क्यों है? हमारे पास एक मकान है, एक मोटर है, परन्तु हम इसलिए अशान्त रहते हैं क्योंकि दूसरे के पास दो मकान हैं, दो मोटरें हैं। बाह्य पदार्थों के साथ चिपट जाने से अशान्ति आती है, उनसे अपने को अलग कर लेने से शान्ति आती है क्योंकि शान्ति-अशान्ति का स्रोत भीतर है जो बाहर

के शान्त-अशान्त संसार के साथ एकत्व-भाव से जुड़ा है। उससे अपने को काट लेने पर भीतर तो शान्ति का स्रोत ही बहता रह जाता है; उसमें तुलना नहीं, अपूर्णता नहीं, न्यूनाधिकता नहीं। न्यूनाधिकता बाहर की वस्तुओं में है, जो किसी के पास कम हैं, किसी के पास ज्यादा हैं। हमने इन बाह्य वस्तुओं के साथ अपनी एकात्मता बनाई हुई है यद्यपि ये उपकरण हैं, हमारे साधन हैं। जब हम इनसे साधन का काम नहीं लेते तब इनका होना-न होना एक-समान है। मकान तभी तक आकांक्षा का विषय बना रहता है जब तक वह हमारे उपयोग का साधन है। बड़े-से-बड़ा महल तभी तक मकान या महल है जब तक उसका कोई उपभोग करता है; जहाँ उसका उपभोग छूटा वह मट्टी से भी बदतर हो जाता है; मोटर तभी तक स्पृहणीय है जबतक वह हमारे यातायात का साधन है, अन्यथा गराज में ही पड़ी रहनेवाली मोटर किस काम की ? हम विषयासक्त हैं, विषय हमारे वश में नहीं, हम विषयों के वश में पड़े हुए हैं—इसीलिए अशान्ति है। इस गुर को समझ लेना ही अध्यात्मवाद है। जैसे हमारा जीवन अशान्त है, इसी प्रकार के एक अशान्त व्यक्ति को एक सन्त ने पूछा—'तुम्हें क्या चाहिये ? ऐसा वरदान दूंगा कि जो चाहोगे वह हो जायगा। परन्तु शर्त एक रहेगी—जो तुम चाहोगे वह तो हो जायगा, परन्तु तुम्हारे पड़ोसी के पास उससे दुगुना हो जायगा।' खैर, उसके पास अपना कोई मकान नहीं था, उसने चाहा कि उसका मकान बन जाये; मकान बन गया, परन्तु उसके पड़ोसी के दो मकान बन गये। फिर उसने चाहा कि उसे मोटर मिल जाय; वह मिल गई, परन्तु उसके पड़ोसी को दो मोटरें मिल गईं। यह देखकर उस व्यक्ति की अशान्ति इतनी बढ़ गई कि उसने माँगा कि उसके मकान में एक कुआँ खुद जाय ताकि उसके पड़ोसी के मकान में दो कुएँ खुद जायें। तब जाकर उसे कुछ राहत मिली क्योंकि उसने देखा कि उसके पड़ोसी के मकान में दो कुओं के कारण चलने-फिरने की जगह भी न रही।

हमारे भीतर संसार भरा हुआ है—संसार की हर वस्तु, हर वस्तु की लालसा। जब तक इस लालसा को निकाल नहीं दिया जायगा तबतक शान्ति भीतर प्रवेश नहीं कर सकती, क्योंकि अशान्ति का मूल कारण लालसा है। यही हमारे जीवन की बेचैनी का कारण है। अगर घड़े में भूसा भरा हुआ हो, और हमने उसमें पानी भरना हो तो भूसे को निकाल बाहर फेंकना होगा। पहले भूसा निकलेगा, तब पानी भरेगा; पहले पानी भरे तब भूसा निकले—ऐसा नहीं होगा। अध्यात्म का तरीका यही है कि मनुष्य ध्यान में बैठे, संसारी बातें याद आयेंगी, परन्तु अगर घड़े के भीतर पानी डालते चले जायें तो भूसा अपने-आप निकलता चला जायगा और घड़ा भूसे से खाली होकर पानी से भर जायेगा। साँप टेढ़ा चलता है, परन्तु अपने बिल में प्रवेश करते समय सीधा होकर जाता है। इसी

तरह मनुष्य संसार के विषयों में फँसा-फँसा कुटिलता, दगा-फरेब बरतता है, परन्तु जब उसे अध्यात्म की लगन लग जाती है तब कुटिलता छोड़ देता है क्योंकि भगवान् का ध्यान ही उसका घर है। हमारी हालत यह है कि हम विषयों की तरफ अन्धाधुन्ध भागे चले जा रहे हैं। इसका अन्त क्या होगा—इसे कोई नहीं सोचता। जैसे कोई चोर-चोर कहकर भागने लगे तो सब चोर-चोर कहकर भागने लगते हैं, जिन्होंने चोर को देखा नहीं वे भी चोर-चोर कहकर भागने लगते हैं, वैसे हम भी संसार के विषयों के प्रति अन्धाधुन्ध भाग रहे हैं क्योंकि दुनिया के सब लोग विषयों की तरफ भाग रहे हैं और सारा जीवन इसी भाग-दौड़ में बिता देते हैं। अन्त समय में हम देखते हैं कि हाथ कुछ लगा नहीं, सारी दौड़ बेकार थी। उस समय बन्धु-बान्धव, स्त्री, पुत्र-कलत्र भी थककर चाहने लगते हैं कि यह हमसे जल्दी-से-जल्दी विदा हो। अध्यात्म का अर्थ है—जीवन के इस अन्त को देख लेना।

एक साधु के पास एक व्यक्ति गया और हाथ दिखाकर कहने लगा—मेरा हाथ देखिये, मेरे भाग्य में क्या लिखा है? साधु ने कहा—मैं हाथ देखना नहीं जानता। परन्तु वह व्यक्ति तो साधु के पीछे पड़ गया—यह कैसे हो सकता है कि इतने बड़े महात्मा होकर आप हस्त-रेखाओं के फल को न जानते हों? साधु ने जब छुटकारा न देखा तब उसके गले में एक तागा बाँध दिया और कहा कि जब यह तागा टूट जायगा तब तुम्हारी मृत्यु होगी। अब वह रोज सवेरे उठकर गले का तागा देख लेता और समझता कि जिन्दा हूँ। एक दिन अचानक तागा टूट गया। अब वह पड़े-पड़े चिल्लाने लगा कि मैं मर गया हूँ। लोग हँसते, परन्तु वह चिल्लाता कि मैं मरा पड़ा हूँ, मुझे कोई उठाने नहीं आया। हमारा यह शरीर एक तागा है। जब यह टूट जाता है, हम समझते हैं—हम मर गये, परन्तु शास्त्रों का कथन है कि हम मरते नहीं, मरता यह शरीर है, टूटता यह तागा है; आत्मा अमर है, चिन्ता करनी हो तो उसकी करो जो सम्पूर्ण है, अमर है, अनादि है, अनन्त है—यही अध्यात्मवाद है, इसी से शान्ति मिल सकती है क्योंकि अध्यात्म में जो शान्ति मिलती है वह अल्प नहीं, अनल्प है, वही 'भूमा' है—'यो वै भूमा तत्सुखम्'।

आज सब चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे हैं कि चारों तरफ बढ़ोतरी हो रही है। हर बात में बढ़ोतरी है, उन्नति है, परन्तु क्या यह बात भी ठीक नहीं कि अशान्ति, असन्तोष, ईर्ष्या-द्वेष, लड़ाई-झगड़े में भी बढ़ोतरी हो रही है? शान्ति की तलाश में हर व्यक्ति अशान्त है, सुख की तलाश में हर व्यक्ति दुःखी है, सब-कुछ पा लेने ती तलाश में हर व्यक्ति सब-कुछ खो बैठा है।

□

आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति

एक नौजवान था, निकम्मा, कुछ काम नहीं करता था। शराब पीना, होटलों में चुहुलबाजियाँ करना, लड़कियों का पीछा करना, बस यही उसका काम था। जब उसका बाप बीमार पड़ा—दिखाने के लिए बहुत धूम-धाम करता था परन्तु मुझे कहता था, कब साला मरेगा ताकि उसकी सब सम्पत्ति उसके हाथ लगे। बाप मालदार था इसलिए उसके माल पर उसकी नजर थी। दिखाने के लिए उसकी सेवा करता था; बाप गरीब होता तो बाप की सेवा न करता। उसे देख-कर अनायास मेरे मुख से निकल पड़ा—सब दुनिया स्वार्थ की है। कौन किसका बाप, कौन किसका बेटा, कौन किसका पति, कौन किसकी पत्नी, कौन भाई, कौन बहन—सब मतलब के रिश्तेदार हैं। एक ८२ वर्ष का बुड्ढा बीमार बिस्तर पर पड़ा कराहता था। उसका बेटा बड़ा मालदार था। मोटर थी, नौकर-चाकर थे, किसी बात की कमी नहीं थी, परन्तु अपने सगे बाप के विषय में भी वह यही कहा करता था कि कब इससे पीछा छूटेगा? यह बात दो-चार की ही नहीं, वर्तमान युग में यही सबका हाल है। एक बड़े सरकारी अफसर ने मुझे सुनाया कि उनकी एक लड़की अमरीका में एक बड़े अस्पताल में काम कर रही है। उसके पास एक अमरीकन आया जिसका पिता अस्पताल में सख्त बीमार था। उसने डाक्टरनी से पूछा कि उसके पिता के जीवन की कितने दिन तक जीने की आशा है? डाक्टर ने उत्तर दिया कि—१०-१५ दिन से अधिक ये न खींच सकेंगे। उस अमरीकन पुत्र ने कहा कि अगर पिता की मृत्यु हो जाय तो उसकी उन्हें सूचना न दी जाय, उन्होंने अपने पिता के मरने पर उनके दफन का सारा इन्तजाम कर दिया है, पिता के मरते ही कब्र के हवाले कर देना। यह उस व्यक्ति की ही मनोदशा नहीं है, आज के युग के सभी व्यक्तियों की यही मनोदशा है। उनका कहना है कि जो मर गया उसे हम जिन्दा थोड़े ही कर सकते हैं। फिर मरने पर उसके शव के लिए परेशान क्यों होना? १९८२ में मैं हालैंड गया। वहाँ मैं ओल्ड-मेन्स होम देखना चाहता था। वहाँ प्राय: ६०-७० वर्ष की आयु के बाद युवक-युवतियाँ अपने माँ-बाप को इन वृद्धालयों में भर्ती कर देते हैं। उनकी देख-भाल, खाना-पीना—सब-कुछ सरकार करती है। युवकों का प्रश्न यह हुआ करता है कि माँ-बाप के अपंग हो जाने पर उनको कौन सम्हाले? इस सम्हालने की जिम्मेदारी

से वे छूटना चाहते हैं। पशुओं का जीवन है। जैसे गाय-बैल के बुड्ढा हो जाने पर उन्हें कांजी हाउस में भर्ती कर दिया जाता है, वैसे यूरोप के वृद्धालय पुरुषों तथा स्त्रियों के कांजी हाउस के समान हैं। वृद्धों की समस्या बड़ी भारी समस्या है। जीवन का संघर्ष इतना कठोर हो गया है कि युवक सोचते हैं कि अपने बच्चों का पालन करें या वृद्ध माँ-बाप की सेवा करें ? प्राचीन जंगली जातियों में ऐसी भी जातियाँ थीं जो माँ-बाप के निकम्मा या बूढ़े हो जाने पर या तो उन्हें मारकर खा जाती थीं या जानवरों के खाने के लिए उन्हें छोड़कर आगे निकल जाती थीं। माँ-बाप का भी कोई स्नेह होता है—इस नाम की वस्तु उनमें नहीं थी। ऐसी दुर्दशा से बचने के लिए ओल्डमेन्स होम बने हुए हैं, ऐसों के लिए वानप्रस्थाश्रम बने हुए हैं।

भौतिकवाद का यह अवश्यम्भावी परिणाम है कि हर वस्तु को अपने स्वार्थ की दृष्टि से देखा जाय। वहाँ भावना को कोई स्थान नहीं है। वहाँ जो-कुछ है अपने स्वार्थ के लिए है। उनका दृष्टिकोण है कि माता-पिता ने हमें पैदा किया अपने स्वार्थ के लिए, हमें पाला-पोसा या हम पर व्यय किया अपने स्वार्थ के लिए, हम बड़े हो गये—अब हमने देखना है अपने स्वार्थ को; हमारे बीवी-बच्चे हैं—हम उन पर खर्च करें या उन पर जो दो दिन के मेहमान हैं ? प्रश्न सारा इन्वेस्टमेंट का है। इन बूढ़ों-खूसटों पर व्यय करेंगे तो हमें क्या मिलेगा ? जब इन पर खर्चा-ही-खर्चा है तब हम बेकार खर्च क्यों करें ? अर्थ-प्रधान जगत् में ऐसी स्थिति का आ जाना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति आ भी गई है।

इसके विपरीत अध्यात्मवादी देश में दृष्टिकोण बिल्कुल बदल जाता है। अर्थ-प्रधानता के स्थान में भावना-प्रधानता आ जाती है। वहाँ स्वार्थ का स्थान सेवा ले लेती है। रामायण में एक कथा आती है। श्रवणकुमार नामक युवक के माता-पिता, दोनों अन्धे और बूढ़े थे। वह उन्हें बँहगी में बैठाकर देश-देशान्तर घूमा करता था। एक दिन जंगल में जब माता-पिता प्यासे थे, वह उन्हें एक जगह बैठाकर उनके लिए पानी लेने के लिए घड़ा लेकर पास की नदी के किनारे गया। वह पानी से घड़ा भर रहा था। घड़े के पानी भरने से पानी की गुड़-गुड़ सुनाई दी। इधर जंगल में एक दूसरी घटना भी हो रही थी। राजा दशरथ शिकार खेलने जंगल में आए हुए थे। घड़े की गुड़-गुड़ सुनकर उन्होंने समझा कि वहाँ कोई जानवर है। उन्होंने गुड़-गुड़ शब्द को लक्ष्य में रखकर एक शब्द-वेधी तीर छोड़ा। वह तीर सीधा श्रवणकुमार को लगा और वह तत्काल चिल्लाकर धराशायी हो गया। आदमी की आवाज सुनकर राजा दशरथ हतप्रभ हो गए। उन्होंने किसी मनुष्य को मारने के लिए तो तीर छोड़ा नहीं था। आज का कोई शिकारी राजा होता तो यह जानकर कि उसके तीर से कोई आदमी आहत हो गया है, उसे वहीं छोड़कर नौ-दो-ग्यारह हो जाता। परन्तु नहीं, राजा दशरथ

उस जगह पहुँचे जहाँ श्रवणकुमार आहत हुआ था। उसकी कथा सुनकर उसे उठाकर उसके माता-पिता के पास ले गए और सारे परिवार का आजन्म प्रबन्ध किया। अन्धे तथा बूढ़े माता-पिता की इस प्रकार सेवा करना आज के युग के स्वार्थपरक मानव के लिए अचम्भे की बात है।

मनुष्य को सब-कुछ अपने लिए प्रिय होता है। जिसमें अपना स्वार्थ सिद्ध हो उसके लिए वह सब-कुछ कर सकता है—यह बात नई नहीं है। उपनिषद् में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी की एक कथा आती है। याज्ञवल्क्य घर छोड़कर जा रहे हैं, सब-कुछ छोड़कर, रुपया-पैसा-सम्पत्ति छोड़कर। आज का मानव रुपया-पैसा-सम्पत्ति के लिए सब-कुछ छोड़ने को तैयार है। माता-पिता, भाई-बहन—इन सबको स्वार्थ के लिए छोड़ा जा सकता है। परन्तु याज्ञवल्क्य कहते हैं कि छोड़ तो वे भी रहे हैं, परन्तु आत्मा को पाने के लिए छोड़ रहे हैं। दोनों दृष्टिकोणों में कितना भेद है! भौतिकवादी व्यक्ति स्वार्थ साधने के लिए रिश्तेदारों को छोड़ता है, सम्पत्ति के लिए मुकद्दमेबाजी करता है, अध्यात्मवादी भी स्वार्थ के लिए रिश्तेदारों को छोड़ता है, परन्तु उसका स्वार्थ धन-सम्पत्ति न होकर आत्म-प्राप्ति होता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को कहते हैं—

"स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति आत्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति।" (४-६)

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि पति प्यारा है—इस कारण पति से प्यार नहीं होता, अपने स्वार्थ के लिए पति प्यारा होता है; पत्नी के लिए पत्नी से प्यार नहीं होता, अपने स्वार्थ के लिए पत्नी से प्यार होता है; पुत्र के लिए पुत्र से प्यार नहीं होता, अपने स्वार्थ के लिए पुत्र से प्यार होता है। इस प्रकरण में 'अपने लिए' का अर्थ भौतिकवाद में भी लगता है, अध्यात्मवाद में भी लगता है। 'अपने लिए'—यह शब्द 'आत्मनः' का अर्थ समझा जाता है। 'आत्मनः' का अर्थ भौतिकवादी दृष्टि से 'स्वार्थ' है, अध्यात्मवादी दृष्टि से 'परार्थ' है। जो भौतिकवादी हैं वे पत्नी को, भाई-बहन को, रिश्तेदारों को अपने स्वार्थ के लिए प्यार करते हैं; जो अध्यात्मवादी हैं वे भाई-बहन, रिश्तेदारों को इसलिए प्यार करते हैं क्योंकि वे उनकी आध्यात्मिक उन्नति में सहायक हो सकते हैं। अन्तिम लक्ष्य अपना हित है। अपने हित का अभिप्राय अपना स्वार्थ या अपना उल्लू सीधा करना नहीं; अपने हित का अर्थ है जिसमें अपनी आत्मा की उन्नति हो। भौतिक दृष्टि तथा आध्यात्मिक दृष्टि—दोनों अवस्थाओं में स्वार्थ तो रहता ही है, परन्तु भौतिकवाद में रुपया-पैसा-सम्पत्ति जोड़ना स्वार्थ कहलाता है, पति के लिए पत्नी से और पत्नी के लिए पति से प्यार करना स्वार्थ कहलाता है। अध्यात्मवाद में रुपया-पैसा-सम्पत्ति,

रिश्तेदारों को छोड़ना भी स्वार्थ कहलाता है क्योंकि इस छोड़ने से ही आत्मिक उन्नति होती है, इसके साथ चिपटे रहने से नहीं। इसलिए जब याज्ञवल्क्य ने कहा—'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति'—अरे मैत्रेयी, पति की कामना के कारण पति प्रिय नहीं होता, अपनी उन्नति की कामना के लिए पति प्रिय होता है, तब ठीक ही कहा। न समझनेवाले समझते हैं कि याज्ञवल्क्य रटी-पिटी बात कह रहे हैं; दुनिया मतलब की है, अपनी ग़रज़ की है—यह कह रहे हैं; समझनेवाले समझते हैं कि ऋषि रटी-पिटी बात नहीं कह रहे, आध्यात्मिक बात कह रहे हैं। पत्नी पति को भौतिकवाद के रास्ते पर भी डाल सकती है, अध्यात्मवाद के रास्ते पर भी डाल सकती है। पहला मार्ग खुदगर्जी का मार्ग है, जोड़ने-जोड़ने का मार्ग है; दूसरा मार्ग आत्मा की उन्नति का मार्ग है, छोड़ने-छोड़ने का मार्ग है—इसी को याज्ञवल्क्य ने कहा—'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियम् भवति'।

इसी भाव को प्रकट करते हुए मुण्डकोपनिषद् के तृतीय खंड में कहा गया है—'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्' (३-३)—आत्मा बड़े-बड़े भाषणों से नहीं मिलता, तर्क-वितर्क से नहीं मिलता। जिसको यह वर लेता है उसके सामने आत्मा अपने स्वरूप को खोलकर रख देता है। इसी भाव को आगे बढ़ाते हुए कहा है—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः न च प्रमादात् तपसो वाऽप्यलिंगात्। एतैः उपायैः यतते यस्तु विद्वान् तस्य एषः आत्मा विशते ब्रह्मधाम' (७-४) आत्मा को शारीरिक बल से हीन व्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। मानसिक प्रमाद में पड़ा हुआ व्यक्ति भी इसे नहीं पा सकता, प्रयोजन-हीन तप करनेवाला भी आत्मा को नहीं पा सकता। इन उपायों से जो व्यक्ति आत्मा को पाना चाहता है वह उसे नहीं पा सकता, उसका आत्मा उससे मुँह फेर लेता है।

भौतिक विषयों की प्राप्ति में तो सुख मिलता ही है, परन्तु तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मानन्द वल्ली के अष्टम अनुवाक् में लिखा है कि याज्ञवल्क्य जिस ब्रह्मानन्द की कामना लिये घर-बार छोड़ रहे थे, अपनी सब सम्पत्ति का त्याग कर रहे थे, जिसके लिए उन्होंने मैत्रेयी को कहा—'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'—यह आनन्द साधारण आनन्द नहीं है। उस आनन्द की मीमांसा करते हुए वे कहते हैं—कल्पना करो कि एक युवक है, बहुत अच्छा युवक, खूब पढ़ा-लिखा, शासन करनेवाला, दृढ़ और बलवान्। अब कल्पना करो कि उसके लिए सम्पूर्ण पृथिवी धन-धान्य से पूर्ण हो जाय। उसे जो आनन्द प्राप्त होगा वह एक 'मानुष-आनन्द' (Unit of Human Happiness) है। इस प्रकार के सौ-मानुष-आनन्दों से एक 'मनुष्य-गन्धर्वानन्द' बनता है। श्रोत्रिय तथा कामनाओं से अासक्त व्यक्ति को ऐसा आनन्द प्राप्त होता है। 'सौ देव-गन्धर्वों के आनन्द'

की जो मात्रा बनती है वह चिर-काल तक लोक-लोकान्तरों पर विजय पानेवाले 'पितरों' का एक आनन्द (Unit of Elder's Happiness) बनता है। 'सौ पितरों' के आनन्द की मात्रा से एक 'आजानज देवों' के आनन्द की मात्रा बनती है। 'सौ देवों' के आनन्द की जो मात्रा बनती है वह 'इन्द्र' का आनन्द है। 'सौ इन्द्रों' के आनन्द की जो मात्रा बनती है वह 'बृहस्पति' का आनन्द है, सौ 'बृहस्पतियों' के आनन्द की जो मात्रा बनती है वह 'प्रजापति' का आनन्द है, 'सौ प्रजापतियों' के आनन्द के बराबर जो आनन्द प्राप्त होता है वह 'ब्रह्मानन्द' है। याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को कह रहे हैं कि उस ब्रह्मानन्द की कामना के लिए मैं अनासक्ति-भाव से संसार के धन-धान्य, सम्पत्ति छोड़कर जा रहा हूँ क्योंकि 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'—उस आत्मानन्द की कामना के लिए मनुष्य को सब-कुछ प्रिय होता है। अगर उसके पाने में धन-धान्य, सम्पत्ति, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, रिश्तेदार बाधक हों, तो उन सबका त्याग करना ही जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति का साधन है। याज्ञवल्क्य जब कहते हैं कि 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' तब उनका अभिप्राय भौतिक खुदगर्जी से नहीं है, आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति से है क्योंकि उनके कथनानुसार भौतिक की लालसा को छोड़-कर ही अभौतिक की कामना से आत्मानन्द प्राप्त होता है।

भौतिक आनन्द का विचार पाश्चात्य जगत् की उपज है, आत्मानन्द का विचार भारत की वैदिक विचारधारा की उपज है। यह हो सकता है कि मनुष्य के पास सब-कुछ हो, परन्तु जिसको पाने के लिए सब-कुछ इकट्ठा किया जाता है उसका कुछ भी न हो। भौतिक दृष्टि से सब-कुछ पानेवाले दुःखी पाये जाते हैं; भौतिक दृष्टि से दरिद्र, लंगोटबन्द रमतेराम सुखी पाये जाते हैं। छान्दोग्योप-निषद्, सप्तम प्रपाठक, प्रथम खंड में नारद और सनत्कुमार के संवाद का वर्णन पाया जाता है, जहाँ नारद मुनि के सनत्कुमार ऋषि के पास आकर अपना दुखड़ा सुनाने का जिक्र है। नारद कहते हैं—भगवन्! मैंने चारों वेदों का अध्ययन किया, अन्य जितनी भौतिक विद्याएँ हैं उन्हें पढ़ा, भूत विद्या का पंडित हूँ। खूब कमाता हूँ, किसी बात की कमी नहीं है, परन्तु फिर भी सुखी नहीं हूँ—कारण यह है कि मैं मन्त्रवित् तो हूँ, आत्मवित् नहीं हूँ—'मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित्' इसलिए भगवन्! मैं शोक-सागर में डूबा रहता हूँ—'सः अहं भगवः शोचामि'। आप मुझे इस शोक-सागर से उबारिए—'तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु'। यहाँ नारद वही बात कह रहे हैं जो याज्ञवल्क्य घर-बार छोड़ते हुए मैत्रेयी से कह रहे हैं। याज्ञवल्क्य कह रहे हैं—मैत्रेयी, मुझे तुमसे प्यार है, परन्तु आत्मा के स्वरूप को जानने के लिए, आत्मानन्द को पाने के लिए तुमसे भी ज्यादा प्यार है क्योंकि तुम्हारे प्रति प्यार भी आत्मा के प्रति प्यार के कारण ही है।

याज्ञवल्क्य आत्मानन्द को पाने के लिए जगदानन्द को छोड़ रहे थे, परन्तु

यह आत्मा है भी या नहीं, इस प्रश्न पर विचार करने के लिए प्राचीनकाल में ब्राह्मणों की एक सभा कभी हुई थी जिसमें उस समय के प्रकाण्ड पंडित एकत्रित हुए थे। इसका उल्लेख बृहदारण्यक उपनिषद् के तृतीय अध्याय के २८वें खण्ड में पाया जाता है। याज्ञवल्क्य उस समय के श्रेष्ठतम विद्वान् थे। वहाँ लिखा है—

याज्ञवल्क्य ने कहना शुरू किया—"हे ब्राह्मणो! वनस्पतियों में जैसे वृक्ष है, ठीक इसी तरह प्राणियों में 'पुरुष' है। जैसे वृक्ष के 'पत्ते' हैं वैसे पुरुष के 'लोम' हैं, जैसे वृक्ष की बाहरी 'वल्कल' है वैसे पुरुष की 'त्वचा' है, जैसे वृक्ष की वल्कल को काटने से 'गोंद' निकलती है वैसे पुरुष की त्वचा के आहत होने से 'रुधिर' बहता है, जैसे वृक्ष की वल्कल के नीचे 'नर्म तहें' होती हैं वैसे पुरुष की त्वचा के नीचे 'मांस' है, जैसे वृक्ष के 'रेशे' हैं वैसे पुरुष में 'नस-नाड़ियाँ' हैं, जैसे वृक्ष में 'लकड़ियाँ' हैं वैसे पुरुष में हड्डियाँ हैं, जैसे वृक्ष के भीतर 'गूदा है' वैसे पुरुष में 'मज्जा' है। परन्तु हे ब्राह्मणो! यह बतलाओ कि जब वृक्ष को काट गिराते हैं तब वह तो अपनी जड़ से फिर उठ खड़ा होता है, परन्तु जब मनुष्य को मृत्यु काट गिराती हैं तब वह फिर किस मूल से उठ खड़ा होता है? अगर कहो कि पुरुष मरकर 'वीर्य' से पुनर्जन्म लेता है, तो यह बात बनती नहीं क्योंकि वीर्य तो जीवित पुरुष में ही होता है। अगर पुरुष के मर जाने पर भी उसका वीर्य बना रहता, तो मरने पर भी वृक्ष की तरह वीर्यरूपी बीज से उसका पुनर्जन्म हो सकता, परन्तु पुरुष के मर जाने पर उसका वीर्य भी उसके साथ ही नष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त अगर वृक्ष के मूल को नष्ट कर दिया जाय, तो वह फिर उत्पन्न नहीं हो सकता। हे ब्राह्मणो! यह बतलाओ कि मृत्यु जब पुरुष को समूल नष्ट कर देती है, तब वह पुनर्जन्म कैसे ले लेता है?"

क्योंकि याज्ञवल्क्य तथा वैदिक विचारधारा के माननेवाले उस काल के सभी विद्वान् पुनर्जन्म को मानते थे, इसलिए वहाँ उपस्थित सब विद्वान् सोच में पड़ गये और याज्ञवल्क्य के प्रश्न को सुनकर चारों तरफ स्तब्धता छा गई। तब याज्ञवल्क्य ने स्वयं ही उत्तर देना शुरू किया। याज्ञवल्क्य ने कहा—

"हे ब्राह्मणो! पुरुष के अन्तर्निहित यह आत्मा 'जात' ही है, 'जात' अर्थात् सदा बना रहनेवाला। वह कभी उत्पन्न ही नहीं होता, फिर उसके दुबारा उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वह आत्मा विज्ञानमय है, आनन्दमय है, वही हम सबका परमधाम है। उसी के लिए यह भौतिक जगत् है, वह इस भौतिक जगत् के लिए नहीं है।" याज्ञवल्क्य ने घर-बार छोड़ते हुए मैत्रेयी को जो उपदेश दिया उसका सार यही था कि जो-कुछ है उस आनन्दमय आत्मा को पाने के लिए रचा गया है। संसार के झंझट उस आत्मा को पाने की सीढ़ियाँ हैं। धन-धान्य, पति-पत्नी, पुत्र-कलत्र, भौतिक सम्पत्ति से हमारा प्यार है—इसमें सन्देह नहीं, परन्तु इस प्यार का लक्ष्य उस प्यार को पाना है जिसे पाने के लिए यह सब रचा गया

है। इस सबसे प्यार करो, इन्हें प्यार न करना होता तो इन्हें रचा ही क्यों जाता ? परन्तु इन तक रुक नहीं जाना, इन सबको लक्ष्य तक पहुँचने के लिए साधन समझना। जब याज्ञवल्क्य यह कहते हैं कि—'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'—तब इसका यही अभिप्राय है। अगर उनका यह अभिप्राय होता कि दुनिया तो मतलब की है, तो वे धन-सम्पत्ति को छोड़कर जंगल की राह क्यों लेते ? उनका अभिप्राय यह है कि भौतिकवादी के लिए दुनिया मतलब की है, अपना उल्लू सीधा करने की है, अध्यात्मवादी के लिए दुनिया आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिए है क्योंकि दुनिया को पाकर ही दुनिया को छोड़ा जा सकता है, भौतिकवाद से पेट भरकर ही उसकी निरर्थकता को जाना जा सकता है।

आत्मवाद के विचार ने भारतीय विचारकों को इतना पकड़ लिया था कि उनका हर कथन आत्मवाद के रंग में रंगा हुआ है। गीता में आत्मा के सम्वन्ध में चार शब्द पाये जाते हैं—आत्मरत, आत्मतृप्त, आत्मकाम तथा आत्मतुष्ट। इन चार शब्दों के विरोध में एक शब्द पाया जाता है—आत्महन। उनकी दृष्टि में संसार की अन्तिम सत्ता एवं यथार्थ सत्ता प्रकृति नहीं, आत्मा है। यह भौतिक शरीर आत्मा का चोला है, यह भौतिक जगत् परमात्मा का चोला है। शरीर वदलता है, भौतिक जगत् वदलता है; आत्मा अपरिवर्तनशील है, नित्य है; परमात्मा अपरिवर्तनशील तथा नित्य है। शरीर आत्मा का साधन है, भौतिक-जगत् परमात्मा का साधन है। बृहदारण्यकोपनिषद् (२-४५) में तो लिखा है—**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः**—मनुष्य अगर कुछ देखे तो आत्मा को देखे, अगर कुछ सुने तो आत्मा के विषय में सुने, अगर कुछ सोचे तो आत्मा के विषय में सोचे, अगर किसी वस्तु का ध्यान करे तो आत्मा का ध्यान करे। संसार के किसी विचारक ने और संसार की किसी विचारधारा ने आत्म-चिन्तन पर इतना बल नहीं दिया जितना वैदिक विचारधारा ने दिया है। अन्य विचारधाराओं में जीवन का सिर्फ भौतिक पक्ष रहा है, वैदिक विचार-धारा में जीवन का भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों पक्ष रहे हैं, किन्तु आत्मा का चिन्तन सर्वोपरि पक्ष रहा है। इस प्रकरण में गीता में एक श्लोक वड़े मार्के का है—

यस्तु आत्मरतिः एव स्यात् आत्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मनि एव संतुष्टः तस्य कार्यं न विद्यते।। (३-१७)

वह व्यक्ति 'आत्मरत' है जो आत्म-ज्ञान में ही लीन है; जिस व्यक्ति की सब कामनाओं की तृप्ति आत्म-ज्ञान से हो जाती है, उसमें उसका पेट भर जाता है वह 'आत्मतृप्त' है; जो व्यक्ति आत्म-ज्ञान से ही सन्तुष्ट है वह 'आत्मतुष्ट' है। ऐसे 'आत्मकाम' व्यक्ति के लिए दुनिया में पाने लायक और क्या रह जाता है क्योंकि संसार में जो-कुछ भी पाने लायक है, वह आत्मज्ञान ही है। जो व्यक्ति

इससे विपरीत दिशा में चलते हैं उनके लिए ईशोपनिषद् ने एक दूसरे शब्द का प्रयोग किया है—'आत्महन', अर्थात् आत्म-ज्ञान को प्राप्त करने के स्थान में आत्मा का हनन करना। वहाँ कहा है—'**असुर्या नाम ते लोकाः अन्धेन तमसावृताः तांस्ते प्रेत्याभि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः**' (३) जो व्यक्ति आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के स्थान में उसकी उपेक्षा करते हैं वे 'आत्महन' कहलाते हैं, और सांसारिक भोग भोगते हुए भी भिन्न-भिन्न प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक कष्ट भोगते हैं। याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी को छोड़ दिया, अपने धन-सम्पत्ति को छोड़ दिया, उस संसार को छोड़ दिया जिसके साथ वह अब तक चिपटा बैठा था, और जब उससे पूछा गया कि तुम उस सबको क्यों छोड़ रहे हो जिसके पीछे दुनिया दीवानी हुई भागती फिरती है, तब उसने जो शब्द कहे वे स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य हैं। कहा—'**आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति**'।

□

समदुःखसुखे भूत्वा न त्वं शोचितुमर्हसि

संसार दुःखमय है। मेरे एक मित्र हैं जो यौवन में इतने खुशदिल थे कि बात-बात में उन्हें सुनकर हँसी के फव्वारे छूटते थे। मैं कभी सोच भी नहीं सकता था कि उन्हें कभी गमगीन देखूँगा। जब मिलते हँसते हुए मिलते और मुझे भी हँसा देते। कुछ दिन हुए जब मैं उनके घर गया तो चारपाई पर पड़े आहें भर रहे थे। मैंने पूछा—क्या हुआ ? बोले—मत पूछो, दुःख में परेशान हूँ। कहने लगे कि मैं समझता था संसार में सुख ही सुख है, खुशी ही खुशी है, परन्तु जब से पुत्र का देहान्त हुआ है, आँखों के सामने अँधेरा छा गया है, जीवन की इच्छा ही जाती रही है। मैंने कहा—जीना-मरना हुआ ही करता है, इतने परेशान क्यों होते हो ? मैंने उन्हें बुद्ध की कथा सुनाई—

महात्मा बुद्ध के पास एक देवी आयी जिसका पुत्र मर चुका था, इससे वह व्याकुल थी, अत्यन्त दुःखी थी। उसे किसी ने कहा था कि बुद्ध भगवान् मुर्दों को जिन्दा कर देते हैं। वह स्त्री बुद्ध भगवान् के पास आकर सिर पटक-पटककर रोने लगी और कहने लगी कि मेरे पुत्र को जिन्दा करो, नहीं तो मैं तड़पते-तड़पते प्राण त्याग दूंगी। बुद्ध भगवान् ने कहा—मैं तुम्हारे पुत्र को एक शर्त पर जिन्दा कर सकता हूँ, वह शर्त यह है कि ऐसे घर से दूध लाओ जिसमें पहले कोई न मरा हो। वह स्त्री खुशी-खुशी एक कटोरा लेकर ऐसा दूध लेने के लिए घर-घर जाने लगी। दूध तो बहुत घरों में था, परन्तु जब कोई देने लगता तो वह पूछती—तुम्हारे घर कोई मरा तो नहीं ? यह सुनकर कि किसी का पुत्र, किसी की स्त्री, किसी का पति मर चुका है, वह आगे चल देती। इस प्रकार घर-से-घर भटकते हुए कई दिन बीत गये। जब उसे कोई घर नहीं मिला, वह निराश होकर बुद्ध भगवान् के पास लौट आयी, और चरणों के सिर धरकर कहने लगी—अब मेरा दुःख जाता रहा। जब सभी के यहाँ ऐसा दुःख है तब मेरे लिये भगवान् क्यों अपवाद करेगा ?

असल में हम दुःखी तब होते हैं जब हम दूसरों को अपने से सुखी देखते हैं, परन्तु हमें पता नहीं होता कि दूसरे जो हमें सुखी दीखते हैं उनके भीतर क्या दुःख छिपा है। हर व्यक्ति छाती में कोई-न-कोई दुःख लिये हुए है। ऊपर से हम हँसते हैं, भीतर से रोते हैं। अगर कोई हमारे भीतर प्रवेश पा सकता तो देख

सकता कि हमारी हँसी हमारा भीतरी दुःख छिपाने के लिए है। अन्तर सिर्फ इतना है कि हमारे दुःख से हम परिचित हो चुके हैं इसलिए उस दुःख के साथ रहने की हमें आदत पड़ चुकी है, अन्यथा जैसे हम अपने दुःख को छिपाये फिरते हैं वैसे दूसरे भी अपने दुःख को उपरालू हँसी के पीछे छिपाये हुए हैं। इस तथ्य को एक कथानक का रूप देते हुए एक लेखक ने लिखा है :

एक दुःखी व्यक्ति था। उसने एक रात परमात्मा से प्रार्थना की कि मैं तुझसे यह नहीं कहता कि मुझे मेरे किये का दुःख न दे, मेरी तो सिर्फ इतनी प्रार्थना है कि मुझे सबसे ज्यादा दुःख न दे। संसार के सब लोग हँसते-खेलते दिखलाई देते हैं, लेकिन मैं ही अकेला इतना दुःखी हूँ कि और अधिक सहा नहीं जाता। अगर दूसरे भी दुःखी हैं और फिर भी हँसते-फिरते हैं, तो दूसरों का दुःख मुझे दे दे और मेरा दुःख दूसरों को देकर अदला-बदली कर दे।

जब रात को वह सोया तो उसने एक सपना देखा। एक बहुत बड़ा भवन है जिसकी दीवार पर अनगिनत खूँटियाँ गड़ी हैं। यह घोषित किया जा चुका है कि सब लोग अपने-अपने दुःखों को पोटली में बाँधकर जिस खूँटी पर चाहें लटका दें, उनके दुःखों की पोटलियों को दूसरे के दुःखों की पोटलियों से अदला-बदला कर दिया जायगा। सभी व्यक्ति अपने-अपने दुःखों की पोटली बाँधे चले आ रहे थे। जिनको वह हँसता-खेलता देखता था, इस स्वप्न में वे भी अपने दुःखों की पोटली बाँधे और उसे पीठ पर लटकाये चले आ रहे थे। उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि जितनी उसके दुःखों की गठरी थी उतनी ही अन्य सबकी थी, किसी की बड़ी न थी, किसी की छोटी न थी। उसका पड़ोसी जो रोज हँसता-खेलता-मुस्कराता था, जिसे वह पूछता था, कहो क्या हाल हैं, वह कहता था बड़े मजे में कट रही है, वह भी अपने दुःखों की गठड़ी लिये चला आ रहा था। नेता भी गठरी लिये चले आ रहे थे, अनुयायी भी, गुरु भी, चेले भी, चोर भी, महात्मा भी। सब ने अपने-अपने दुःखों की पोटली जिस खूँटी में चाही लटका दी। इस सपनेवाले दुःखी व्यक्ति को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि जिन्हें वह सुखी समझता था वे भी अपने दुःखों की पोटली बाँधे उन्हीं खूँटियों पर लटका रहे थे।

इतने में घोषणा हुई कि जो जिसकी दुःखों की पोटली चाहे चुन ले। इतने में क्या देखते हैं कि दुःखों की पोटली टाँगनेवाले सब भागे-भागे आये और सबने अपनी ही पोटली उठाई, किसी दूसरे की नहीं उठाई। इसका कारण यह था कि सबको अपने दुःखों का तो पता था, दूसरों के दुःखों का पता नहीं था। सब यह सोचने लगे कि अपने दुःख तो ज्ञात हैं, दूसरे की पोटली उठा लेने पर न जाने कितने और दुःख पल्ले पड़ जायें ! अपने दुःखों को सहन करने की शक्ति आ गई है, दूसरों के न जाने कितने गहरे दुःख होंगे !

हमने कहा था कि हम दुःखी इसलिए रहते हैं क्योंकि दूसरे हमें सुखी

दिखलाई देते हैं। असल में कोई-न-कोई दुःख सबके साथ लगा है। नानक ने ठीक कहा था—'नानक दुखिया सब संसार'। हमें दूसरे का दुःख दीखता नहीं इसलिए हम दूसरों को सुखी समझते हैं।

दुःख का एक प्रयोजन है। कबीर की उक्ति है—"दुःख में सिमिरन सब करैं सुख में करै न कोय, सुख में सिमिरन जो करै दुःख काहे को होय"। हमारा जीवन भौतिकवाद में इतना डूबा रहता है कि बिना चोट खाए हमें समझ ही नहीं पड़ता कि इस विश्व का संचालन करनेवाली कोई दूसरी शक्ति है। जब कष्ट होता है—शारीरिक हो, मानसिक हो—तब डॉक्टर की याद आती है। कष्ट न हो, तो हमीं अपने को राजा समझते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में, भले ही वह कितना सुख से चल रहा हो, ऐसे क्षण आते हैं जब वह पार्थिव जगत् में डूबना छोड़कर उस सृष्टि-कर्ता को आहें भरकर पुकारता है और नत-मस्तक होकर अनुनय-विनय करता है कि प्रभो! इस संकट से उबारो। नास्तिक-से-नास्तिक के जीवन में भी ऐसे क्षण आते हैं। परमात्मा ने प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कोई-न-कोई काँटा घुसेड़ रखा है जिसकी टीस उसे सताती रहती है और उस छटपटाहट में वह भगवान् को याद करता है। अगर जीवन में कोई दुःख न हो तो कौन उसे याद करे? इसका यह मतलब नहीं कि परमात्मा जान-बूझकर ऐसे काँटे चुभोता रहता है ताकि लोग उसे याद करें। भौतिक संसार को ही अन्तिम सत्ता मान लेना असत्य है। सत्य यह है कि संसार भी है, संसार को बनानेवाला भी है। क्योंकि संसार की चमक-दमक लुभावनी है, इसलिए मनुष्य इसकी तरफ खिंच ही जाता है। इसकी तरफ खिंचने तथा इसमें ही डूबे रहने से वे काँटे स्वयं उग आते हैं जिनकी पीड़ा से मनुष्य को संसार भुलाकर भगवान् को याद करना पड़ता है। संसार के विषय-भोग आनन्द तो देते ही हैं, परन्तु उनसे तृष्णा भी जागती है, असन्तोष भी उठता है। अशान्ति तथा बेचैनी एवं चिन्ता भी उपजती है। इनके उत्पन्न होने से ही अपने-आप वह काँटा जन्म ले लेता है जो भौतिकवादी, विषय-युक्त जीवन को कंटकमय बना देता है। जब जीवन कंटकमय बन जाता है तब आदमी दुःखमग्न होकर पुकार उठता है—हे भगवन्! इस दुःखमय भव-सागर से उबारो। हमारे कष्टों में घिर जाने में भगवान् का यह स्वार्थ नहीं है कि हमें काँटा चुभे और हम उसे याद करें। हम अपने दुष्कर्मों से काँटों को खुद बोते हैं और जब वे हमें सताने लगते हैं तब हम भगवान् को पुकारते हैं।

परन्तु इस दुःख से उबरा भी जा सकता है। दुःखों से उबरने के लिए यह समझना होगा कि दुःख क्या है, सुख क्या है? दुःख-सुख दोनों अनुभव का विषय हैं। हमें जो अनुभव होता है—अच्छा या बुरा, सुख या दुःख—उसकी मनो-वैज्ञानिक व्याख्या क्या है? भारतीय दार्शनिकों ने प्रश्न उठाया है कि बाह्य विषय का ज्ञान कैसे होता है? इन्द्रिय बाह्य-विषय को देखती, सुनती, छूती है—

इससे वाह्य विषय देखा जाता है, वाह्य शब्द सुना जाता है, वाह्य वस्तु का स्पर्श किया जाता है। देखने, सुनने, छूने से बाह्य पदार्थ का ज्ञान होता है। परन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि आँख खुले रहने पर, कान ठीक होने पर, वस्तु को छूने पर भी वाह्य विषय का ज्ञान नहीं होता। ऐसी हालत में इसका उत्तर देते हुए उपनिषद् ने कहा है—'अन्यत्र मनाभूवम् नादर्शम् नाश्रौषम्' मेरा मन कहीं और था इसलिए आँखों के खुले होने पर न देख सका, न सुन सका। इसका यह अर्थ है कि देखती आँख नहीं, मन देखता है, सुनते कान नहीं मन सुनता है, छूते हाथ नहीं मन छूता है। परन्तु फिर प्रश्न उठता है कि मन जिस वस्तु को देखता-छूता है, उसका क्या रूप है ? मन अगर एक काली गेंद को देखता है तो वास्तव में तो काली गेंद को नहीं उसके गुणों को देखता है। वह कालेपन को देखता है, गोलाई को देखता है, और इन गुणों को मिलाकर जिस वस्तु की कल्पना करता है उसे हम काली गेंद कह देते हैं। मन तो आँख आदि के माध्यम से कुछ गुणों को देखता है, वे गुण उस वस्तु में हो सकते हैं, अन्य वस्तुओं में भी हो सकते हैं। जिन गुणों को वह इन्द्रियों के माध्यम से देखता है उनका समन्वय कर वह उन्हें एक नाम दे देता है जिसे हम एक वस्तु कह देते हैं। दार्शनिक दृष्टि से देखा जाय तो मन सिर्फ गुणों को देखता है, गुणी को नहीं देखता, गुणी को एक नाम दे देता है। गुण गुणी से अलग होता है, गुण गुणी में होते हैं।

शरीर में लम्बाई है, चौड़ाई है, ऊँचाई है, कालापन है, गोरापन आदि गुण हैं। चेतना में या मन में ये सब नहीं हैं। चेतना या मन का शरीर के साथ इतना गहरा सम्बन्ध है कि शरीर के गुण चेतना में आरोपित हो जाते हैं। जिस गुणी में लम्बाई-चौड़ाई-ऊँचाई-कालापन-गोरापन आदि गुण पाये जाते हैं उसे हम शरीर कह देते हैं और उसी में सुख-दुःख भी पाये जाते हैं। काँटा लगता तो है शरीर को, परन्तु मन उसे अपना समझ लेता है। अपना समझ लेने से परिणाम यह निकला कि जैसे लम्बाई-चौड़ाई-ऊँचाई आदि मन में नहीं होते, मन के बाहर शरीर में होते हैं, मन उन्हें अपना लेता है, वैसे सुख-दुःख भी मन के बाहर होते हैं, शरीर में होते हैं, अर्थात् सुख-दुःख मन का या चेतना का धर्म नहीं, शरीर का धर्म है, क्योंकि गुणों का आधार तो बाहर है, शरीर में है। जो व्यक्ति यह समझ जाता है कि सुख-दुःख आदि सब गुण बाहर हैं, चेतना में नहीं, वह अनुभव कर लेता है कि सुख तो बाहर है, दुःख भी बाहर है, चेतना या मन में नहीं, शरीर में है, वह व्यक्ति सुख-दुःख में समान व्यवहार करता है। उसके लिए सुख सुख नहीं, दुःख दुःख नहीं, क्योंकि ये दोनों मन या आत्मा के गुण नहीं हैं, शरीर के गुण हैं। ऐसी स्थिति के लिए गीता ने कहा है : 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते' —जिसके लिए सिद्धि या असिद्धि एक-समान हो जायें उसने योग के रहस्य को समझ लिया। इसी के लिए अर्जुन को युद्ध की प्रेरणा देते हुए श्रीकृष्ण ने कहा है :

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥
(गीता २-३८)

हे अर्जुन! सुख हो, दुःख हो, लाभ हो, हानि हो, जय हो, पराजय हो— इनका ध्यान न करो, मन में ठान लो कि जय प्राप्त करनी है, बस यह निश्चय करके युद्ध में अनासक्त-भाव से जुट जाने पर तुम्हें पाप नहीं लगेगा।

प्रश्न यह कि क्या यह सम्भव है कि मनुष्य शरीर तथा मन अथवा चेतना या आत्मा की पृथकता को समझे और अनुभव करे कि दुःख शरीर को होता है, मन, चेतना या आत्मा को नहीं? यथार्थ सत्य तो यह है कि ये दोनों तत्त्व अलग-अलग हैं, शरीर अलग है, मन-चेतना-आत्मा अलग हैं। जैसा हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं, अगर शरीर और मन आदि एक ही हों तो आँख खुले होने पर भी हम यह नहीं कहते कि मेरे सामने जनता की भीड़ थी परन्तु मैं देख नहीं पाया, मेरे सामने बाजा बज रहा था परन्तु मैं सुन नहीं पाया, मैं एक आदमी के साथ सटा खड़ा था परन्तु मैं उसका स्पर्श अनुभव कर न सका। अगर शरीर अलग है और चेतना अलग है तो इस बात की सिद्धि प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये कि जो सत्य और तथ्य है उसी को हम जानें और अनुभव करें, इसके विपरीत जो हम अनुभव करते हैं वह मिथ्या है। रामायण में श्री रामचन्द्र जी के जीवन का उल्लेख करते हुए लिखा है :

आहूतस्याभिषेकाय प्रस्तुतस्य वनाय च।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः॥

जब रामचन्द्र जी को कहा गया कि कल तुम्हें राज्याभिषेक होगा, और उसके बाद उसी दिन जब मन्थरा के षड्यन्त्र तथा कैकेयी के आग्रह पर उन्हें कहा गया कि तुम्हें चौदह साल का वनवास होगा, तब उनके चेहरे पर न पहले खुशी दिखलाई दी, न पीछे बनवास जाने का आदेश सुनकर रंज दिखलाई दिया। दोनों अवस्थाओं में वे एक-रस दीखते थे। ऐसी अवस्था का होना दुर्लभ है, परन्तु यही यथार्थ सत्य है और यही जीवन का गुर है। इसी भाव को प्रकट करते हुए कहा गया है—'सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता"—सम्पत्ति हो या विपत्ति हो, महान् पुरुष वे ही हैं जिनमें एकरूपता बनी रहती है, न सम्पत्ति आने पर उछल-कूद मचाते हैं, न विपत्ति आने पर रोने-धोने लगते हैं। दोनों अवस्थाओं में वे एक-समान बने रहते हैं।

सबसे बड़ी समस्या दुःख में अपने सम-भाव को न खो देना है। भारतीय संस्कृति में इस प्रकार के सम-भाव को बनाये रखने के लिए गृहस्थाश्रम के बाद वानप्रस्थाश्रम का विधान था। प्रत्येक व्यक्ति संन्यासी हो न हो, वानप्रस्थी तो होता ही था। वानप्रस्थाश्रम का मतलब घर-बार छोड़कर जंगल में जा बसना

है। आजकल जंगल ही न रहे तो जंगल में कौन जा बसे ? वानप्रस्थाश्रम का अभिप्राय यह है कि मनुष्य एक ऐसी अवस्था में पहुँच जाय जब उसे शरीर तथा चेतना के पृथक्-पृथक् अस्तित्व की अनुभूति हो जाय, यह समझ जाय कि अगर सुख है तो शरीर को हो रहा है, अगर दुःख है तो शरीर को हो रहा है, शरीर के दुःख को वह मन, चेतना या आत्मा का दुःख न समझें। ऐसी अवस्था को आत्म-ज्ञानी प्राप्त कर लेते हैं। निस्सन्देह यह विलक्षणता है, परन्तु विलक्षणता आसानी से प्राप्त नहीं होती, यद्यपि जैसा हमने ऊपर कहा सत्य-ज्ञान यही है।

सुकरात ग्रीस का एक तत्त्व-ज्ञानी हुआ। उसपर दोष लगाया गया कि वह नवयुवकों को बहकाता है और देशद्रोही बनाता है। उसे मृत्यु-दण्ड दिया गया। मृत्यु-दण्ड देते हुए उसे विष का प्याला पीने को दिया गया जो धीरे-धीरे एक-एक अंग पर सुन्नता का प्रभाव डालता था। उसने वह प्याला पिया। उसके शिष्य साथ खड़े थे। पहले उसकी टाँगों में संज्ञाशून्यता आयी। उसने कहा मेरी टाँगें मर गई हैं, परन्तु मैं जीता हूँ। धीरे-धीरे एक-एक अंग मृत होता गया। वह कहता था कि मेरे हाथ मर गये परन्तु मैं जीता हूँ, मेरा अमुक अंग मर गया परन्तु मैं जीता हूँ। उसने शरीर तथा आत्मा के भेद को समझ ही नहीं लिया, देख भी लिया।

(जो देश के दीवाने देश-भक्ति के कारण हँसते-हँसते फाँसी की रस्सी पर झूल जाते हैं, वे आत्म-दर्शी हैं क्योंकि वे शरीर तथा आत्मा के भेद को समझ जाते हैं, सिर्फ कहने को ही नहीं, फाँसी पर झूलते हुए भी इसीलिए हँस देते हैं।

गीता में ठीक ही कहा है : 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि, तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि अन्यानि संयाति नवानि देही"—(२-२२) जैसे कपड़ों के पुराना हो जाने पर मनुष्य उन्हें उतार फेंकता है, वैसे शरीर के जीर्ण-शीर्ण हो जाने पर चेतना-मन-आत्मा नया शरीर धारण कर लेता है।) इस सब का अभिप्राय यह है कि सब ज्ञानों का सर्वोपरि ज्ञान शरीर तथा आत्मा के भेद को जानना है। शरीर में दुःख होता है, शरीर में सुख होता है, शरीर के सुख-दुःख को आत्मा अपना समझ लेता है, इस भ्रम को तोड़ देने से शरीर के दुःख से न व्यक्ति दुःखी होता है, शरीर के सुखी होने से न व्यक्ति सुखी होता है, सम-भाव उसके जीवन का गुरुमन्त्र बन जाता है। ऐसा ही जीवन सफल जीवन है, यथार्थ जीवन है। इस गुरु-मन्त्र को आत्मसात् कर लेने से दुःखों का अम्बार आने पर भी मनुष्य को दुःख नहीं होता, वह सम-भाव से बना रहता है।

□
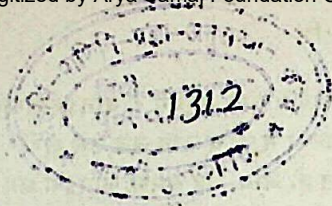
पश्येमे हिमवन्तो महित्वा

मनुष्य की अभिलाषा यह होती है कि वह इतनी उन्नति करे कि दूसरा कोई उसकी ऊँचाई तक न पहुँचे। प्रत्येक मानव की इसी अभिलाषा को उक्त पद-वाक्य में कहा गया है—'तेरे सामने दूसरा कोई न टिक सके, परन्तु तू इतने ऊँचे पर पहुँच जाय कि सब तेरे सामने सिर झुका दें'। इसकी एक टैक्नीक है, एक उपाय है। मनुष्य जिस क्षेत्र में हो उसमें सबसे ऊँचा ही रहे, नेता बनकर रहे, तभी जीवन सफल कहा जा सकता है, अन्यथा कीड़ों-मकौड़ों की तरह मनुष्य पैदा होते हैं और मर जाते हैं। मानव का जीवन हिमालय की चोटी-सरीखा महिमाशाली हो। हिमालय की-सी ऊँचाई तक पहुँचने की जो टैक्नीक है वह क्या है?

इंगलैंड में १८८६ में एक विचारक हुए जिनका नाम आरनॉल्ड जोजफ़ तोयनबी था। १९५४ में उन्होंने एक ग्रन्थ लिखा जिसका नाम 'ए स्टडी ऑफ हिस्ट्री' है। यह समाजशात्र का अद्वितीय ग्रन्थ है। कई लोग तो उन्हें वर्तमानयुग का पैगम्बर मानते हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ में संसार के इतिहास में काम कर रहे नियमों का निर्धारण किया है जिनसे इस प्रश्न पर प्रकाश पड़ता है कि व्यक्ति तथा समाज की उन्नति किस टैक्नीक के आधार पर होती है। उनका कहना यह है कि जो व्यक्ति किसी देश के नेता बनते हैं या जो देश अन्य सब देशों से आगे निकल जाते हैं, सबके शिरोमणि हो जाते हैं, उनकी उच्च शिखर पर पहुँचने की टैक्नीक यह है कि जिस विपरीत परिस्थिति में वे होते हैं उसे अपने प्रति चैलेंज समझकर उसके साथ जी-जान से जूझ जाते हैं, उससे लड़ते हैं, हार नहीं मानते, और प्राणपण से इस जूझने में उनके भीतर से दैवीय शक्ति उत्पन्न होती है जो उन्हें सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा देती है। इस सिद्धान्त को उन्होंने 'चुनौती तथा प्रत्युत्तर' (Challenge and Response) का नाम दिया है।

चुनौती दो तरह की हो सकती हैं—भौतिक तथा सामाजिक। भौतिक चुनौती परिस्थिति के रूप में दो तरह की हो सकती है। एक परिस्थिति तो वह है जिसमें कोई जाति या देश चारों तरफ से बंजर जमीन, बाढ़, चारों ओर पहाड़, जंगल-ही-जंगल से घिरा है। इस परिस्थिति की ललकार का उसे सामना करना पड़ता है। मनुष्य जब इन परिस्थितियों में अपने को घिरा पाता है तब इन पर

विजय पाने के लिए उसमें असीम शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। वह बंजर को उपजाऊ बनाता है, नदियों पर पुल बाँधता है; पहाड़ों को खोदता और वहाँ रहने-योग्य मकान बनाता है। जहाँ उसके सामने विषम परिस्थिति नहीं होती वहाँ उसमें निहित दैवीय शक्ति भी सोई रहती है, वह हाथ-पर-हाथ रखे बैठा रहता है। अदन के बाग में जहाँ दूध-दही की नदियाँ बहती हैं, मानवीय शक्ति का प्रस्फुरण नहीं होता। विकास होता है नदी-नालों-पहाड़ों-जंगलों-शेर-चीतों का मुकाबिला करने में। ऐसी भी भौतिक परिस्थिति हो सकती है जहाँ उपजाऊ भूमि है, धन-धान्य से समृद्ध है, परन्तु हमसे दूर है, जहाँ पहुँचने के लिए हमें नदियाँ, समुद्र, पहाड़ और जंगल पार करने पड़ते हैं। इस समृद्धि की पुकार को सुनकर हम किश्ती या जहाज बनाकर वहाँ पहुँचते हैं, हवाई जहाज तक बना लेते हैं। सोलहवीं तथा सत्रहवीं सदी में इसी प्रकार के नवीन-नवीन देशों की खोज हुई और इंग्लैंड की-सी दूरी से यूरोपियन सोने की चिड़िया भारत का नाम सुनकर यहाँ पहुँचे। परिस्थिति की ललकार सुनकर ही उन देशवासियों में जो अदम्य शक्ति उत्पन्न हुई उसका परिणाम है आज इंग्लैंड, हालैंड आदि देश समृद्ध हैं।

भौतिक चुनौती की तरह सामाजिक चुनौती भी होती है। सामाजिक चुनौती तब उत्पन्न होती है जब मानव की मानव से टक्कर होती है। यह तीन तरह की हो सकती है। एक चुनौती तब होती है जब दो मानव-समूहों की टक्कर में एक जीत जाता है, दूसरा हार जाता है। इस टक्कर में जो हारता है वह हार के कारणों की खोज में व्यग्र हो उठता है, अपनी कमजोरियों को ढूंढ निकालता है, उन्हें दूर कर फिर टक्कर के लिए उठ खड़ा होता है। इस बार वह अपनी कमियों को दूर कर चुका होता है, इसलिए इस बार वह मैदान में विजयी होकर हटता है। सामाजिक परिस्थिति की दूसरी चुनौती वह होती है जिसमें किसी देश के प्रान्तवर्ती भाग में रहनेवाले लोग हर समय साथ के दुश्मन के लोगों के आक्रमणों से खतरे में बने रहते हैं। उन्हें क्योंकि खतरा बना रहता है, इसलिए वे उन लोगों से ज्यादा मजबूत, क्रियाशील और कुशल होते हैं जिन पर कोई खतरा ही नहीं होता। उदाहरणार्थ, उत्तरप्रदेश तथा फ्रंटियर के लोगों में बड़ा भेद है। हर देश में फ्रंटियर के लोग तगड़े, मजबूत, साहसी पाये जाते हैं, बात-बात में लड़ाई मोल लेते हैं; दूसरे लोग नर्म स्वभाव के होते हैं। सामाजिक परिस्थिति की तीसरी चुनौती तब प्रकट होती है जब एक समाज दूसरों को दबाकर, उनके अधिकारों को छीनकर, उन्हें मानो उनकी अयोग्यता का दण्ड देकर दबाता है, दास बना लेता है।

ऊपर हमने जो-कुछ कहा उसका यह अभिप्राय है कि चुनौती जितनी जबरदस्त होगी उतनी ही अन्तर्निहित दैवीय शक्ति के प्रबल रूप से उभरने की

सम्भावना है। मनुष्य को कठोर चुनौती का सामना करने के लिए उद्यत रहना चाहिए। जो चुनौती देखकर घबड़ा जाते हैं या चुनौती का सामना करने से भाग जाते हैं, वे जीवन में सफल नहीं हो सकते। मनुष्य के भीतर दैवीय शक्ति है हर चुनौती का सामना करने की।

चुनौती आने पर जब व्यक्ति या समाज उसका सफलता से मुकाविला करता है, चुनौती से हारता नहीं, उस पर विजय पा लेता है, तब व्यक्ति या समाज में एक विशेष प्रकार की क्रिया-शक्ति फूट पड़ती है, मानो उसमें अब तक जो शक्ति अवरुद्ध पड़ी हुई थी उसका स्रोत उमड़ पड़ता है। ऐसा व्यक्ति या ऐसा समाज नित-नित आनेवाली कठिनाइयों को चकनाचूर कर देता है। वह शक्ति भौतिक न होकर आध्यात्मिक है। वह शक्ति बाह्य बाधाओं के साथ टक्कर लेती है, आन्तरिक बाधाओं का भी वह मुकाविला करती है। बाधाओं के साथ टक्कर लेने पर उत्पन्न होनेवाली यह सूक्ष्मशक्ति अध्यात्म-शक्ति है जो भौतिक नहीं है क्योंकि वह हर प्रकार की भौतिक बाधाओं को परास्त कर देती है।

इस स्थल पर हमारा ध्यान भौतिक चुनौती तथा सामाजिक चुनौती से हटकर वैयक्तिक चुनौती की तरफ जाता है। समाज के सम्मुख जब कोई चुनौती आती है और समाज उस चुनौती का सफलता से मुकाविला करता है, तब उस चुनौती से टक्कर लेनेवाले समाज के कुछ गिने-चुने व्यक्ति होते हैं। चुनौती का मुकाबिला समाज द्वारा अपने-आप नहीं हो जाता; इस मुकाविले के साधन, इसके अगुआ होते हैं कुछ विशिष्ट व्यक्ति, मौलिक गुणोंवाले कुछ निर्माणशील विचारक, समाज के नेता। समाज की बाधाओं को देखकर जिन गिने-चुने व्यक्तियों के हृदय में टीस उठती है, जिनके हृदय में समाज की हीन दशा देखकर चुनौती जोर मारती है वे आत्मिक शक्ति के बल पर उठ खड़े होते हैं और सामान्य जन उन्हें नेता मानकर उनके आत्मिक बल का कुछ हिस्सा पाकर चुनौती का सामना करने के प्रयाण में शामिल हो जाते हैं।

मानव-समाज की विषम समस्याओं को देखकर जिनके हृदय में चोट लगती है और जो उस चोट को अपने जीवन के लिए चुनौती मान लेते हैं उनकी संख्या तो लगभग ५ प्रतिशत ही होती है। इन ५ प्रतिशत के हृदय में दैवीय शक्ति जाग उठती है। वे हर प्रकार के कष्ट सहने को तैयार रहते हैं, बाकी ९५ प्रतिशत तो अनुयायी ही होते हैं। जिन ५ प्रतिशत का हमने जिक्र किया वे समाज के नेता होते हैं। यद्यपि वे अल्पसंख्या में पैदा होते हैं तथापि वे ही समाज का शासन करते हैं, वे ही समाज का नियन्त्रण करते हैं। ये इने-गिने लोग समाज पर शासन तथा नियन्त्रण इसलिए कर सकते हैं क्योंकि ये मौलिक विचारक होते हैं, समाज के सम्मुख ऐसे विचार प्रस्तुत करते हैं जिन्हें समाज अपनी सत्ता तथा अस्तित्व के लिए आवश्यक समझता है। इन मौलिक विचारकों की भावनाएँ समाज के

६५ प्रतिशत व्यक्तियों में संचरित हो जाती हैं, और ये ६५ प्रतिशत व्यक्ति भी वही सोचने तथा कहने लगते हैं जो गिने-चुने ५ प्रतिशत व्यक्ति सोचते तथा कहते हैं। यह हम पहले ही लिख आए हैं कि समाज के ५ प्रतिशत व्यक्ति जो सोचते तथा कहते हैं, उसके कारण समाज की विषम समस्याओं के सम्बन्ध में उनके हृदय में चुनौती उठती है। जितनी जबरदस्त चुनौती होती है उतनी ही जबरदस्त उनकी प्रतिक्रिया होती है और इस प्रतिक्रिया में विश्व की दैवी शक्ति उनके माध्यम से समाज को झकझोर रही होती है।

ये विचारक अल्प-संख्या में होते हुए भी समाज को इसी कारण अपने वश में रख सकते हैं क्योंकि इनके विचार मौलिक होते हैं, निर्माणशील होते हैं, समाज को हर समय नवीन दिशा दिखला सकते हैं। परन्तु परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं। आज समाज की जो समस्याएँ हैं, कल उनकी जगह दूसरी समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। समस्याएँ बदलती रहती हैं। इन सबके समाधान के लिए मौलिकता को बनाये रखना आवश्यक है। ये नेता लोग मौलिकता को कैसे बनाये रख सकते हैं ? मौलिकता को बनाये रखने का साधन साधना है। ये समाज के संघर्ष में पड़ते हैं, कुछ देर बाद समाज से अलग हो जाते हैं, एकान्त में आत्म-शक्ति को जागृत करते हैं, कुछ देर साधना करने के बाद जब उनकी आत्म-शक्ति जागृत हो जाती है, तब फिर संघर्ष के बीच आ पड़ते हैं। ईसा मसीह ने जंगल में ४० दिन तपस्या की थी, हजरत मुहम्मद भी पहाड़ पर अलग जाकर रहे थे। भारत के मौलिक विचारक महात्मा बुद्ध, ऋषि दयानन्द तथा महात्मा गांधी समय-समय पर जीवन के संघर्ष से अलग हटकर साधना करने के बाद फिर जीवन-संग्राम में आ कूदे जिससे अनुयायी जनता का मनोबल बढ़ गया। जबतक समाज के नेता अपनी मौलिकता को थामे रखते हैं तबतक ये समाज की नवीन-नवीन चुनौतियों का सम्मानतापूर्वक जवाब दे सकते हैं। जब समाज के नेताओं में मौलिकता, निर्माणशीलता नहीं रहती तब समाज में ह्रास की प्रक्रिया शुरू हो जाती है, और तब नेता लोग अपने निहित स्वार्थों की रक्षा के लिए समाज में दलबन्दी शुरू कर देते हैं। जबतक मौलिक नेता समाज में बने रहते हैं तबतक समाज उन्नति के पथ पर चलता रहता है।

धीरे-धीरे समय आ जाता है जब निर्माणशील, मौलिकताभूत अल्प-संख्या या तो मृत्यु के कारण समाप्त हो जाती है, या जिनके कन्धों पर उनका बोझ आ पड़ता है उनमें न निर्माणशीलता होती है, न मौलिकता होती है। इनका व्यवहार यान्त्रिक रूप धारण कर लेता है, इनकी अपनी कोई विशेषता नहीं रहती, लोग इनकी बातें भाव-संचार से नहीं मानते, आदतन मानते हैं। 'भाव-संचार' का अर्थ है जैसे गुरु की बात, उसकी भावना, गुरु की मौलिकता के कारण शिष्य में अपने-आप चली आती हैं, जैसे शिष्य गुरु का यांत्रिक तौर पर नहीं, उसकी महानता

के कारण अनुकरण करता है। जब नेताओं में नवीनता तथा मौलिकता नहीं रहती, तब जनता उनका अन्धानुकरण करना भी छोड़ देती है। तब नेता लोग जनता के हृदय पर शासन नहीं करते, छल-कपट से, वोटों के बल पर शासन करते हैं। ऐसा समय ह्रास का समय होता है। जब यह ह्रास चरम सीमा पर पहुँच जाता है तब समाज के फिर कुछ ५ फीसदी मौलिक विचारकों, कर्मशीलों के हृदय में विश्वात्मा की स्फुरणा होती है जो समाज में पड़े इस गन्द को साफ कर देते हैं। इसी सिद्धान्त का उद्घाटन करते हुए गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है : **"यदा यद्धा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत, अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्"।**

इस प्रकार का युग भारत में १९वीं सदी में आया जब काठियावाड़ में टंकारा ग्राम में मूलशंकर नाम के बालक का जन्म हुआ जो आगे चलकर ऋषि दयानन्द के नाम से विख्यात हुआ। उसकी कार्य-विधि फिर उन नेताओं की-सी थी जिन्होंने भ्रमित और दलित जनता को फिर उज्ज्वल शिखरों के दर्शन करा दिये। अगले अध्याय में हम उसी युगान्तरकारी की विचारधारा का उद्घाटन करेंगे।

□

ऋषि दयानन्द

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तथा अन्तिम चरण में भारत का भाग्य एक नया मोड़ ले रहा था। सदियों से सुप्त पड़ी इस देश की चेतना अव्यक्त से व्यक्त की तरफ, सुषुप्ति से जागृति की तरफ, जड़ता से प्रगति की तरफ अग्रसर हो रही थी। इस जाग्रत् चेतना की अभिव्यक्ति का क्या रूप था ? सदियों से सोई पड़ी यह चेतना जब भारत के नव-प्रभात में अँगड़ाई लेकर आँख खोलने लगी, तब १७७२ में बंगाल में राजा राममोहन राय ने और १८३४ में रामकृष्ण परमहंस तथा उसी काल के आसपास स्वामी विवेकानन्द ने जन्म लिया; १८२४ में गुजरात में महर्षि दयानन्द ने जन्म लिया; १८९३ में मद्रास में थियोसोफिकल सोसाइटी ने जन्म लिया; १८८४ में महाराष्ट्र में प्रार्थना-समाज ने और दक्खन-एजुकेशन-सोसाइटी ने जन्म लिया और इसी काल में मुसलमानों में चेतना के संचार के लिए सर सैयद अहमद ने जन्म लिया। ये सब भारत की विभूतियाँ थीं और इस देश के नव-निर्माण का सपना लेकर गंगा और हिमालय की इस देश-भूमि का सदियों का संकट काटने के लिए प्रकट हुई थीं।

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में जिन विभूतियों ने जन्म लिया उनमें से ऋषि दयानन्द पर हम आज लिख रहे हैं। ऋषि दयानन्द आए परन्तु वे समय के दास बनकर नहीं आये, समय को अपना दास बनाने के लिए आए। महापुरुष यही-कुछ करते हैं। हम समझते हैं कि हमें ज़माने के अनुसार चलना है, महापुरुष जमाने की गर्दन पकड़कर उसे अपने अनुसार चलाते हैं। वे खुद नहीं बदलते, जमाने को बदलते हैं। तोयनबी नामक प्रसिद्ध समाज-शास्त्री ने कहा है कि यह जीवन एक ललकार है, एक चैलेंज है, आह्वान है। साधारण लोग इस ललकार को सुनकर, इस चैलेंज और आह्वान को सुनकर जीवन-संग्राम से भाग खड़े होते हैं, जमाने का रंग पकड़ लेते हैं; महापुरुष जीवन की ललकार का, जीवन के आह्वान का उत्तर देते हैं। वे इस चैलेंज का जवाब देते हुए जीवन की समस्याओं के साथ जूझ जाते हैं, जूझते हुए प्राणों की बाजी लगा देते हैं, परन्तु इस संघर्ष में पीठ नहीं दिखाते, जमाने को पलट देते हैं।

ऋषि दयानन्द जब इस देश के रणांगन में उतरे, तब उन्हें चारों तरफ ललकार-ही-ललकार सुनाई दी, चारों तरफ चैलेंज ही चैलेंज नज़र आए। सबसे बड़ा चैलेंज था विदेशी राज्य का। उनके सामने ललकार उठी—क्या विदेशी राज्य को बरदाश्त करोगे ? ऋषि दयानन्द की आत्मा ने जवाब दिया—

विदेशी राज्य को वर्दाश्त नहीं करूँगा। उन्होंने राजस्थान के राजाओं को अंग्रेजी शासन के प्रति विद्रोह करने के लिए तैयार करना शुरू किया। ऋषि दयानन्द के जीवन का वहुत वड़ा भाग राजस्थान के राजाओं को संगठित करने में वीता।

१८७३ में इस देश के गवर्नर जनरल लॉर्ड नॉर्थब्रुक थे। कलकत्ता के लॉर्ड विशप ने लॉर्ड नॉर्थब्रुक तथा ऋषि दयानन्द में एक भेंट का आयोजन किया। इस भेंट में दोनों में जो वातचीत हुई उसका विवरण लॉर्ड नॉर्थब्रुक ने अपनी डायरी में लिखा। यह डायरी लन्दन में इण्डिया-हाउस में आज भी सुरक्षित है।

लॉर्ड नॉर्थब्रुक ने कहा—"पण्डित दयानन्द, आप मत-मतान्तरों का खण्डन करते हैं। हिन्दुओं, ईसाइयों, मुसलमानों के धर्म की आलोचना करते हैं। क्या आप सरकार से किसी प्रकार की सुरक्षा नहीं चाहते ?"

ऋषि दयानन्द ने उत्तर दिया—"अंग्रेजी राज्य में सवको अपने विचार प्रकट करने की पूरी स्वतन्त्रता है इसलिए मुझे किसी से किसी प्रकार का खतरा नहीं है।" इस पर खुश होकर गवर्नर जनरल ने कहा कि "अगर ऐसी वात है तो आप अपने व्याख्यानों में अंग्रेजी राज्य के उपकारों का वर्णन कर दिया कीजिए। अपने व्याख्यान के प्रारम्भ में जो आप ईश्वर-प्रार्थना किया करते हैं, उसमें देश पर अखण्ड अंग्रेजी शासन के लिए भी प्रार्थना कर दिया कीजिए।"

यह सुनकर ऋषि दयानन्द ने उत्तर दिया—"श्रीमान् जी, यह कैसे हो सकता है ? मैं तो सायं-प्रातः ईश्वर से यह प्रार्थना किया करता हूँ कि इस देश को विदेशियों की दासता से शीघ्र मुक्त करे।"

लॉर्ड नॉर्थब्रुक ने इस घटना का उल्लेख अपनी उस साप्ताहिक डायरी में किया जो वे भारत से प्रति-सप्ताह हर मैजेस्टी महारानी विक्टोरिया को भेजा करते थे। इस घटना का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं कि "मैंने इस वागी फकीर की कड़ी निगरानी के लिए गुप्तचर नियुक्त कर दिए हैं।"

देश की परतन्त्रता ही ऋषि दयानन्द के सम्मुख चैलेंज बनकर नहीं खड़ी थी, वे अपने समाज में जिधर नजर उठाते थे उन्हें चैलेंज-ही-चैलेंज दीख पड़ते थे, उनके कानों में देश की समस्याओं की ललकार-ही-ललकार सुनाई पड़ती थी। वे महापुरुष इसलिए थे क्योंकि वे किसी चैलेंज को सामने देखकर दम तोड़कर नहीं बैठते थे, किसी ललकार को सुनकर चुप नहीं रहते थे। समाज की हर समस्या से वे जूझे, हर फ्रंट पर डटे, हर अखाड़े में छाती तानकर खड़े रहे। कौन-सी समस्या थी जो इस देश के महावृक्ष को घुन की तरह नहीं खा रही थी ? स्त्रियों को पर्दे में वन्द रखा जाता था, उन्हें शिक्षा का अधिकार नहीं था। ऋषि दयानन्द ने रूढ़िवादी समाज की इस ललकार का उत्तर दिया। ऋषि दयानन्द ने पहले-पहल आवाज उठाई कि स्त्रियों को वे सब अधिकार हैं जो पुरुषों को हैं। जैसे वेद-मन्त्रों का साक्षात्कार करनेवाले पुरुष ऋषि हैं, वैसे वेद-मन्त्रों का साक्षात् करनेवाली

स्त्री ऋषिकाएँ भी हैं। लोपामुद्रा, श्रद्धा, विश्ववारा, यमी, घोषा आदि ऋषिकाओं के नाम पाये जाते हैं। ऋषि दयानन्द ने "स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्" के नारे को रद्दी की टोकरी में फेंक दिया। 'शूद्र' संज्ञा देकर समाज के जिस वर्ग के साथ हम अन्याय तथा अत्याचार कर रहे थे, जिन्हें हमनें मनुष्यता के अधिकारों से भी वंचित कर दिया था, उनके अधिकारों की रक्षा के लिए वे उठ खड़े हुए। ऋषि दयानन्द ने सामाजिक व्यवस्था के लिए एक नया दृष्टिकोण दिया। उन्होंने जन्म की जात-पाँत को मानने से इन्कार कर दिया। जब जन्म से जात-पाँत ही नहीं, न कोई जन्म से बड़ा न जन्म से छोटा, तब शूद्र कौन और अछूत कौन ? समय था जब समाज के एक वर्ग के लिए 'अछूत' शब्द का प्रयोग किया जाता था। आज हम उसके लिए 'हरिजन' शब्द का प्रयोग करते हैं। परन्तु किसी को हम 'अछूत' कहें, या 'हरिजन' कहें—अर्थ दोनों का एक ही है, वह हमसे अलग है, एक पृथक् वर्ग का है, हमारे समाज का हिस्सा नहीं है। आर्यसमाज ने 'अछूत' शब्द का प्रयोग नहीं किया, "हरिजन' शब्द का प्रयोग भी नहीं किया। आर्यसमाज ने 'दलित' शब्द का प्रयोग किया। 'दलित'—अर्थात्, जिसे मैंने दल रखा है, जिसके अधिकारों को मैंने ठुकरा रखा है। 'अछूत' शब्द में जिसे 'अछूत' कहा गया उसे बुरा माना गया, 'दलित' शब्द में मैंने दूसरे को दबाया इसीलिए बुरा माना गया। ये दोनों शब्द एक ही भाव को व्यक्त करते हैं, परन्तु दोनों में दृष्टिकोण कितना भिन्न हो जाता है! आर्यसमाज ने इस बात को समझा कि जब हम 'अछूत' शब्द का, या 'हरिजन' शब्द का प्रयोग करते हैं, तब हम उन्हें समाज की समस्या ही बने रहने देते हैं, चैलेंज चैलेंज ही बना रहता है। यही कारण है कि पहले 'अछूत' एक वर्ग बना हुआ था, अब 'हरिजन' एक वर्ग बन गया है, और समाज के एक पृथक् वर्ग के तौर पर अपने अधिकार माँगता है। जब तक हम 'अछूत' या 'हरिजन' बने रहेंगे तभी तक तो विशेष अधिकारों की माँग कर सकेंगे! इसलिए जिस रास्ते पर हम चल रहे हैं उस पर तो 'अछूत' या 'हरिजन' बने रहना नफे का सौदा है। आज अनेक ब्राह्मण बालक अपने को 'अछूत' या 'हरिजन' कहलाना पसन्द करते हैं क्योंकि उससे उन्हें छात्रवृत्ति मिलती है। राजनीति के अखाड़े के अनेक उम्मीदवार अपने को 'अछूत' या 'हरिजन' सिद्ध करने के लिए अदालतों में दौड़ते हैं क्योंकि इससे उन्हें असेम्बली या पार्लियामेंट की मैम्बरी मिलती है। परन्तु इससे क्या समाज की समस्या हल होगी ? ऋषि दयानन्द इस समस्या से जूझे थे। उन्होंने समाज के शब्दकोष से 'अछूत' शब्द को ही हटा दिया था।

समाज जीता-जागता एक चैलेंज है, चारों तरफ़ से ललकार है, आह्वान है, पुकार है। हम इस चैलेंज का जवाब, इस ललकार और आह्वान का प्रत्युत्तर देंगे या नहीं देंगे ?. हम समाज के चैलेंज को देखते हुए भी नहीं देखते, ललकार को सुनते हुए भी नहीं सुनते। शरीर में पीड़ा हो, उसे जो अनुभव न करे वह जीवित

नहीं मृत है; समाज के शरीर में रोग हो, उसे जो दूर करने के लिए छटपटाने न लगे वह मृत-समान है। ऋषि दयानन्द ने समाज के शरीर की पीड़ा को, इसके रोग को अनुभव किया, इसीलिए वे जीवित थे। उन्हें तो अपने समय का सारा समाज एक चैलेंज के रूप में दीखा। हिन्दुओं का रूढ़िवाद एक महान् चैलेंज था। जहाँ देखो वहाँ प्रथा की दासता, रूढ़ि की गुलामी, जो चला आ रहा है उससे इधर-उधर नहीं जा सकते। ऋषि दयानन्द ने रूढ़िवाद की इस थोथी दीवार को एक धक्के में गिरा दिया। अगर पौराणिक धर्म उन्हें एक चैलेंज के रूप में दीख पड़ा तो ईसाइयत और इस्लाम भी उन्हें चैलेंज देता हुआ दीख पड़ा। हिन्दुओं की जड़ जहाँ अपने कर्मों से खोखली हो रही थी, वहाँ ईसाइयत तथा इस्लाम भी उसे कमजोर करने में कुछ उठा नहीं रख रहे थे। ऋषि दयानन्द जहाँ अपनों से जूझे वहाँ बाहरवालों से भी उसी तरह से जूझे। वे पौराणिक मतवादियों से, ईसाइयों से, मुसलमानों से—सबसे जूझ पड़े। दुनिया-भर के गन्द को जला डालने की उनमें हिम्मत थी। वह एक सूरमा थे जो दुनिया-भर के रूढ़िवाद से टक्कर लेने के लिए उठ खड़े हुए थे।

ऐसे लोग दुनिया को बदल देने के लिए पैदा हुआ करते हैं। वे आते हैं, एक नई लहर चला जाते हैं, संसार को एक नया दृष्टिकोण दे जाते हैं। पुराना जड़-वाद उन्हें बर्दाश्त नहीं कर सकता, और वे उस पुराने जड़वाद को बर्दाश्त नहीं कर सकते। वे ज़हर उगलते हैं, आग उगलते हैं, कूड़े-कर्कट को राख करते चले जाते हैं। लेकिन यह दुनिया भी ऐसी है कि उन्हें देर तक बर्दाश्त नहीं कर सकती। वे भी इसके लिए तैयार होते हैं। सुकरात अपने ज़माने को बदलने के लिए आया था, उसे ज़हर का प्याला पीना पड़ा। ईसामसीह एक नई दुनिया का सपना लेकर आया था, उसे ज़िन्दा सूली पर लटक जाना पड़ा। दयानन्द अपने देश और जाति को नए ढाँचे में ढालने को आया था, उसे दूध में घुला ज़हर पीकर प्राण गँवाने पड़े। गांधी एक नया संसार बना रहा था, उसे गोली का शिकार हो जाना पड़ा। यह दुनिया, इसको बदल देनेवालों को बर्दाश्त नहीं करती। परन्तु ज़हर देनेवाले, गोली चलानेवाले, तलवार उठानेवाले देखते हैं, और हाथ मल-मलकर देखते हैं कि ज़हर पीकर, गोली खाकर और प्राण देकर जो चले जाते हैं वे अपने पीछे एक ऐसी शक्ति छोड़ जाते हैं जो एक नवीन संसार का निर्माण कर देती है, एक नई दुनिया बना देती है। ऋषि दयानन्द भी अपने ज़माने से जूझे, ज़माने ने उन्हें ज़हर दे दिया, लेकिन ज़हर पीने के बाद विदाई की वेला में उनसे जो शक्ति की धारा फूटी उसने सदियों से चित पड़ी हुई इस भूमि का नक्शा ही बदल दिया। परमात्मा करे, हमारा देश भारत, महर्षि दयानन्द के सपनों का साकार रूप होकर महानता में हिमालय-सा, पवित्रता में गंगा-सा और विश्व में शान्ति की धारा बहाने में चन्द्रमा-सा उठ खड़ा हो। □

तदात्मानं सृजाम्यहम्

जब सृष्टि में संकट उपस्थित होता है, परिस्थितियाँ बिगड़ जाती हैं, विषम परिस्थितियाँ सिर ऊँचा कर लेती हैं, तब जनता में से १-२ प्रतिशत व्यक्ति के हृदय में विश्वात्मा की शक्ति प्रस्फुटित हो उस चैलेंज को स्वीकार कर उससे भिड़ जाती है और बिगड़ती हुई सामाजिक व्यवस्था को सुधारने में सशक्त हो जाती है। बाकी ९८-९९ प्रतिशत व्यक्ति उन नेताओं से प्रेरणा ग्रहण कर उनके अनुयायी बन जाते हैं। ऐसे व्यक्ति विश्वात्मा के वाहन होते हैं। उनमें विपरीत परिस्थितियों के संघर्ष से एक आग सुलग उठती है जो अनाप-सनाप सामाजिक परिस्थितियों को भस्म कर देती है। उन्हीं को लोग अवतार कहकर पूजने लगते हैं। वे परमात्मा के अवतार नहीं होते, परन्तु उनमें विषम परिस्थितियों को मिटा देने के लिए शक्ति का संचार हो जाता है। उनके मार्ग में जो बाधा हो उसे वे एक झटके में झाड़ देते हैं। जितने कष्ट उन्हें झेलने पड़ते हैं उतनी ही दैवीय शक्ति उनमें जाग उठती है। उन्नीसवीं सदी में भारत की विषम परिस्थितियों के चैलेंज के रूप में ऐसे ही चार-पाँच महापुरुषों का जन्म हुआ जिनमें से प्रमुख महापुरुष ऋषि दयानन्द थे।

ऋषि दयानन्द (१८२४–१८८३ ईसवी) का जन्म भारत के सौराष्ट्र (काठियावाड़) प्रान्त में मौरवी राज्य के टंकारा ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम कर्सनजी लालजी त्रिवेदी था। वे औदीच्य ब्राह्मण थे। उनका बचपन का नाम मूलशंकर था, संन्यास लेने के बाद उनका नाम दयानन्द हुआ।

१४ वर्ष की आयु में ही मूलशंकर ने यजुर्वेद कण्ठस्थ कर लिया था। इसी अवस्था में एक दिन शिवरात्रि के पर्व पर उसने रातभर जागकर शिवजी के मन्दिर में मूर्ति के सामने बैठकर उनके दर्शन की प्रबल इच्छा से सारी रात काट दी। शिवजी के दर्शन तो क्या होने थे, उसने देखा कि जब सब भक्त सो गये तब मंदिर में सन्नाटा देखकर चूहे बिलों से निकल आये और मूर्ति पर चढ़े नैवेद्य को खाने लगे। यह सब देखकर मूलशंकर के हृदय में जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि ये कैसे देवता हैं जो चूहों से भी अपनी रक्षा नहीं कर सकते? उसकी इस शंका का समाधान कोई न कर सका, और यही कारण है कि कार्य-क्षेत्र में पदार्पण कर ऋषि दयानन्द ने मूर्ति-पूजा का जबर्दस्त खण्डन किया, रूढ़िवादिता के वे कट्टर शत्रु हो गये।

मूलशंकर जब १६ वर्ष का हुआ तब उसकी १४ वर्ष की छोटी बहन की मृत्यु हो गयी। जब वह १९ वर्ष का हुआ उसके चचा की मृत्यु हुई। इन दोनों घटनाओं से उसे बुद्ध का-सा वैराग्य हो गया और वह २१ वर्ष की आयु में अमरता की तलाश में घर से निकल गया। घर से सम्बन्ध तोड़ा तो इतना तोड़ा कि फिर कभी घर का नाम नहीं लिया। योग सीखने के लिए वह एक गुरु के बाद दूसरे गुरु के पास गया और अन्त में १४ नवम्बर १८६० के दिन उसने मथुरा में प्रज्ञा-चक्षु गुरु विरजानन्द का दरवाज़ा खटखटाया। स्वामी विरजानन्द के यहाँ रहकर स्वामी दयानन्द का दृष्टिकोण बदला। अब तक जिन ग्रन्थों के आधार पर हिन्दू-धर्म का ढाँचा खड़ा हुआ था, उन ग्रन्थों का अर्थ वह नहीं है जो साधारण पण्डित करते थे—यह गुरु-मन्त्र ऋषि दयानन्द को स्वामी विरजानन्द से मिला। ऋषि दयानन्द समझते थे कि हिन्दू-समाज का ढाँचा बिगड़ा हुआ है, परन्तु अगर यह ढाँचा वेदों, उपनिषदों, पुराणों के आधार पर खड़ा है, तब इसे कैसे बदला जा सकता है ? इस देश की जनता सब-कुछ छोड़ सकती थी, धर्म-प्राण होने के कारण वेदों को तो नहीं छोड़ सकती थी। स्वामी विरजानन्द ने ऋषि दयानन्द को यह मन्त्र दिया कि वेदों के अर्थ ही वे नहीं हैं जो किये जाते हैं। अगर वेदों के वे अर्थ नहीं थे जो किये जाते थे तब तो ऋषि दयानन्द के हाथ में हिन्दू-समाज के ढाँचे को बदलने का एक बड़ा शस्त्र हाथ में आ जाता था। यही कारण है कि ऋषि दयानन्द ने सब वेदों का नवीन दृष्टिकोण से भाष्य किया, भारतीय संस्कृति को भारतीय संस्कृति रखते हुए उसके अन्तरात्मा को बदल दिया।

ऋषि दयानन्द ने अनेक ग्रन्थ लिखे जिनमें से उनका मुख्य ग्रन्थ "सत्यार्थ-प्रकाश" है। उन्होंने अपनी सामाजिक विचारधारा को क्रियात्मक रूप देने के लिए १० अप्रैल १८७५ में बम्बई के एक मुहल्ले गिरगाँव में आर्यसमाज की स्थापना की।

भारत के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण बात पायी जाती है। यहाँ जिन लोगों ने सम्पूर्ण देश तथा जाति के जीवन की दिशा को पलटा दिया वे आबाल-ब्रह्मचारी रहे। स्वामी शंकराचार्य आबाल-ब्रह्मचारी थे। उनके विचारों ने भारत के कोने-कोने को व्याप लिया था। ऋषि दयानन्द आदित्य ब्रह्मचारी थे। जो काम शंकराचार्य ने अपने समय में किया, वही काम ऋषि दयानन्द ने अपने समय में किया। ऋषि दयानन्द के पीछे स्वामी विवेकानन्द आये। वे भी आबाल-ब्रह्मचारी थे। महात्मा गांधी आबाल-ब्रह्मचारी तो न थे, परन्तु ब्रह्मचारी रहने का उनका संकल्प दृढ़ था। ऐसा प्रतीत होता है कि आगे भी इस देश का कर्णधार वही हो सकेगा जो आबाल-ब्रह्मचर्य की नींव पर खड़ा होकर देश का आह्वान कर सकेगा।

१. रूढ़िवाद पर प्रहार

वर्तमान युग के भारत के सामाजिक विचारकों में ऋषि दयानन्द पहले व्यक्ति थे जिन्होंने सदियों से परम्परागत रूढ़िवाद पर कठोर प्रहार किया। अब तक के सामाजिक विचारक पीछे की ओर देखते थे; जो-कुछ चला आ रहा है वही ठीक है, उसी की हमें रक्षा करनी है। ऋषि दयानन्द पीछे तथा आगे दोनों ओर देखते थे। पीछे से जो चला आ रहा है उसकी रक्षा हमें करनी है, परन्तु वह रक्षा तभी करनी है, जब वह आगे जो आ रहा है उससे मेल खा सके। अगर पीछे से चला आ रहा आगे आनेवाले युग में बाधक है, तो पिछली परम्परा को, पिछली रूढ़ि को तोड़ गिराना हमारा कर्त्तव्य है। समाज ने आगे बढ़ना है, पीछे को लौटना नहीं। हमारा जो कदम हमें पीछे के साथ बाँधता है, ऐसा बाँधता है कि हमें आगे बढ़ने नहीं देता, वह ग़लत है। रूढ़िवाद हमें आगे बढ़ने से रोकता है, इसलिए ऋषि दयानन्द ने प्रत्येक क्षेत्र में रूढ़िवाद को तिलांजलि देने का नारा लगाया। यह नारा धर्म, समाज, राजनीति—प्रत्येक क्षेत्र में लगाया, इसलिए ऋषि दयानन्द के समय से भारत के हर क्षेत्र में हलचल मच गयी, पुराने आधार हिल गये, और पीछे को लौटनेवाला या एक ही जगह खड़ा-खड़ा भारत सदियों की नींद छोड़कर आगे को कदम बढ़ाने लगा।

(क) धार्मिक क्षेत्र में रूढ़िवाद पर प्रहार—भारत का धर्म वेदों में बँधा हुआ था। जो-कुछ है वेदों के आधार पर है। स्त्रियों को नहीं पढ़ाना चाहिए, वर्ण-व्यवस्था जन्म से होनी चाहिए, शूद्रों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं, दलित वर्ग को समाज के निम्न-स्तर में ही दासता के रूप में पड़े रहना चाहिए, देवताओं की पूजा करनी चाहिए—यह सब क्यों होना चाहिए? क्योंकि वेद में ऐसा लिखा है। ऋषि दयानन्द ने रूढ़िवाद पर प्रहार करने के लिए सबसे पहला प्रहार वेदों के अर्थों पर किया। उनका कहना था कि वेदों में यह सब-कुछ नहीं लिखा, पण्डित लोग वेदों के अर्थ ही नहीं समझते; वेदों के वे जो अर्थ करते हैं, वे अर्थ ठीक नहीं, ग़लत हैं। हिन्दू-धर्म वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानता था, इसलिये वेदों में जो-कुछ लिखा था उसी को ईश्वरीय विधान मानता था। ऋषि दयानन्द ने वेदों के प्रचलित अर्थों पर प्रहार किया। रूढ़िवाद के वे इतने शत्रु थे कि वेदों के शब्दों के भी रूढ़ि-अर्थों को मानने से उन्होंने इन्कार कर दिया। वे संस्कृत के अगाध पंडित थे। निरुक्त के आधार पर उन्होंने सिद्ध किया कि वेदों में जो शब्द प्रयुक्त हुए हैं उनका कोई रूढ़-अर्थ नहीं है। एक ही शब्द को अनेक अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। इन्द्र का अर्थ पौराणिक इन्द्र नहीं, 'इन्द्र' शब्द की निरुक्ति के अनुसार जो भी ऐश्वर्यवान् हो वह इन्द्र कहलाता है। परमेश्वर भी इन्द्र है, राजा भी इन्द्र है, धनी-मानी व्यक्ति भी इन्द्र है। अपने पक्ष की पुष्टि में उन्होंने प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थों

का सहारा लिया। हिन्दू-धर्म की आधारशिला वेद थे। हिन्दू लोग वेदों से इधर-उधर नहीं जा सकते थे। ऋषि दयानन्द ने वेदों के रूढ़िवादी अर्थों पर प्रहार कर सारे दृष्टिकोण को बदल दिया। जिन मन्त्रों से स्त्रियों का पढ़ना निषिद्ध कहा जाता था उन्हीं से उन्होंने सिद्ध किया कि स्त्रियों को सबके समान पढ़ने का अधिकार है; जिन मन्त्रों से वर्ण-व्यवस्था जन्मपरक कही जाती थी उन्हीं से उन्होंने वर्ण-व्यवस्था को कर्मपरक सिद्ध कर दिया; जिन मन्त्रों से देवी-देवताओं की पूजा की जाती थी उन्हीं मन्त्रों से उन्होंने देवी-देवताओं के स्थान में एक ईश्वर की उपासना का विधान सिद्ध किया। इस युग में अन्य जो भी सामाजिक विचारक हुए उन्होंने या तो पाश्चात्य-संस्कृति के प्रभाव में आकर भारतीय संस्कृति को तिलांजलि दे दी, या रूढ़िवाद से अपने को मुक्त न कर सके। ऋषि दयानन्द ही एक ऐसे विचारक थे जिन्होंने भारतीय संस्कृति को छोड़ा भी नहीं, पाश्चात्य-संस्कृति को लिया मगर उसमें डूबे भी नहीं। वेदों को वे तिलांजलि दे सकते थे, परन्तु इससे वे हिन्दू-धर्म से टूट जाते; प्राचीन रूढ़िवादिता को वे अपना सकते थे, परन्तु इससे वे प्रगतिशील न रहते; उन्होंने वेदों को लेकर वेदों में से ही रूढ़िवादिता के साथ टक्कर लेकर एक सर्वथा नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया, प्राचीनता तथा नवीनता के सम्मिश्रण का आधार खड़ा कर दिया। इस आधार का मुख्य रूप था वेदों के अर्थों को बदल देना, उन्हें रूढ़ि के स्थान में यौगिक सिद्ध करना। जब वेदों के वे अर्थ ही न रहे जो अब तक समझे जाते थे, तब हिन्दू-समाज के लिए अपने को न बदलने का कोई कारण न रहा।

(ख) **सामाजिक क्षेत्र में रूढ़िवाद पर प्रहार**—ऋषि दयानन्द के विचार का दृष्टिकोण सर्वथा मौलिक दृष्टिकोण था। वे भूत, वर्तमान तथा भविष्य को, पिछले तथा अगले को मिलाकर चलना चाहते थे। उनका कहना था कि समाजरूपी भवन की नींव उसका भूत है, समाजरूपी भवन का शिखर उसका भविष्यत् है। बिना नींव के शिखर और बिना शिखर के नींव बेकार है। सुन्दर भवन के लिए नींव तथा शिखर दोनों का होना ज़रूरी है। यही कारण है कि सिर्फ़ भूत के साथ चिपटे रहनेवाले रूढ़िवाद का सामाजिक क्षेत्र में भी उन्होंने बहिष्कार किया। समाज में वे स्थिरता के पक्षपाती नहीं थे, गतिशीलता के पक्षपाती थे। उनके समय का समाज नवीनता से डरता था; जो-कुछ चला आ रहा था, सामाजिक क्षेत्र में उसी को चलाना चाहता था। स्त्री-शिक्षा का इस देश में ख़ात्मा हो चुका था; बाल-विवाह, विधवा-विवाह-निषेध, दहेज की प्रथा—ये सब प्रथाएँ, परम्पराएँ, इस देश में रूढ़ हो चुकी थीं, इनके विरुद्ध बोलने का किसी को साहस नहीं होता था। ऋषि दयानन्द ने इस सब रूढ़िवाद को जहाँ धार्मिक क्षेत्र से उखाड़ फेंका, वहाँ सामाजिक क्षेत्र में से भी इसे निकाल बाहर किया। उन्होंने एक बिल्कुल नवीन दृष्टिकोण समाज के सम्मुख रखा, ऐसा दृष्टिकोण जो पहले से चले आ रहे दृष्टिकोण से सर्वथा

भिन्न था, उससे उल्टा था। ऋषि दयानन्द के उद्योग का परिणाम था कि स्त्रियों के प्रति समाज का रुख बदल गया। जहाँ पहले "स्त्री-शूद्रौ नाधीयाताम्" का राग अलापा जाता था, वहाँ कन्याओं को पढ़ाने के लिए पाठशालाएँ खोली जाने लगीं। यज्ञोपवीत से कुछ लाभ होता हो या न हो, परन्तु ऋषि दयानन्द ने यह नवीन दृष्टि-कोण प्रस्तुत किया कि अगर लड़कों का उपनयन होना चाहिए, अगर उन्हें यज्ञो-पवीत पहनने का अधिकार है, तो कन्याओं का उपनयन क्यों नहीं होना चाहिए ? उन्हें यज्ञोपवीत पहनने का अधिकार क्यों नहीं है? ऋषि दयानन्द तथा अन्य सामा-जिक सुधारकों में आधारभूत भेद यह है कि जहाँ दूसरों ने हिन्दू-धर्म को समाप्त करने का प्रयत्न किया, वहाँ ऋषि दयानन्द ने हिन्दुओं को हिन्दू रहते हुए उन्हें नवीनता के रंग में रंग दिया। वे इस बात को समझते थे कि मनुष्य अपने भूत को नहीं छोड़ना चाहता, इसलिए उन्होंने समाज की जड़ भूत में जमाकर उसे भविष्य के लिए प्रगतिगामी बना दिया। उन्होंने हिन्दू-धर्म को हिन्दू-धर्म रखते हुए उसकी अन्दर से काया पलटने का यत्न किया। यही कारण है कि १९वीं शताब्दी के सम-कालीन समाज-सुधारकों में जितनी सफलता उन्हें मिली उतनी सफलता अन्य किसी को नहीं मिली। ऋषि दयानन्द ने समाज-सुधार की जो रूप-रेखा बना दी उसी को लेकर २०वीं शताब्दी के सामाजिक तथा राजनैतिक नेताओं ने कार्य किया। महात्मा गांधी के २०वीं शताब्दी के आन्दोलन को समझने के लिए ऋषि दयानन्द के १९वीं शताब्दी के आन्दोलन को समझना आवश्यक है।

(ग) राजनैतिक क्षेत्र में रूढ़िवाद पर प्रहार—ऋषि दयानन्द की विचार-धारा का आधार रूढ़िवाद का उन्मूलन करना था। राजनैतिक क्षेत्र में जिसका राज चला आ रहा हो वही ठीक है—यह रूढ़िवादी विचार चला आ रहा था। उन्होंने धार्मिक तथा सामाजिक नेता होते हुए भी इस विचार पर प्रहार किया। सत्यार्थप्रकाश के ८वें समुल्लास में उन्होंने लिखा—"अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की कथा ही क्या कहनी किन्तु आर्यावर्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो-कुछ है सो भी विदेशियों से पदाक्रान्त हो रहा है। कुछ थोड़े राजा स्वतन्त्र हैं। दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है। कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रहरहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं हो सकता।"

अंग्रेजी के प्रसिद्ध वाक्य 'Good government is no substitute for self-government' तथा ऋषि दयानन्द के उक्त सन्दर्भ में कोई भेद नहीं है। दादाभाई नौरोजी, तिलक आदि ने इसी विचार को आगे बढ़ाया। ऋषि दयानन्द

१८५७ के गदर के समय ३३-३४ वर्ष के नवयुवक थे, और अगर उस समय उनके वही विचार थे, जो उन्होंने सत्यार्थप्रकाश में अंकित किये, तो कोई सन्देह नहीं कि वे इस क्रान्ति के समय अपने ढंग से क्रियाशील रहे होंगे। जो है वह ठीक है, और इसी रूढ़िवादी भावना पर ऋषि दयानन्द ने धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में सीधी चोट की।

२. समाजवादी विचारधारा

आज हम समाजवाद का नारा लगाते हैं, परन्तु यह नारा सीधा पश्चिम से उधार लिया हुआ नारा है। ऋषि दयानन्द ने पूर्व तथा पश्चिम का समन्वय किया था, अपनी संस्कृति को न छोड़ते हुए नवीन विचारों को अपनाया था, इसलिए उन्होंने समाजवाद को जो अभी पश्चिम में भी धुँधला-धुँधला ही उदय हुआ था, भारतीय रूप दिया था। ऋषि दयानन्द का समाजवाद उनकी वर्ण-व्यवस्था तथा गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली में पाया जाता है।

(क) वर्ण-व्यवस्था—इस युग में ऋषि दयानन्द पहले व्यक्ति थे जिन्होंने वर्ण-व्यवस्था को जन्मपरक मानने के स्थान में कर्मपरक मानने की बात कही। समाजवाद का अर्थ क्या है? समाजवाद का अर्थ यह है कि हम समाज के हर व्यक्ति को, स्त्री-पुरुष को, उन्नति का, विकास का, समान अवसर दें। समान अवसर क्यों नहीं दिया जाता? इसलिए नहीं दिया जाता क्योंकि जन्म से ही कुछ लोग बड़े माने जाते हैं, जन्म से ही कुछ लोग छोटे माने जाते हैं। जन्म से ऊँच-नीच मानने की भावना को ऋषि दयानन्द ने जात-पाँत का नाम दिया। उन्होंने कहा कि हिन्दू-धर्म में जात-पाँत को कोई स्थान नहीं, इस धर्म का आधार वर्ण-व्यवस्था है। वर्ण-व्यवस्था का अर्थ है—कर्म के आधार पर मनुष्य-मनुष्य का भेद। कर्म के आधार पर भेद तो तभी खड़ा किया जा सकता है जब प्रत्येक व्यक्ति को, समाज के हर स्त्री-पुरुष को अपने विकास का समान अवसर दिया जाय। ऋषि दयानन्द ने जन्मपरक 'जाति' को छोड़कर, कर्मपरक 'वर्ण' को मानकर, उसी को हिन्दू-धर्म का मौलिक विचार कहकर, उसी को वेदों तथा शास्त्रों का सिद्धान्त सिद्ध कर इस युग में सबसे पहले समाजवाद के विचार की नींव डाली। जन्म के स्थान में कर्म का नाम लेते ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र का भेदभाव मिट गया, स्पृश्य-अस्पृश्य का भेद मिट गया, स्त्री-पुरुष के अधिकारों की भिन्नता का भेद मिट गया, सब एक स्तर पर आ खड़े हुए। समान अवसर मिलने पर अगर भेद रह जाय तब दूसरी बात है, परन्तु विकास के लिए समान अवसर देना ही वर्ण-व्यवस्था तथा समाजवाद का आधार है। इस प्रकार का अवसर न देना जात-पाँत है।

(ख) गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली—ऋषि दयानन्द का समाजवादी दृष्टिकोण

जहाँ वर्ण-व्यवस्था को कर्मपरक सिद्ध करने में दिखाई देता है वहाँ यही दृष्टि-कोण उनकी शिक्षा-प्रणाली में दिखाई देता है। उनका कहना था कि धनी-निर्धन सब प्रकार के माता-पिताओं को अपने बच्चे गुरुकुल में भेज देने चाहिएँ जहाँ वे समभाव से रहें। उन्हें एक-सा खाना मिले, एक-सा पहनावा हो, एक-सा रहन-सहन हो। जब बच्चों में समाजवादी दृष्टिकोण पैदा हो जायगा तो वह समाज में अपने-आप प्रतिफलित होगा। आज हमें समाजवाद की बातें करते आधी सदी के लगभग हो गया, परन्तु यह विचार अभी विचार-कोटि में ही बना हुआ है, जीवन में नहीं उतरा। ऋषि दयानन्द समाजवाद को शिक्षा के साथ बच्चों के जीवन में उतार देना चाहते थे, इसलिए उन्होंने गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली पर बल दिया। गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली के अनुसार बच्चे यह भूल जाते हैं कि उनके माता-पिता धनी हैं या निर्धन, उच्च कुल के हैं या नीचे कुल के। गुरु के पास जितने विद्यार्थी पढ़ते हैं वे सब भाई-भाई होते हैं, समाजवाद का उन्हें क्रियात्मक जीवन व्यतीत करना होता है। ऋषि दयानन्द के इस विचार को स्थूल रूप देने के लिए स्वामी श्रद्धानन्द ने हरिद्वार में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की स्थापना की जहाँ समाजवाद को व्यावहारिक रूप दिया जा रहा है।

ऋषि दयानन्द जन्मपरक वर्णों को नहीं मानते थे। उनसे प्रश्न किया गया कि अगर वर्ण का आधार जन्म नहीं है, तब ब्राह्मणकुल का बालक क्षत्रिय वर्ण के कारण अपने कुल का नहीं रहेगा, फिर वृद्धावस्था में उसके माता-पिता की सेवा कौन करेगा? सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में वे लिखते हैं—

प्रश्न—जो किसी के एक ही पुत्र या पुत्री हो, वह दूसरे वर्णों में प्रविष्ट हो जाय, तो उसके माँ-बाप की सेवा कौन करेगा और वंशोच्छेदन भी हो जायेगा। इसकी व्यवस्था क्या होनी चाहिए?

उत्तर—न किसी की सेवा का भंग और न वंशोच्छेदन होगा क्योंकि उनको अपने लड़के-लड़कियों के बदले स्ववर्ण के योग्य दूसरे सन्तान विद्या-सभा और राजसभा की व्यवस्था से मिलेंगे, इसलिए कुछ भी अव्यवस्था न होगी।

लड़के क्या हैं? आज के लड़के किसी की सेवा करते हैं? किसी को लड़का, किसी को लड़की मानना—यह सब सामाजिक है। बचपन से जो जिस माता-पिता के साथ रहेगा वह उसी को माता-पिता मानेगा। बड़ा होने पर भी जिसका स्वभाव जिस माता-पिता से मिलेगा वह उसी के साथ रहना पसन्द करेगा। यह एक अभूतपूर्व समाजवादी विचार है जो प्लेटो के बाद ऋषि दयानन्द ने दिया। विवाह में क्या होता है? अनुकूल स्वभाव के लड़के-लड़की का गुरु लोग संबंध करा देते हैं। पारिवारिक सम्बन्धों में भी गुरु लोग अनुकूल स्वभाव के स्त्री-पुरुष तथा लड़के-लड़की का माता-पिता एवं पुत्र-पुत्री के तौर पर सम्बन्ध जोड़ सकते हैं—यह ऋषि दयानन्द का परिवार के सम्बन्ध में विलक्षण समाजवादी

विचार था।

ऋषि दयानन्द भारत के १९वीं शताब्दी के सबसे महान् सामाजिक विचारक थे। उनकी छाप आगेआने वाले सब विचारकों पर पड़ी। उन्होंने अपने क्रांतिकारी विचारों से युग को जो पलटा दिया उसका प्रत्यक्ष फल आज हमारी आँखों के सामने है। २०वीं शताब्दी के भारत का उनको पितामह कहा जा सकता है।

□

गुरुकुल के सम्बन्ध में मेरा सपना

भूतकाल

जिस संस्था में मैं पढ़ा ही नहीं, पला भी हूँ, उसके सम्बन्ध में मेरा चिंतित होना स्वाभाविक ही है। मेरा ही क्या, गुरुकुल काँगड़ी के प्रत्येक स्नातक का इस संस्था के विषय में चिंतित होना स्वाभाविक है क्योंकि इस संस्था ने स्नातकों को पढ़ाया ही नहीं, पाला भी है। भारत में कोई विरली ही संस्था होगी जिसमें बच्चे सात बरस के लिये जाते हों और जबतक वे पूरी विद्या ग्रहण न कर लें तबतक वे उसी संस्था में जीवन व्यतीत करते हों। कहीं नर्सरी स्कूल हैं तो उन स्कूलों के बच्चे अपनी शिक्षा वहाँ प्राप्त कर आगे दूसरे स्कूल में चले जाते हैं; कहीं प्राईमरी हैं, कहीं मिडल हैं, कहीं हाई स्कूल हैं, परन्तु जो इनमें पढ़ता है, वह इन्हें छोड़ आगे निकल जाता है, हाई स्कूल छोड़कर कॉलिज चला जाता है। इसके अतिरिक्त उसका आश्रम-वास भी बदल जाता है। गुरुकुल ही ऐसी संस्था है, जहाँ मैं तथा मेरे जैसे अन्य स्नातक बचपन में दाखिल हुए, उसी के आश्रम में पढ़े ही नहीं, १४ बरस तक वहाँ रहे भी। ऐसी विलक्षण संस्था का हम स्नातकों के जीवन के साथ सम्बन्ध है। ऐसी हालत में हम लोग इस संस्था के विषय में जो सोच सकते हैं वह दूसरा कौन सोच सकता है! यह बात मैं पुराने स्नातकों की कर रहा हूँ, नयों की नहीं।

आज हम पुराने स्नातक जीवन का बहुत लम्बा रास्ता तय कर चुके हैं। पुराने स्नातकों में से बहुत-से तो दिवंगत हो चुके हैं। जो बचे-खुचे हैं, वे गुरुकुल काँगड़ी के विषय में दो तरह के सपने लिया करते हैं। मैं भी उसी प्रकार के दो सपने लिया करता हूँ। एक सपना वह है जिसमें गुरुकुल की वर्तमान दशा को देखकर जैसा वह था उसके भूत से उसकी वर्तमान दशा की तुलना किया करता हूँ; दूसरा सपना वह है जिसका मैं अपने कल्पना-जगत् में भविष्य के लिए उसका चित्र खींचा करता हूँ। इस लेख में पहले अपने पहलेवाले सपने पर विचार प्रकट करूँगा, फिर दूसरे सपने की रूप-रेखा का काल्पनिक चित्र खींचूंगा।

गुरुकुल क्या था?

जब मैं गुरुकुल में दाखिल हुआ था तब इस संस्था की स्थिति वह थी जो

आज पब्लिक स्कूलों की हो गई है। माता-पिता इस दुविधा को लेकर आते थे कि दाखिला मिलेगा या नहीं मिलेगा। मैं आज से ७६ वर्ष पहले गुरुकुल में दाखिल हुआ था। उस समय ६० में से २५ बालक लिये गये थे; जो नहीं लिये गये उनके माता-पिता निराश होकर लौटे थे। जैसे पब्लिक स्कूल में दाखिल करते हुए माता-पिता का यह सपना होता है कि बेटा ज़िलाधीश बनेगा, कोई बड़ा अफसर बनेगा, वैसे गुरुकुल में दाखिल कराते हुए माता-पिता का यह सपना होता था कि बेटा वेदों का विद्वान् बनेगा, आर्यसमाज का प्रचारक बनेगा, देश का सेवक बनेगा। वह ज़माना गुलामी की जंजीरों को काट फेंकने की उमंगों का था, देश की आज़ादी के रास्ते ढूँढने का था—इसलिये इस प्रकार के सपनों को लेकर अगर माता-पिता बच्चों को गुरुकुल में दाखिल कराते थे तो यह समय की माँग के अनुरूप ही था। गुरुकुल में इन सपनों को साकार बनाने का एक वातावरण था। वहाँ जो कार्यकर्ता थे उनका क्रियात्मक जीवन इस वातावरण को दुगुना-चौगुना बल देता था। मुझे उस समय की घटनाएँ स्मरण हो आती हैं जिनसे उस समय के वातावरण पर प्रकाश पड़ता है। श्रीपाद दामोदर सातवलेकर वेदों के स्वाध्याय के लिए उन दिनों गुरुकुल में रहा करते थे। वे क्रान्तिकारी व्यक्ति थे, उनके नाम वारण्ट निकला हुआ था। एक दिन पुलिस की गारद उन्हें गिरफ्तार करने गुरुकुल आ पहुँची, और उनके हाथों में हथकड़ी डालकर ले चली। हम लोग थे तो बच्चे, परन्तु पुलिस के साथ भिड़ गये। हमने कहा, हम उन्हें नहीं ले-जाने देंगे। कानून को हम क्या जानते थे? बच्चे जो ठहरे! महात्मा मुंशीराम जी ने समझाया कि हमारी बात नहीं चलेगी, तब जाकर पुलिस का पिंड छूटा। गुरुकुल में इतना क्रान्तिकारी वातावरण था कि इसकी हवा वायसराय तक ही नहीं, इंग्लैंड तक पहुँची हुई थी। गुरुकुल एक अभूतपूर्व शिक्षा-संस्था समझी जाती थी। गवर्नर वहाँ आये, वायसराय वहाँ आये, सेक्रेटरी ऑफ स्टेट आये, इंग्लैंड की पार्लियामेण्ट के मेम्बर आये, रैमज़े मैग्डॉनल जो कालान्तर में वहाँ के प्राइम-मिनिस्टर बने वहाँ आये। वे लोग इसलिये आये कि खुद जाकर देखें कि इस अद्भुत संस्था का क्या रूप है, इसे चलानेवाले कैसे हैं, जो इसमें शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं वे कैसे हैं, उनका जीवन कैसा है?

गुरुकुल क्रांतिकारियों का कोई अड्डा नहीं था, परन्तु उसके विषय में यह भ्रम ज़रूर था। फिर भी वहाँ के जीवन में एक विलक्षणता अवश्य थी। गुरुकुल का वातावरण देश में उभरते हुए नवजीवन का जीता-जागता नमूना था। गुरुकुल की अन्य विशेषताओं में एक विशेषता यह भी थी कि यहाँ वर्तमान विज्ञानों के सब विषय हिन्दी में पढ़ाये जाते थे। एक दिन अंग्रेज़ी के महापण्डित गोखले का स्थान लेनेवाले सर्वेण्ट ऑफ इण्डिया सोसायटी के प्रमुख श्रीनिवास शास्त्री गुरुकुल पधारे। वे यह जानना चाहते थे कि इकॉनॉमिक्स जैसा जटिल विषय हिन्दी में

कैसे पढ़ाया जा सकता है? प्रोफेसर रामदेव जी उन्हें संस्था दिखा रहे थे। प्रोफेसर रामदेव जी से उन्होंने यही सवाल किया। प्रोफेसर रामदेव जी ने कहा—अर्थशास्त्र के छात्रों को आप अर्थशास्त्र का कोई विषय देकर उनसे पक्ष-विपक्ष में बहस करने को कहें और देखें कि उनका ज्ञान 'अंग्रेज़ीदाँ' लोगों से कम है या ज्यादा। श्रीनिवास शास्त्री ने भारतीय अर्थशास्त्र पर विनिमय-दर (एक्सचेंज-रेट) का क्या प्रभाव है—इस विषय पर विद्यार्थियों के विचार सुनना चाहे और तैयारी के लिए आधे घण्टे का समय दिया। आधा घण्टा बाद विद्यार्थियों ने जो भाषण दिये उन्हें सुनकर श्रीनिवास शास्त्री ने कहा—मैं आज तक जिस भ्रम में था वह मेरा आज़ दूर हो गया। यही कारण है कि उस समय के गुरुकुल के स्नातक डॉक्टर प्राणनाथ हिन्दू विश्वविद्यालय में अपने विषय में मुख्य उपाध्याय बने।

मैं गुरुकुल के वातावरण की बात लिख रहा था। गुरुकुल शुद्ध अर्थों में हम लोगों का घर बना हुआ था। वह ऐसा घर था जहाँ हम बाहर की हर बात को, जो समाज में भेद-भाव उत्पन्न करती है छोड़ चुके थे। हम न अपने को शर्मा कहते थे, न वर्मा कहते थे। लोग समाजवाद के गीत गाते हैं, पर जात-पाँत उनके नस-नस में बसी रहती है। गुरुकुल में कहा नहीं, किया जाता था। मैं १४ साल गुरुकुल में पढ़ता रहा, परन्तु मुझे अन्त तक नहीं पता चला कि मेरी क्या जात है, या मेरे सहपाठियों की क्या जात है। मैं अपने नाम के साथ सिद्धान्तालंकार लगाता हूँ, लोग समझते हैं कि सिद्धान्तालंकार मेरी जात है। गुरुकुल में सब भाई-भाई थे। एक बार महाराजा नाभा गुरुकुल पधारे। महात्मा मुन्शीराम जी उन्हें गुरुकुल दिखा रहे थे। महाराजा पूछ बैठे—क्या आपके यहाँ सब जातियों के बालक एक-साथ रहते हैं? महात्मा जी ने कहा—क्या आप शक्ल देखकर पहचान सकते हैं कौन बालक किस जात का है? महाराजा ने एक गोरे-चिट्टे बालक को पकड़कर कहा—यह ब्राह्मण का बालक है; एक काले-कलूटे को पकड़कर कहा—यह चमार का बालक है। महात्मा जी ने उत्तर दिया—यहाँ आकर गुरुकुल के रंग में सब रंग उलट जाते हैं। काले रंग का बालक ब्राह्मण का पुत्र था, गोरे वर्ण का बालक निम्न वर्ण का था। गुरुकुल में हम लोग १४ साल रहे, यह मालूम था कि घर से फीस आती है, यह किसी को नहीं मालूम था कि गुरुकुल की फीस क्या है, कितनी है? सब साथ खाना खाते थे, सबको एक-जैसा खाना मिलता था। यह कोई नहीं जानता था कि कौन अमीर का लड़का है, कौन गरीब का लड़का है। सबके कपड़े एक-समान, सबकी पुस्तकें एक-समान, सबका रहना एक-समान। अगर कोई बालक शारीरिक दृष्टि से कमजोर है, तो डॉक्टर उसके लिए विशेष दूध लिख देता था, भण्डारी उसके लिए विशेष दूध का प्रबन्ध करता था, यह नहीं देखा जाता था कि उसके घर से कितना पैसा आता है—कुल-माता के अन्य पुत्रों के समान वह

कुल-माता का पुत्र था, और कोख से जननेवाली माता जैसा उससे व्यवहार करती वैसा उससे व्यवहार होता था। अगर किसी के माता-पिता कुछ दे जाते थे, तो उस क्लास के वच्चों को वह फल या मिठाई समान रूप से वँट जाती थी। जिस समाजवाद का नारा देश की सव राजनैतिक पार्टियाँ बुलन्द करती रहती हैं परन्तु उनका सहस्रांश भी नहीं कर पायीं, वह आज से ५०-६० साल पहले भागीरथी के तट पर स्थापित गुरुकुल काँगड़ी में साकार जीवित था। राजनीति जहाँ परास्त हो रही थी, वहाँ धर्म सफल हो चुका था। धर्म सफल हो चुका था इसलिए कहता हूँ क्योंकि उस संस्था की स्थापना धर्म के दीवानों ने की थी।

अव क्या हो गया?

आज साठ साल वाद मैं अपने गुरुकुल का सपना ले रहा हूँ, गुरुकुल के भूत का, गुरुकुल जो था—उसे अपनी आँखों के सामने लाने का यत्न कर रहा हूँ। जैसा मैंने कहा, गुरुकुल से मोह स्नातकों के सिवाय किसको हो सकता है? एक भव्य भवन जव खण्डहर वन जाता है, तव भी, जो उसमें रह चुका है वह वार-वार उसकी स्मृति को ताजा करने के लिए उसके दर्शन को जाता है। आज हमारे लिए वह भवन खण्डहर वन चुका है, परन्तु हमारा तो जीवन ही उसमें वीता है, हम उसे कैसे भुला सकते हैं? गुरुकुल को ढहते मैंने देखा। गुरुकुल का क्या बनता है—इसे भुलाकर पार्टियों ने उसपर कब्ज़ा करने के मंसूवे वाँधे। कब्ज़ा किया—परन्तु गुरुकुल को तहस-नहस कर दिया। जिस जातिवाद का गुरुकुल में कभी नाम न सुना था, वह जातिवाद संस्था को ले डूवा। इस संकट से मुक्त कराने के लिए दो-एक संन्यासी सामने आये, आशा वँधी कि पुराना वातावरण, पुराना आदर्शवाद फिर जाग उठेगा, परन्तु इनका हाथ तो संस्था के लिए अभिशाप बन गया। संस्था का जो-कुछ वचा-खुचा था वह भी जाता रहा।

आज गुरुकुल के भूत-काल का मेरा सपना भंग हो चुका है। ऐसा लगता है, गुरुकुल था ही नहीं, अव तो है ही नहीं। गुरुकुल भूतकाल की एक दीपशिखा कन्या-गुरुकुल के रूप में देहरादून में जग रही है। वह भी शायद इसलिए कि आचार्य रामदेव जी की वेटी दमयन्ती देवी ने उसे सम्भाला हुआ है। आचार्य रामदेव जी ने जहाँ गुरुकुल काँगड़ी को उच्च-शिखर तक पहुँचाने में अपना यौवन दिया वहाँ कन्या गुरुकुल की आधारशिला रखकर उसे अपने रुधिर से सींचा। गुरुकुल गया तो गया, आज कन्या गुरुकुल अपने आदि-स्रोत गुरुकुल काँगड़ी की याद दिलाने के लिए बचा हुआ है। शायद पार्टीबाज़ी का कन्या गुरुकुल पर पंजा नहीं जमा इसलिए वचा हुआ है।

मैं तो अव सोचने लगा हूँ कि मेरे लिए गुरुकुल का अर्थ गुरुकुल काँगड़ी नहीं रहा। गुरुकुल एक मूवमेंट का नाम था, एक विचारधारा, एक वातावरण का नाम

था। अब मैं गुरुकुल के भूत के सपने को छोड़कर उसके भविष्य के सपने लेने लगा हूँ। मेरा गुरुकुल के भविष्य के सम्बन्ध में क्या सपना है—यह मैं आगे लिख रहा हूँ।

भविष्यकाल

गत पृष्ठों में मैंने लिखा है कि हम स्नातक लोग क्योंकि गुरुकुल में पढ़े ही नहीं, वहाँ पले भी हैं, इसलिए उसे उजड़ता देखकर सबसे ज्यादा चिन्ता हमीं को होती है। पार्टीबाज़ आते हैं, चले जाते हैं, प्रायः उजाड़कर ही जाते हैं, उनका जीवन संस्था से ओत-प्रोत नहीं होता, इसलिए संस्था उजड़ भी जाए, तो उन्हें कोई दर्द नहीं होता। गुरुकुल के सम्बन्ध में ऐसा ही हुआ, और हो रहा है। प्रश्न यह है कि क्या इस संस्था का कोई भविष्य नहीं रहा ?

मैंने अब अपने को इस बात के लिए रज़ामन्द कर लिया है कि गुरुकुल का वह सपना जो मेरे तथा मेरे समकालीन स्नातकों के जीवन का अभिन्न अंग था टूट चुका है, इसलिए मैंने यह सपना लेना शुरू किया है कि गुरुकुल का जो-कुछ भी बचा-खुचा है उसे भविष्य के लिए क्या दिशा दी जानी चाहिए ताकि ८३ साल से चली आ रही इस संस्था में प्राण-प्रतिष्ठा हो सके, और जिस गौरव को यह खो चुकी है वह उसे फिर से प्राप्त हो।

जिन दिनों दून स्कूल की स्थापना होने जा रही थी उन दिनों का मुझे स्मरण है। देहरादून में दून पब्लिक स्कूल के प्रथम हेडमास्टर होकर श्री फुट आये थे। गुरुकुल का नाम उन्होंने सुन रखा था। वे गुरुकुल आये और मेरे साथ उन्होंने घूमकर सारा गुरुकुल देखा, दो घण्टे तक बातचीत करते रहे। उन दिनों गुरुकुल में 'व्रताभ्यास' की प्रथा चल पड़ी थी। 'व्रताभ्यास' का यह अर्थ था कि ब्रह्मचारी को नियमपालन, समयपालन, आज्ञापालन, सद्व्यवहार, सदाचार, ब्रह्मचर्य-पालन आदि के अंक उसी तरह दिये जाते थे जिस तरह पढ़ाई के विषयों के दिये जाते हैं। जो व्रताभ्यास में फेल हो जाता था उसे पढ़ाई में ठीक होने पर भी रोक लिया जाता था। इसका आधारभूत विचार यह था कि शिक्षा का उद्देश्य किताबें रटा देने का ही नहीं, मुख्य उद्देश्य चरित्र-निर्माण करना भी है। श्रीयुत फुट इस बात से बहुत प्रभावित हुए और कहने लगे कि इस पद्धति को वे अपने पब्लिक-स्कूल में भी चलायेंगे। मैं पिछले दिनों दून स्कूल देखने गया, तो मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि ठीक इस ढंग पर तो नहीं परन्तु कुछ इसी प्रकार के ढंग पर उन्होंने इस प्रथा को जारी किया था जो अदला-बदली के साथ अब तक वहाँ चल रही है।

क्या होना चाहिए ?

गुरुकुल का पुनरुद्धार करना हो तो उसकी सबसे पहली शर्त यह होनी चाहिए

कि चरित्र-निर्माण इस संस्था का प्रमुख ध्येय होगा। इस बात को सुनकर लोग हँस पड़ेंगे—यह भी कोई नई बात है? चरित्र-निर्माण तो हर शिक्षा-संस्था का मुख्य ध्येय है! परन्तु नहीं, मेरी जानकारी में किसी संस्था का मुख्य ध्येय चरित्र-निर्माण नहीं है। सब संस्थाओं का मुख्य ध्येय किताबी शिक्षा देना है, इम्तिहान में पास करा देना है, चरित्र-निर्माण पर किसी का ध्यान नहीं। जिन संस्थाओं में अध्यापक के चरित्र को मुख्यता न दी जाती हो, उनमें विद्यार्थी के चरित्र का निर्माण कैसे हो सकता है? विद्यार्थी को भी पता होना चाहिए कि वह संस्था में इम्तिहान पास करने ही नहीं आया, चरित्र बनाने आया है। है कोई शिक्षा-संस्था जिसके विद्यार्थी ऐलानिया कह सकें कि उनका लक्ष्य चरित्र-निर्माण है?

गुरुकुल के भविष्य के सम्बन्ध में मेरा सपना यह है कि चरित्र-निर्माण को नींव में रखने की घोषणा करके गुरुकुल को एक उच्च-कोटि की पब्लिक-स्कूलनुमा संस्था बना दिया जाना चाहिए। इस समय 'गुरुकुल' नाम से जो लकीर पीटी जा रही है उसे एकदम समाप्त कर देने से ही यह सम्भव होगा। गुरुकुल का अतीत महान् उज्ज्वल था। महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) तथा आचार्य रामदेव जी के काल में जो शिक्षक आते थे वे महान् संकल्पों को लेकर आते थे, उनसे शिक्षा प्राप्त कर जो स्नातक निकलते थे वे उच्च-कोटि के होते थे। सारा वातावरण गगन-चुम्बी भावनाओं से व्याप्त था। वह सब-कुछ अब नहीं रहा। इस कूड़े-कर्कट को साफ करके नये भवन का निर्माण करना होगा।

मैं पब्लिक-स्कूलनुमा उच्च-कोटि के गुरुकुल की बात क्यों कहता हूँ, और पब्लिक-स्कूलनुमा से मेरा क्या अभिप्राय है? पब्लिक-स्कूलनुमा उच्च-कोटि के गुरुकुल की बात मैं इसलिए कहता हूँ क्योंकि अब बदली हुई परिस्थितियों में हमारा लक्ष्य भी बदल जाना चाहिए। जब देश परतन्त्र था तब हमारे लक्ष्य दूसरे थे, अब देश स्वतन्त्र है तब लक्ष्य वे नहीं रह सकते। तब हम कहते थे कि हमें सरकारी नौकरी नहीं करनी; मिले, तो भी नहीं करनी; हमें विदेशी सरकार को कोई सहयोग नहीं देना; हमें तो मुसीबतें झेलकर भी अपना ही रास्ता निकालना है। निकाला हमने—गुरुकुल के स्नातक अपने-अपने क्षेत्र में चोटी तक पहुँचे। सिर्फ गुरुकुल की शिक्षा पाकर पं० इन्द्र जी मूर्धन्य पत्रकार बने, पं० जयचन्द्र जी हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के सभापति बने, अनेक स्नातक पार्लियामेण्ट तथा विधान सभाओं के सदस्य हुए, पं० विनायकराव विद्यालंकार निजाम सरकार में मन्त्रि-पद पर रहे, पं० अमरनाथ विद्यालंकार पंजाब सरकार के शिक्षा-मन्त्री बने, पं० सोमदत्त विद्यालंकार खादी कमीशन के चेयरमैन बने, पं० सत्यदेव विद्यालंकार सफल उद्योग-पति बने, पं० रमेश वेदी फिल्मी दुनिया में बी० बी० सी० द्वारा सम्मानित हुए। हिन्दी पत्रकारिता में तो गुरुकुल के स्नातकों की भरमार है। उनके पीछे उन्हें उठानेवालों का हाथ होता तो आज के सभी पत्रों के वे मुख्य सम्पादक होते। पं०

ग्रानन्द विद्यालंकार तथा पं० क्षितीश विद्यालंकार के साथ ग्रन्य विद्यालंकार पत्र-कारों की लम्बी पंक्ति है। ग्रार्यसमाज के क्षेत्र में पं० वुद्धदेव विद्यालंकार जैसा कोई व्याख्याता नहीं हुग्रा, पं० जयदेव विद्यालंकार जैसा कोई वेद-भाष्यकार नहीं हुग्रा। पं०सत्यकाम विद्यालंकार ने चारों वेदों का ग्रंग्रेज़ी में भाष्य कर दिया। विद्यामार्तण्ड पं० धर्मदेव विद्यावाचस्पति ने ग्रपनी वैदिक विद्वत्ता से, संस्कृत तथा ग्रंग्रेज़ी के ज्ञान से सनातनी विद्वन्मण्डली में हलचल मचा दी। विश्वविद्यालयों में, विना सहारे, ग्रपनी योग्यता के ग्राधार पर पं० प्राणनाथ विद्यालंकार, पं० ईश्वरदत्त विद्यालंकार, पं० सत्यकाम वर्मा तथा पं० ग्रनुपम विद्यालंकार ने हिन्दी तथा संस्कृत में मुख्य विभागाध्यक्ष का पद प्राप्त किया। पं० सत्यकेतु विद्यालंकार, पं० हरिदत्त विद्यालंकार का नाम इतिहास के क्षेत्र में गर्व से लिया जाता है। परन्तु यह सव कहानी उन दिनों की है जव गुरुकुल शुद्ध ग्रर्थों में गुरुकुल था, जव गुरुकुल के स्नातकों को जीवन के संघर्ष में विदेशी सरकार से कोई सहारा नहीं लेना था, ग्रपने वूते ग्रपना रास्ता निकालना था, जव उन्हें शिक्षा-दीक्षा देनेवाले उच्च-कोटि के शिक्षक थे।

ग्राज स्थिति वदली हुई है। गुरुकुल का ग्राज का वातावरण, ग्राज के कार्य-कर्ता ऐसे नहीं हैं कि गुरुकुल की भावना को समझ सकें। पार्टीवाज़ों ने उन्हें वहाँ लाकर वैठा दिया है। उनके सामने कोई लक्ष्य नहीं, कोई योजना नहीं। गुरुकुल का हित इसमें है कि सव काम नये सिरे से किया जाये। इसे एकदम वन्द करके नये गुरुकुल को जन्म दिया जाये जिसमें उच्च-कोटि के शिक्षक हों; जिसमें ऐसे विद्यार्थी तैयार किये जायें जो उच्च-से-उच्च सरकारी पदों को प्राप्त करने की ग्राई० ए० एस० तथा ग्राई० पी० एस० ग्रादि परीक्षाग्रों में वैठें, जो मजिस्ट्रेट हो सकें, पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट हो सकें, रेलवे के उच्च ग्रधिकारी हो सकें, जज हो सकें। इस स्वतन्त्र देश का जो ऊँचा-से-ऊँचा सरकारी पद है उसे प्राप्त कर सकें।

पब्लिक स्कूलों के प्रति लोगों का मोह क्यों है ? इसलिए मोह है क्योंकि वहाँ शिक्षा पाकर विद्यार्थी का जीवन में रास्ता खुल जाता है। इसका यह मतलव नहीं है कि दूसरों का नहीं खुलता। पब्लिक स्कूलों में विद्यार्थी कम लिये जाते हैं, शिक्षक उच्च-कोटि के होते हैं, विद्यार्थियों पर ज्यादा ध्यान केन्द्रित कर सकते हैं। गुरुकुल भी कभी ऐसा ही था, ग्रव भी वैसा ही वनाने की जरूरत है, भेद इतना ही है कि शिक्षकों का स्टैण्डर्ड ऊँचा किया जाये, शिक्षा का लक्ष्य विद्यार्थियों को व्यावहारिक जीवन में सफल वनाना हो जाये। इसका यह ग्रर्थ नहीं है कि उन्हें धार्मिक शिक्षा न दी जाये। धार्मिक शिक्षा देकर ग्रार्यसमाज का प्रचारक वनाना एक वात है ग्रौर हर विद्यार्थी को धर्म की शिक्षा देना दूसरी वात है। प्रचारक वनाने के लिए संस्था में एक ग्रलग विभाग रखा जाये, व्यावहारिक जीवन में विद्यार्थियों को सफल वनाने के लिए एक दूसरा विभाग रखा जाये। इस गुरुकुल

से शिक्षाप्राप्त विद्यार्थी सफल प्रचारक भी हों, सफल सरकारी कर्मचारी भी हों। यह कह देना कि सफल सरकारी कर्मचारी बनने से कौन रोकता है, मेरी बात को न समझना है। मैं तो कहता हूँ कि हमें गुरुकुल की शिक्षा को ऐसा मोड़ देने की जरूरत है जिससे सरकारी उच्च पदों पर जाने के लिए विद्यार्थी तैयार किये जायें। ये विद्यार्थी अगर संस्था के धार्मिक वातावरण से प्रभावित होंगे तो जहाँ-जहाँ भी देश में काम करेंगे वहाँ-वहाँ धार्मिक भावना का संचार करेंगे।

मेरा सपना यह है कि इस प्रकार गुरुकुल में जो विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करें, वे यहाँ की प्रथा के अनुसार प्रारम्भ से अन्त तक यहीं रहें, ब्रह्मचर्य तथा तपस्या का जीवन व्यतीत करें, वे हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेज़ी—तीनों भाषाओं का बोलचाल में ऐसा प्रयोग कर सकें जैसे अपनी मातृभाषा का प्रयोग किया जाता है। इस गुरुकुल में गिने-चुने ऐसे शिक्षक रखे जायें जो अपने क्षेत्र में उच्चकोटि के हों, जिनके सम्पर्क में आकर विद्यार्थी उनके प्रति ऐसे आकर्षित हों जैसे लोहा चुम्बक के प्रति आकर्षित होता है। इन विद्यार्थियों को दो विभागों में शिक्षा दी जा सकती है—प्रचारक-विभाग तथा व्यावहारिक-विभाग। चरित्र-निर्माण को नींव में रखकर इन दोनों विभागों को उच्च-स्तर के शिक्षकों द्वारा संचालित करना—यह मेरा गुरुकुल के भविष्य के सम्बन्ध में सपना है।

मेरे इन लेखों के विषय में पाठकों के हृदय में भिन्न-भिन्न शंकाएँ उठ सकती हैं। पब्लिक स्कूल तथा गुरुकुल में क्या भेद होगा; क्या इस संस्था का नाम गुरुकुल ही रहेगा या गुरुकुल पब्लिक स्कूल होगा; गुरुकुल को इतना ऊँचा स्टैण्डर्ड कर देने का खर्च कौन देगा; इतने ऊँचे स्टैण्डर्ड के शिक्षक कहाँ मिलेंगे; आर्यसमाज को ऐसा गुरुकुल खोलने की क्या ज़रूरत है; अंग्रेज़ी को इस प्रकार के गुरुकुल में इतना ऊँचा स्थान क्यों दिया जाये; जो इस समय काबिज़ हैं उनसे कैसे पीछा छूटेगा; अगर चालू गुरुकुल को बन्द कर, गुरुकुल को मेरे सपने पर ढाला जाये तो जो विद्यार्थी पहले पढ़ रहे हैं उनका क्या होगा—ये शंकाएँ हैं जो उठ खड़ी हो सकती हैं। शंकाएँ कहाँ नहीं उठतीं? जहाँ शंका की गुंजाइश नहीं होती वहाँ भी शंकाएँ उठती हैं। शंकाएँ उठती हैं और उनका समाधान भी होता है। मैं तो यह देख रहा हूँ कि गुरुकुल उजड़ता जा रहा है, परन्तु उसका किसी को दर्द नहीं। गुरुकुल के स्नातकों को गुरुकुल की वर्तमान अवस्था देखकर दर्द है। वे चाहते हैं—इसका कुछ बने। क्या बने—इस दिशा में मैंने एक विचार दिया है, सोचनेवाले सोचें—इस दिशा में भी सोचें, किसी अन्य दिशा में भी सोचें। स्वामी श्रद्धानन्द का लगाया यह पौधा जो कभी लहलहा रहा था, फूल-फल दे रहा था, उसकी जड़ में घुन न लगने दें।

□

आचार्यः उपनयमानो कृणुते ब्रह्मचारिणं गर्भमन्तः

गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली को लेकर आमतौर पर भ्रम फैला हुआ है कि गुरुकुल काँगड़ी, हरिद्वार की संस्था ही गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली है। एक भ्रम यह भी है कि आर्यसमाज का ही सम्बन्ध गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली के साथ है या इस प्रणाली का उद्देश्य आर्यसमाज की विचारधारा का प्रचार करना है, या गुरुकुल-शिक्षा प्राप्त करनेवाले छात्र अगर आर्यसमाज का कार्य नहीं करते तो गुरुकुल-शिक्षा निरर्थक है। ये सभी बातें सारहीन हैं।

गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली एक स्वतन्त्र शिक्षा-प्रणाली है। जैसे मॉण्टेसरी सिस्टम, प्रोजेक्ट सिस्टम, बुनियादी तालीम या वर्धा-योजना शिक्षा की एक-एक पद्धतियाँ हैं, वैसे ही गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली भी शिक्षा की एक पद्धति है। जैसे मॉण्टेसरी सिस्टम को मैडाम मॉण्टेसरी ने चलाया, प्रोजेक्ट सिस्टम को जॉन ड्युई तथा उनके शिष्य किलपैट्रिक ने चलाया, बुनियादी तालीम को महात्मा गांधी ने चलाया, वैसे ही गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति को, ऋषि दयानन्द के वैदिक आधार पर लिखे सत्यार्थप्रकाश से प्रेरणा लेकर महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) ने चलाया। गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली का आर्यसमाज के साथ अविनाभाव का संबंध नहीं है। यह सहस्रों वर्षों से परम्परा के तौर पर भारत में चली आ रही शिक्षा-प्रणाली है जिसके ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों में उल्लेख से संकेत पाकर महात्मा मुंशीराम ने गंगा-पार हरिद्वार में एक संस्था की स्थापना की और क्योंकि वे आर्य-समाजी थे इसलिए उनकी काँगड़ी में स्थापित संस्था और उनके अनुकरण में जगह-जगह स्थापित शिक्षा-संस्थाएँ आर्यसमाज से जुड़ी प्रतीत होती हैं।

इस दृष्टि से विचार करें तो गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली एक व्यापक शब्द है व काँगड़ी, झज्झर, अयोध्या, कुरुक्षेत्र, इन्द्रप्रस्थ आदि संकुचित तथा एकदेशीय शब्द हैं। हो सकता है कि काँगड़ी, अयोध्या, कुरुक्षेत्र, सूपा आदि में गुरुकुल नाम की किसी शिक्षा-संस्था में गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली न हो, यह भी हो सकता है कि देहरादून, अमृतसर, दिल्ली या अन्यत्र कहीं एक स्कूल या कॉलेज हो, जो गुरुकुल न कहा जाता हो, परन्तु उसमें गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली चल रही हो। जब मैं कहता

हूँ कि गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली शिक्षा की एक पद्धति है, जिसे सर्वप्रथम आर्यसमाज ने अपनाया, तब मेरा यह भी अभिप्राय है इस पद्धति को जैन, बौद्ध, ईसाई, मुसलमान—कोई भी अपना सकता है और यह भी संभव है कि जैन, बौद्ध, ईसाई व मुस्लिम गुरुकुल हों, नाम भले ही उनका गुरुकुल न हो और उन संस्थाओं का आर्यसमाज से दूर का भी सम्बन्ध न हो। जब यह समझ लिया जाएगा कि गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली एक पद्धति है, किसी संस्था-विशेष का नाम नहीं, तब अगर यह देखने में आये कि ईसाई और मुस्लिम गुरुकुल भी खुलने लगे हैं तो कोई आश्चर्य की बात न होगी।

अब विचारणीय रह जाते हैं गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति के मूलभूत सिद्धान्त। अगर गहरे में जायें तो स्पष्ट हो जाएगा कि 'गुरुकुल' शब्द में ही गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति के मूलभूत सिद्धान्त निहित हैं। 'गुरुकुल' यह 'गुरु' तथा 'कुल'—इन दो शब्दों से बना है। इनके अतिरिक्त इस प्रणाली में एक तीसरा शब्द है 'शिष्य'—वह व्यक्ति जिसके लिए इस शिक्षा-पद्धति का निर्माण हुआ है। इसमें एक चौथा शब्द है—'आश्रम'। इन शब्दों पर विचार करने से गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति के मूलभूत सिद्धान्त स्पष्ट हो जाते हैं।

(१) गुरु—इस पद्धति का पहला शब्द है—'गुरु'। संस्कृत में एक प्रचलित शब्द है 'गुरुत्वाकर्षण'। इस शब्द का अर्थ है कि गुरु (भारी) वस्तु अपने से हल्की वस्तु को अपनी तरफ खींच लेती है। उदाहरणार्थ, सब वस्तुएँ बरबस पृथिवी की तरफ खिंच आती हैं। 'गुरु' का अर्थ है—वह व्यक्ति जो अपने गुणों से, अपनी विद्या से इतना भारी हो कि अल्प-ज्ञानवाले सब लोग उसकी तरफ खिंचे चले आयें। गुरु का यह सबसे बड़ा गुण है। आज हमारे गुरु विद्या या अपने गुणों से इतने भारी नहीं हैं कि विद्यार्थी उनकी तरफ खिंचे चले जायें। शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक गुरुत्ववाला ही गुरु कहलाने के योग्य बनता है। पर क्या हमारे गुरुओं में ऐसे गुण हैं कि छात्र उनकी तरफ खिंचे चले आयें? पढ़ानेवाले ही जब हड़ताल करें तब पढ़नेवाले उनसे क्या सीखेंगे? जब घड़ा भरा हो तभी उसमें से पानी पिया जाता है, खाली घड़े से किसकी प्यास मिट सकती है? आज हर छात्र को जो जीवन में कुछ बनना चाहता है ट्यूशन लेनी पड़ती है। जितने स्कूल हैं उतने ही ट्यूशन-घर खुले हैं। ट्यूशन-घर क्या हैं, गुरुओं की विद्या बेचने की दुकानें। भारतीय संस्कृति के अनुसार जिन्हें ब्राह्मण कहा जाना चाहिए वे ब्राह्मण नहीं, बनिये बने हुए हैं। गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति का पहला मूल-सूत्र है कि विद्या का दान दिया जाता है, वह बेची नहीं जाती। भले ही आज के युग में यह कर सकना कठिन है परन्तु विद्या देते हुए ऐसा दृष्टिकोण तो रखा ही जा सकता है। गुरु बनने के लिए पैसे का महत्त्व कम नहीं, परन्तु उसके लिए विद्या का अगाध सागर बनकर छात्रों की पिपासा को मिटाने के लिए उन्हें अपनी तरफ आकर्षित

कर सकना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है—यह गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति का पहला मूल-सिद्धान्त है।

(२) कुल—इस पद्धति का दूसरा शब्द है—'कुल'। कुल का अर्थ है—'परिवार'। गुरुकुल उस शिक्षा-पद्धति को कहते हैं जिसमें गुरु तथा शिष्य इस भावना से एक-साथ रहते हैं मानो वे सब एक परिवार के अंग हों। बच्चा जन्म से ही माता-पिता के साथ रहता है, वह माता-पिता से, भाई-बहिनों से प्यार पाता है। गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति में शिक्षा पाने के लिए उसे माता-पिता, भाई-बहिन के छोटे तथा सीमित परिवार से अलग रखा जाता है, परन्तु गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति की भावना में वह एक छोटे परिवार से बड़े परिवार में जाता है, जहाँ गुरु उसके पिता तथा अन्य बच्चे उसके भाई होते हैं। शिक्षा-संस्था में 'कुल' की भावना गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति की ऐसी विशेषता है, जो अन्य शिक्षा-पद्धतियों में नहीं पायी जाती। वेदों में तो यहाँ तक कहा है कि आचार्य-कुल में बालक का प्रवेश, मानो विद्यारूपी माता के गर्भ में प्रवेश पाना है, जहाँ उसका नया जन्म शुरू होता है। यह समझना कि गुरुकुल में प्रविष्ट होकर बालक माता-पिता से बिछुड़ जाता है, 'गुरुकुल' शब्द में निहित 'कुल' शब्द के अर्थ को न समझना है। इस शब्द की भावना है कि अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण समाज, एक कुल, एक 'परिवार' बनाता है। माता-पिता का परिवार एक सीमित परिवार है; आचार्य-कुल एक बड़ा परिवार है, और ज्यों-ज्यों मनुष्य आगे-आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों समाज, देश तथा विश्व-परिवार में अपने को विलीन कर देता है। हम मानव-मानव की एकता की बात करते हैं, समाजवाद का नारा लगाते हैं, विश्व के सब नागरिकों के समान अधिकारों का आन्दोलन करते हैं, परन्तु जबतक ये भावनाएँ क्रियात्मक रूप में प्रारम्भिक शिक्षा तथा रहन-सहन द्वारा हमारे जीवन में ओत-प्रोत नहीं हो जातीं, तबतक ये नारेबाज़ी ही रह जाती हैं। अगर इस नारे को क्रियात्मक रूप देना हो, तो भाई-भाईपने का क्रियात्मक अनुभव जो मनुष्य जन्मते ही अपने परिवार में पाता है, उसे क्रियात्मक रूप से आगे बढ़ाना होगा ताकि एकात्मता की भावना परिवार में, कुल में शुरू हो, आचार्य-कुल में आगे बढ़े, और बढ़कर समाज, देश तथा विश्व में जा पहुँचे। इसी को वेद में कहा है—'**समानो मंत्रः समितिः समानी**'। गुरुकुल का 'कुल' शब्द प्रत्येक मानव को, विश्व को एक ही स्तर का नागरिक बनाने में एक कड़ी है। माता-पिता के कुल से आचार्य के, आचार्य के कुल से समाज के, समाज के कुल से देश, और देश के कुल से विश्व के कुल में आगे-आगे बढ़ते जाना—'गुरुकुल में 'कुल' शब्द का यही अर्थ है।

(३) शिष्य—गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति का तीसरा शब्द है—'शिष्य'। शिष्य शब्द '**शास् अनुशासने**' धातु से बना है। अनुशासन के लिए अंग्रेजी में शब्द है—डिसिप्लिन। शिष्य का मूल कर्त्तव्य है अनुशासन में, डिसिप्लिन में रहना। आज

कोई भी अनुशासन में रहने को तैयार नहीं। अनुशासन जीवन के किसी भी क्षेत्र में नहीं है। स्कूलों-कॉलेजों-यूनिवर्सिटियों में अपने अधिकारों के लिए विद्यार्थियों की, अध्यापकों की, प्रोफेसरों की, डॉक्टरों की यूनियनें हैं। हर क्षेत्र में यूनियनें हैं, मानो छात्रों का काम यूनियन वनाकर आन्दोलन करना है। छात्र, पेपर आउट हो जाय, या नकल करके विना पढ़े पास होना चाहते हैं, क्योंकि पढ़ने के लिए अनुशासन में बँधना होगा, जिसमें रहने के लिए कोई तैयार नहीं। गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति का मूल-सिद्धान्त ही अनुशासनप्रियता है, इसीलिए विद्यार्थी को 'शिष्य' संज्ञा दी गयी। जो विद्यार्थी-जीवन में अनुशासन न सीखें, वे समाज का अंग वनने पर कैसे अनुशासन में रह सकते हैं?

(४) **आश्रम**—विद्यार्थी को गुरुकुलाश्रम में रहना होता है, इसलिए इस पद्धति का चौथा शब्द है—'आश्रम'। वैदिक संस्कृति में मानव-जीवन चार आश्रमों में वँटा है—ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम। विद्यार्थी का जीवन सवसे पहले "ब्रह्मचर्याश्रम" से प्रारम्भ होता है। वैसे तो जीवन के ये पड़ाव होते ही हैं, वैदिक संस्कृति ने इन्हें वैज्ञानिक रूप देने के लिए इन्हें चार आश्रमों में बाँट दिया है। वालक पहले पढ़ता-लिखता है; फिर जीवन-संग्राम में उतर जाता है; आजीविका के लिए कोई धन्धा करता है; फिर इस कशमकश से थक जाता है, आराम करता है जिसे हम रिटायर होना कहते हैं; अन्त में सव तरफ से उपराम हो जाता है। जीवन के अवश्यंभावी इन चार पड़ावों की आश्रम-व्यवस्था में पहला पड़ाव, पहला आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम है जिसका आज लोग उपहास करते हैं। परन्तु, जिन्होंने जीना सीखा है वे जानते हैं कि असली स्वस्थ जीवन ब्रह्मचर्य का जीवन ही है। गुरुकुल-पद्धति का कहना तो यह है कि ब्रह्मचर्य से, और तप का जीवन विताने से मृत्यु पर विजय पाई जा सकती है—**ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।**

ब्रह्मचर्य और तप का जीवन माता-पिता के साथ गृहस्थ में रहने से नहीं वल्कि आश्रम में रहकर ही विताया जा सकता है। अंग्रेजी में आश्रम को वोर्डिंग-हाउस कह सकते हैं, पर वोर्डिंग हाउस तथा गुरुकुल की आश्रम-व्यवस्था में भेद यह है कि बोर्डिंग हाउस में छात्र जो-कुछ खाना चाहें खा सकते हैं। मांस तथा मसालों में किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं। अमीर अमीरी खाना खाये, ग़रीव ग़रीवी खाना। इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों तथा गुरुओं का एक ही वोर्डिंग हाउस में खाना आवश्यक नहीं। गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति में जहाँ खाने में सात्विकता आवश्यक है, वहाँ कुल की भावना होने के कारण गुरु-शिष्य का एक-साथ भोजन करना और भी आवश्यक है, अन्यथा गुरु-शिष्य का एक-साथ वोलना—**"सह नौ अवतु सह नौ भुनक्तु"**—यह सव निरर्थक हो जाता है।

आश्रम-व्यवस्था में सव ब्रह्मचारियों के एक-साथ रहने के दो मुख्य लाभ हैं।

पहला लाभ यह है कि सबकी दिनचर्या समान-सूत्र में बँध जाती है। सब समय पर सोते-जागते, स्नान-सन्ध्या-उपासना-व्यायाम आदि करते हैं। आवश्यक दिन-चर्या में से किसी आइटम को छोड़ते भी नहीं। गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति की यह देन जीवन को नियन्त्रित रखने में बहुत सहायक है। आश्रम-व्यवस्था का दूसरा लाभ यह है कि एक-साथ रहने से ऊँच-नीच का भाव नहीं रहता, सब समान रहते हैं, भाई-भाई की तरह। सार्वजनिक जीवन के लिए यह भावना अत्यन्त आवश्यक है। आज हमारा समाज जात-पाँत में बँटा है। कोई ऊँचा है, कोई नीची जात का। हम चुनाव भी इसी के आधार पर लड़ते हैं। निम्न कही जानेवाली जातियों के उद्धार के लिए माइनॉरिटी कमीशन और पार्लियामेण्ट-अधिनियम बने हुए हैं जिनसे ऊँच-नीच का भेद मिटाने के स्थान में दृढ़ होता जा रहा है। जब निम्न जाति का होने के कारण कुछ अधिकारविशेष मिलने लगे तब जाति-भेद कैसे मिट सकता है? जातिगत भेद-भाव को मिटाने के लिए शिक्षा-पद्धति में आश्रम-व्यवस्था को लाना अत्यावश्यक है।

गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली के जिन मूल-सिद्धान्तों का ऊपर उल्लेख हुआ है उनके विषय में पूछा जा सकता है कि आज के परिवेश में क्या वे व्यावहारिक हैं? आज का गुरु गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति में अन्तर्निहित आदर्शों पर चलने को तैयार नहीं। वह प्राचीन गुरुओं जैसा तपस्यामय जीवन बिताना नहीं चाहता। उसे तप नहीं करना, दूसरों की तरह आराम की ज़िन्दगी बितानी है। उसे मकान चाहिए, एयरकण्डीशनर चाहिए, गीज़र और हीटर, रेडियो तथा टेलीविज़न चाहिए। इसके लिए वेतन आये दिन बढ़ना चाहिए। शिष्य गुरु को न पिता-समान मानते हैं, न उसे वैसा आदर दे सकते हैं। उनके लिए गुरु है एक सेवक जो वेतन के लिए नौकरी करता है। वह गुरु को वैसा सम्मान देने के लिए तैयार नहीं जैसा प्राचीन काल के गुरुकुलों के शिष्य अपने गुरुओं को दिया करते थे। जहाँ तक शिक्षा-संस्था में कुल की भावना की अनुभूति का सम्बन्ध है, गुरु और शिष्य दोनों ही उसे मात्र टीचिंग-शॉप समझते हैं। हो भी यही रहा है कि जितना बड़ा विद्यालय, उतनी बड़ी फ़ीस। पब्लिक स्कूलों में पढ़ाया वही जाता है जो अन्य साधारण स्कूलों में, परन्तु पब्लिक स्कूल के नाम से फ़ीस कई गुणा ज्यादा ली जाती है। पब्लिक स्कूल—एक ऐसा चालू सिक्का हो गया है जो बच्चों को अंग्रेज़ियत सिखाता है।

देश की ऐसी स्थिति में गुरुकुल के उन आदर्शों का गान करना कहाँ तक समया-नुकूल तथा व्यावहारिक है? हम यह मानकर चलते हैं कि वर्तमान परिस्थिति में इन सिद्धान्तों को व्यापक रूप देना सम्भव नहीं है। हर स्कूल-कॉलेज को, हर यूनिवर्सिटी को इन आदर्शों पर नहीं चलाया जा सकता, क्योंकि इन आदर्शों से ओत-प्रोत अध्यापक मिलने सम्भव नहीं हैं। अध्यापक तो वैसे ही मिलेंगे—

आजीविका के लिए अध्यापन-कार्य करनेवाले; बच्चों का जीवन बनाने के लिए तप, त्याग और तपस्या करनेवाले नहीं। इस कारण मानव-समाज में ऐसे व्यक्तियों का प्रवेश नहीं हो रहा जो सम्पूर्ण समाज को मानवीयता के गुणों से भर दें। मानव-समाज वैसा ही बनेगा जैसा शिक्षा-जगत् उसे बनायेगा। अगर शिक्षा-जगत् आदर्शहीन है, तो समाज आदर्शप्रिय कैसे हो सकता है ?

परन्तु क्या चक्र बदला नहीं जा सकता ? क्या समाज में ऐसे इने-गिने भी व्यक्ति नहीं मिल सकते जो शिक्षा के उन सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप देना अपने जीवन का लक्ष्य समझें जिनका हमने 'गुरुकुल' नाम से उल्लेख किया है ? संसार में भौतिकवादी ज्यादा तथा आदर्शवादी कम या इने-गिने हैं। विश्व में जितनी प्रगतिशील या आदर्शवादी विचारधारा उपजीं, आदर्शवाद की गंगोत्री से आगे बढ़-कर गंगा का रूप धारण कर गई हैं। महात्मा गांधी ने नगण्य से खद्दर को ही केन्द्र बनाकर देश की गरीबी हल करने का आदर्श खड़ा कर दिया और सम्पूर्ण देश में खद्दर का आन्दोलन चल पड़ा। जगह-जगह खद्दर-भण्डार खुल गये और उन सब को एक सूत्र में बाँधकर खद्दर तथा ग्रामोद्योग नाम की संस्था का जन्म हुआ। इस आन्दोलन में हजारों आदर्शवादियों ने जीवन खपा दिया और खपा रहे हैं। शिक्षा के क्षेत्र में कुछ ऐसा ही गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली का आन्दोलन था।

आदर्शहीन शिक्षा कैसी ?

शिक्षा किन्हीं आदर्शों को सामने रखकर दी जाती है। अंग्रेज भारत आये, राज-काज तथा जनता के बीच सम्पर्क स्थापित करने और शासन में सुविधा के लिए आंग्ल-शिक्षा-प्रणाली का सूत्रपात हुआ जिसका श्रेय मैकाले को है। मैकाले की शिक्षा-प्रणाली से अंग्रेजों के पैर भारत में जम गये क्योंकि तब अंग्रेजी पढ़े-लिखों को ही नौकरी मिल सकती थी।

अंग्रेजी शिक्षा से एक लाभ भी हुआ। अंग्रेजी-शिक्षित व्यक्तियों का आंग्ल-साहित्य के द्वारा पाश्चात्य जगत् के स्वतन्त्रता-सम्बन्धी विचारों से सम्पर्क स्थापित हुआ और अंग्रेजों के पाँव जमने के साथ-साथ उनके पाँव उखड़ने के आन्दोलन का सूत्रपात हो गया। शिक्षित व्यक्तियों में स्वतन्त्रता की लालसा जाग उठी। इस युग में जन्मे अनेक आन्दोलनों में शिक्षा-प्रणाली का आन्दोलन भी मुख्य था। अंग्रेजों का उद्देश्य था—अंग्रेजी जाननेवाले बाबुओं की भर्ती, अंग्रेजी शासन की नींव को दृढ़ बनाना और शिक्षित जन-मानस को अपनी संस्कृति, एवं आदर्श से विमुख बनाना। गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली का आदर्श ऐसे व्यक्ति तैयार करना था जो प्राचीन वैदिक संस्कृति से ओत-प्रोत, भारतीय संस्कारों तथा आदर्शों को जीवन में घटाकर देश की स्वतन्त्रता के लिए अपने को तैयार कर सकें। तब गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली का यह आन्दोलन देश के कोने-कोने में फैल

गया। गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति का लक्ष्य यह था कि अंग्रेजों के लिए नौकर नहीं पैदा करना, बल्कि ऐसे व्यक्ति पैदा करना है जो भारतीय आदर्शों को जीवन में उतार-कर यहाँ की संस्कृति और अन्ततोगत्वा भारत की स्वतन्त्रता की रक्षा कर सकें। इस शिक्षा-प्रणाली के संचालकों ने यह समझ लिया था कि वचपन की शिक्षा के आधार पर ही देश में भावी नागरिक उत्पन्न होंगे।

सैनिकों की दिनचर्या

इस प्रणाली का बीज ऋषि दयानन्दकृत सत्यार्थप्रकाश में था, परन्तु इसे मूर्तरूप दिया महात्मा मुंशीराम जी ने। गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली का केन्द्र हरिद्वार के समीप रखा गया। जिस समय हरिद्वार के समीप काँगड़ी में गुरुकुल की स्थापना हुई, देश परतन्त्र था और परतन्त्रता के युग की प्रतिक्रिया का रूप ही शिक्षा के क्षेत्र में गुरुकुल था। यद्यपि जिन सिद्धान्तों का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं वे सिद्धान्त गुरुकुल के इस केन्द्र में आधारभूत रखे गये तथापि उन सिद्धान्तों के साथ-साथ परतन्त्रता के सूचक सब चिह्नों को मिटा देना भी इस संस्था का उद्देश्य था। उदाहरणार्थ, शिक्षा का माध्यम हिन्दी रखा गया और उसी में रसायन, गणित, ज्यामिति, भौतिकी आदि विषयों को भी पढ़ाया जाने लगा। इन विषयों पर हिन्दी में पुस्तकें प्रकाशित की गईं। विद्यार्थियों को घुड़सवारी, तीरन्दाज़ी आदि सिखायी गयी। विद्यार्थियों की दिनचर्या सैनिकों जैसी रखी गयी, प्रातःकाल चार वजे उठ जाना, सन्ध्या-उपासना के बाद भिन्न-भिन्न प्रकार के योगासन करना, दण्ड-बैठक-व्यायाम-कुश्ती करना जिससे शरीर पुष्ट हो, सर्दी-गर्मी सहना, जूता धारण न करना आदि को देखकर बरबस लोग कहते थे कि यहाँ तो सैनिक तैयार किये जाते हैं।

एक दिन उत्तरप्रदेश के होम-सेक्रेटरी गुरुकुल पधारे। मैं उन्हें छोटे बच्चों के आश्रम में ले गया। वहाँ दैनिक दिनचर्या का बोर्ड टँगा था जिसमें प्रातः ४ बजे से रात्रि ८ बजे तक सारा कार्यक्रम लिखा हुआ था। पन्द्रह मिनट तक प्रोग्राम को पढ़ने के बाद वे बोले, आप जेल-जीवन के लिए बच्चों को तैयार कर रहे हैं। सरकारी क्षेत्रों में प्रसिद्ध था कि गुरुकुल काँगड़ी में क्रान्ति के सैनिक तैयार किये जाते हैं। इसी किंवदन्ती को सुनकर लॉर्ड मेस्टन, लॉर्ड चेम्सफ़ोर्ड तथा बरतानिया के प्राइम मिनिस्टर रैम्जे मैग्डॉनल्ड गुरुकुल देखने आये थे। वे लोग चाहते थे कि गुरुकुल सरकारी मदद ले ताकि क्रान्तिकारियों का दल गुरुकुल से उदासीन हो जाए। महात्मा मुंशीराम ने सरकार के हाथों बिकना अस्वीकार कर दिया। ऐसा था गुरुकुल, और इसकी शिक्षा-पद्धति, स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश का रूप-रंग बदल गया, देशवासियों का उद्देश्य बदल गया व उसके अनुरूप गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति की सरकारी सहायता न लेने

की नीति भी बदल गई। सरकार अपनी थी, और चाहती थी गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति के मूल-सिद्धान्त बने रहें और इसके लिए गुरुकुल-पद्धति के संचालकों के हाथ दृढ़ किये जावें। खेद है कि सरकार ने जिस उद्देश्य से हमें आर्थिक सहायता देना शुरू किया उसे क्रियात्मक रूप देने में हम सफल नहीं हुए क्योंकि हम भी बहाव के साथ बह गये।

योजना देशव्यापी बने

निःसन्देह गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति के आधारभूत सिद्धान्त शिक्षा-क्षेत्र में सर्व-मान्य हैं। गुरु का अपने छात्रों को पुत्रवत् मानकर उनके साथ जीवन विताना, सब छात्रों का एकसाथ रहना, परस्पर भाई-भाई का सम्बन्ध रखना, ऊँच-नीच, जाति-पाँति का भेदभाव न होना, जल्दी सोना, जल्दी उठना, संध्योपासन करना, तपश्चर्या तथा ब्रह्मचर्य का जीवन विताना, सात्त्विक भोजन और व्यायामादि से शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाना—कौन-सी शिक्षा-पद्धति है जो इन बातों को स्वीकार न करेगी ? इसी का नाम आश्रम-वास, गुरुकुल-वास है। इसी शिक्षा-पद्धति से मानव का, समाज, देश और विश्व का निर्माण हो सकता है। आज समय है कि हम इस दिशा में कदम बढ़ायें, परन्तु इसके लिए हमें गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति की देशव्यापक योजना बनानी पड़ेगी।

गुरुकुल काँगड़ी को विश्वविद्यालय की मान्यता प्राप्त हो चुकी है परन्तु इसमें गुरुकुलीयता नहीं आई। विश्वविद्यालय के छात्र साइकलों पर चढ़कर बाहर से आते हैं, और पढ़कर अपने-अपने घरों को चले जाते हैं। प्रोफेसरों का भी यही हाल है। गुरुकुल के क्वार्टर सस्ते हैं, इसलिये वे वहाँ रहते हैं, नहीं तो छात्रों के साथ उनका कोई नैत्यिक सम्बन्ध नहीं है। अन्य स्कूल-कॉलेजों की तरह वे पढ़ा-कर अपने घर आ बैठते हैं। रहना-सहना उनका दूसरे अध्यापकों जैसा ही होता है। कोट-पतलून में रहते और स्कूटरों पर चढ़कर आते-जाते हैं। तपश्चर्या का वातावरण कहीं नहीं है। वे गुरुकुल में रहनेवाले गुरु या आचार्य नहीं बल्कि लेक्चरार, रीडर तथा प्रोफेसर हैं। कोई ऐसा कदम उठाना होगा, ऐसी योजना बनानी होगी जिससे गुरुकुल विश्वविद्यालय वास्तविक अर्थों में देश या विश्व-व्यापी गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति का प्रतीक बने।

गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति का मूलाधार तो गुरुकुल काँगड़ी ही है जिसे दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक भाग तो वह, जो चालू पद्धति पर ही चल रहा है। दूसरा वह, जिसमें गुरुकुल-पद्धति के सिद्धान्त ही लागू हो रहे हैं, या हो सकते हैं। दूसरे भाग को गुरुकुल कहकर हम ग्रांट पहले भाग के लिए ले रहे हैं। पहले भाग में छात्रों की संख्या अधिक है, परन्तु वह नाममात्र का गुरुकुल है; दूसरे भाग में छात्रों की संख्या कम है, परन्तु यथार्थ में वही गुरुकुल है। इस गड़बड़झाले में से निकलने

का उपाय यही है कि हम दूसरे भाग को इतना बढ़ायें कि उसमें पढ़नेवाले छात्र ही पहले भाग में प्रविष्ट हों, और धीरे-धीरे स्थिति यह आ जाय कि पहले भाग में सिर्फ गुरुकुल में शिक्षा-प्राप्त ऐसे छात्र ही रह जायें जिन्होंने गुरुकुल के विद्यालय-विभाग में शुरू से शिक्षा प्राप्त की हो। गुरुकुल काँगड़ी में विद्यालय-विभाग से विश्वविद्यालय-विभाग तक वही छात्र जायें जो गुरुकुल शिक्षा-पद्धति से पढ़े हों, जिनका सोना-जागना, खाना-पीना, बोलना-चालना, वेश-भूषा—सब-कुछ गुरु-कुलीय हो। जब ऐसे छात्र जो ६-७ वर्ष की आयु से गुरुकुल में प्रविष्ट होकर शिक्षा-काल के अन्तिम समय तक गुरुकुल में ही रहते हुए पूर्ण शिक्षा प्राप्त कर निकलेंगे, तब गुरुकुल-शिक्षा का असली शुद्ध रूप निखरकर उभरेगा।

केवल पुस्तक नहीं

जहाँ तक पुस्तक-शिक्षा का प्रश्न है, हमें यह समझकर चलना चाहिए कि गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति वास्तव में जीवन की पद्धति है। शिक्षा के क्षेत्र में हम जहाँ संस्कृत-साहित्य, दर्शन तथा वेदादि प्राचीन ग्रन्थों एवं उनकी रिसर्च पर विशेष ध्यान देते हैं, वहाँ पाश्चात्य विद्वानों को भी पाठविधि में यथोचित स्थान देते हुए यह ध्यान रखते हैं कि हमारी शिक्षा गुरुकुलीय जीवन-पद्धति को अपना मूल समझे और जीवन-निर्माण की उस दिशा को सर्वतः मूर्धन्य समझे। गुरुकुल एक ऐसी संस्था बने जिसमें शिक्षा तथा जीवन के उन सिद्धान्तों को प्रधानता दी जाती हो जो व्यक्ति, समाज, देश तथा विश्व के उन्नयन के लिए आवश्यक हैं। इसमें ऐसे ही कार्यकर्त्ताओं का संग्रह हो जिनके जीवन में पूर्व-उल्लिखित वे मूल-तत्त्व ओत-प्रोत हों। जब हम गुरुकुल विश्वविद्यालय को इस स्थिति में लायेंगे तब अगला कदम उठाना होगा, और वह कदम होगा गुरुकुल की जीवन-प्रणाली को शिक्षा-क्षेत्र में सर्वव्यापी बना देना।

किसी संस्था के सर्वव्यापी होने के लिए उसकी जड़ों और शाखाओं का देश तथा विश्व के कोने-कोने में फैलना आवश्यक है। विश्व में फैल जाने के पहले इस जीवन-प्रणाली के देशभर में फैल जाने की ज़रूरत है। गुरुकुल जीवन-पद्धति का एक आन्दोलन है जिसका उद्देश्य उस मानव का निर्माण करना है जैसा हम समाज, देश और विश्व में देखना चाहते हैं। ऐसा मानव, जो अधःपतन के सब प्रलोभनों से मुक्त शुद्ध जीवन का निर्माण करे। इसके लिए नींव का काम गुरुकुल-जीवन-पद्धति के उन मूल-तत्त्वों को उभारने से ही किया जा सकता है अन्यथा शिक्षित होकर भी हम अशिक्षित ही रहेंगे। ऐसी जीवन-पद्धति को गुरुकुल विश्वविद्यालय में केन्द्र बनाकर उसकी शाखाएँ हर शहर, हर राज्य में खोलने की योजना को देश-व्यापक रूप देने से ही नव-मानव का निर्माण हो सकता है। देशव्यापी गुरुकुल-विश्वविद्यालय से सम्बद्ध गुरुकुलों में एक प्रकार से इस विश्वविद्यालय की शाखाओं

में क्या पढ़ाया जाय, वह सरकार के शिक्षामन्त्रालय पर छोड़ देना चाहिए ताकि पुस्तकीय शिक्षा की दृष्टि से गुरुकुलीय विश्वविद्यालय तथा अन्य विश्वविद्यालयों में छात्रों का आदान-प्रदान तथा शैक्षणिक सम्पर्क बना रहे। देश की आवश्यकता पुस्तकीय शिक्षा के साथ-साथ गुरुकुलीय जीवन के सिद्धान्तों को व्यापक रूप देने की है। सिर्फ़ पुस्तकीय शिक्षा से जीवन नहीं बनता। पुस्तकीय शिक्षा के साथ-साथ गुरुकुलीय जीवन की शिक्षा देने से ही जीवन बन सकता है। इसलिए, गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति को, जो जीवन की एक पद्धति है, देशव्यापी बनाने की आवश्यकता है।

□

वेदोऽखिलो ज्ञानमूलम्

उचित तो यह है कि 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' परन्तु इस लेख के लिए हमने शीर्षक बदलकर उसे 'वेदोऽखिलो ज्ञानमूलम्' कर दिया है। इसका कारण यह है कि संसार के जितने भी प्रधान धर्म हैं—'वैदिक धर्म, 'पारसी धर्म', 'ईसाइयत', 'इस्लाम', 'सिक्खिज़्म'—किसी धर्म की धर्म-पुस्तक का नाम ज्ञान नहीं है, केवल 'वैदिक धर्म' की इल्हामी पुस्तक का नाम 'वेद' है जिसका अर्थ है—ज्ञान। उक्त सब धर्मों को माननेवाले यह मानते हैं कि सृष्टि परमात्मा ने बनाई, मनुष्य को परमात्मा ने उत्पन्न किया, तो स्वभावतः प्रश्न उठता है कि मनुष्य को ज्ञान किसने दिया ? अगर परमात्मा ने ही ज्ञान दिया तो उस ज्ञान को ज्ञान ही तो कहना चाहिए। 'वेद'—इस शब्द का अर्थ ही है ज्ञान। पारसियों की धर्म-पुस्तक का नाम 'जिन्दावस्था' है, ईसाइयों की धर्म-पुस्तक का नाम 'बायबल' है, मुसलमानों की धर्म-पुस्तक का नाम 'कुरान' है, सिक्खों की धर्म-पुस्तक का 'गुरु ग्रन्थ-साहिब' है, केवल वैदिक धर्मानुयायियों की धर्म-पुस्तक का नाम 'वेद' है जिसका अर्थ है 'ज्ञान'—केवल 'ज्ञान'। जब अन्य धर्मानुयायियों की धर्म-पुस्तक का दावा ही नहीं है कि वे ज्ञान की पुस्तकें हैं, तब उन्हें ईश्वरीय ज्ञान सिद्ध करना मुद्दई सुस्त गवाह चुस्त होने की कहावत को चरितार्थ करता है।

अगर इन धर्मों की इल्हाम कहे जानेवाली पुस्तकों के विषय-वस्तु को देखा जाय तब भी यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें किस्से-कहानियाँ भरे पड़े हैं। पारसियों की ज़िन्दावस्था में ज़रथुश्थ्र के किस्से-कहानियाँ हैं; बायबल के दो भाग हैं—ओल्ड टेस्टामेंट (पुराना अहदनामा) तथा न्यू टेस्टामेंट (नया अहदनामा)—इनमें से पुराने में मूसा तथा अब्राहम के किस्से-कहानियाँ हैं, और नये में हज़रत मसीह का जन्म-काल से मृत्यु-काल तक का जीवन है; कुरान में हज़रत मुहम्मद की घरेलू बातों का ज़िक्र है; गुरु ग्रन्थ साहब में भिन्न-भिन्न गुरुओं के वचन हैं। सिर्फ़ वेद ही एक ऐसा ग्रंथ है जिसका अर्थ ही ज्ञान है, और वैदिक धर्मानुयायियों का कथन है कि यह मनुष्य की वाणी नहीं है, यह ईश्वरीय ज्ञान का ग्रन्थ है। कोई अन्य ग्रन्थ इस बात का आग्रह नहीं करता कि वह ईश्वरीय ज्ञान है।

इतिहास की दृष्टि से देखा जाय तो यह जानकर आश्चर्य होता है कि संसार के सब देशों के वैदिक विद्वान् अब तक यह निर्णय नहीं कर सके कि वेद के उद्भव

होने का काल क्या है, उनका तो सिर्फ़ इतना-सा ही दावा है कि वेद सृष्टि के आदिकाल में प्रकट हुए। कम-से-कम इतना तो सब मानते हैं कि आदिकालीन धर्म-ग्रन्थों में वेद सबसे प्राचीन हैं। मैक्समूलर का तो कहना था—Rigveda is the oldest book of mankind—मानव-समाज का ऋग्वेद सबसे प्राचीन ग्रंथ है। काल की दृष्टि से सब धर्मों का जो काल-निर्णय किया जाता है वह ईसा के जन्म को केन्द्र मानकर किया जाता है। यह निश्चय किया जाता है कि कौन-सा धर्म-ग्रन्थ कितने वर्ष ईसा से पूर्व हुआ या कितने वर्ष पीछे हुआ। उस दृष्टि से इन ग्रन्थों का काल निम्न माना जाता है जो हमने अपने ग्रन्थ 'वैदिक संस्कृति का सन्देश' पुस्तक के २३६ पृष्ठ पर दिया है :

पारसियों के जरथुश्थ्र का काल	ईसा से ७०० वर्ष पूर्व
मुहम्मद साहब का काल	ईसा से ६०० साल बाद
वेद का काल—मैक्समूलर तथा मैग्डॉनल	ईसा से १४०० वर्ष पूर्व
जेकोबी	ईसा से ४५०० वर्ष पूर्व
तिलक	ईसा से ६००० या ७००० वर्ष पूर्व
अविनाशचन्द्र दास	ईसा से ५०,००० वर्ष पूर्व
पावगी	ईसा से २४०,००० वर्ष पूर्व
ऋषि दयानन्द	सृष्टि के आदिकाल से

किसी घटना या ग्रन्थ के काल का निर्णय करने के लिए सबसे बढ़िया कसौटी यह है कि जिस घटना का काल हमें निश्चित रूप से पता है, अगर वह घटना किसी ग्रन्थ में पायी जाती है तब यह निश्चय रूप में कहा जा सकता है कि वह ग्रन्थ उस घटना के बाद का है। अन्य धर्म-ग्रन्थों के विषयों में इस आधार पर निर्णय किया ही जा चुका है, वेद के विषय में इस आधार पर अभी तक कोई निर्णय नहीं हुआ। इतिहासकार श्री अविनाशचन्द्र दास ने Rigvedic India में भौगोलिक आधार पर निर्णय करने का प्रयत्न किया है, परन्तु वह निर्णय ऋग्वेद को ५०,००० वर्ष ईसा से पूर्व ले जाता है। वेदों के विषय में इस प्रकार का निर्णय करने के लिए मुख्य कसौटी यह है कि वेदों में इतिहास है या नहीं। अगर वेद में इतिहास मिल जाता है तो वेद सृष्टि के आदिकालीन नहीं हो सकते, अगर इतिहास नहीं मिलता तो इस दृष्टि से वेदों के काल पर विचार किया जा सकता है। इस दृष्टि से मुख्य प्रश्न यह रह जाता है कि वेदों में इतिहास है या नहीं?

वेदों में इतिहास है या नहीं—यह प्रश्न नया नहीं है। यह प्रश्न पाश्चात्य विद्वानों ने ही नहीं उठाया, भारत के प्राचीन विद्वानों के सामने भी यह प्रश्न था। अगर वेदों में इतिहास है तो वे ईश्वरीय ज्ञान नहीं हो सकते, सृष्टि के आदिकाल में नहीं हो सकते। इसी आधार पर हम ज़िन्दावस्था को ज़रथुश्थ्र के काल का, ओल्ड टेस्टामेंट को मूसा के काल का, न्यू टेस्टामेंट को ईसा के काल का, कुरान को

मुहम्मद के काल का कहते हैं। वेदों को अगर हम ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं तो वेदों में इतिहास नहीं हो सकता। प्राचीन वैदिक विद्वानों में वेद-विषयक जिन्होंने गहरा अध्ययन किया था उनमें निरुक्तकार यास्क का नाम सर्व-प्रसिद्ध है। उन्होंने वेदों के दो प्रकार के अर्थ किये हैं—इतिहासपरक तथा निरुक्तिपरक। इतिहासपरक अर्थों का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं—**इति ऐतिहासिकाः**, परन्तु क्योंकि वे वेदों में इतिहास नहीं मानते इसलिए उनका अपने ढंग से अर्थ करते हुए वे लिखते हैं—**इति नैरुक्ताः**। निरुक्तकार दिखाई देनेवाले इतिहास का परिहार कैसे करते हैं? उनका कहना है कि शब्दों का दो तरह से निर्माण होता है—पहले शब्दों का निर्माण यौगिक होता है, फिर वह शब्द रूढ़ि बन जाता है। वेद को समझने के लिए यौगिक तथा रूढ़ि—इन दो शब्दों को समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। अन्य धर्म-ग्रन्थों को समझने के लिए शब्द-शास्त्र को यौगिकवाद तथा रूढ़िवाद—इन शब्दों को समझना आवश्यक नहीं है; वेदों का अर्थ करते हुए इन शब्दों की भावना को समझे वग़ैर वेदार्थ समझना उलझन में डाल देना है।

निरुक्तकार का 'यौगिक' तथा 'रूढ़ि'—इन शब्दों के प्रयोग से क्या अर्थ है? यौगिक शब्द वे होते हैं जो किसी धातु के योग से बनते हैं, उनके एक नहीं अनेक अर्थ होते हैं। निरुक्तकार ने कहा है—'**अनेकार्थाः धातवः**'। उदाहरणार्थ, 'पिता' शब्द पितृ पालने धातु से बना है। जो पालन करनेहारा हो वह 'पिता' कहलाता है। 'माता-पिता' में बाप 'पिता' इसलिए कहलाता है क्योंकि वह बच्चों का पालन करता है। 'राजा' को भी पिता कहा जा सकता है, क्योंकि वह प्रजा का पालन करता है। 'आचार्य' को भी पिता कहा जा सकता है क्योंकि वह शिष्यों का पालन करता है। परन्तु जब यही शब्द किसी एक व्यक्ति के साथ जुड़ जाय तब यह यौगिक से रूढ़ि हो जाता है। कई लोग पिता न होते हुए भी जन-समाज में 'पिताजी' नाम से प्रसिद्ध हो जाते हैं, कई चाचा न होते हुए भी 'चाचा' नाम से प्रसिद्ध हो जाते हैं। ऐसे प्रकरण में यौगिक का रूढ़िरूप में प्रयोग हो जाता है। वेदों का अर्थ करते हुए इस दृष्टि का रहना आवश्यक है। यौगिक अर्थ करने में इतिहास नहीं रहता, रूढ़ि अर्थ करने में इतिहास आ जाता है। जो लोग कहते हैं कि वेदों में इतिहास है वे शब्दों का रूढ़ि अर्थ करते हैं, जो कहते हैं वेदों में इतिहास नहीं है वे शब्दों का यौगिक अर्थ करते हैं। शब्दशास्त्र की दृष्टि से यह स्पष्ट है कि शब्दों का पहले यौगिक अर्थ होता है, अर्थात् एक ही शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है, बाद में किसी ख़ास वस्तु के साथ उसका निरन्तर प्रयोग होने से वह उसका रूढ़ि अर्थ हो जाता है। रूढ़ि पहले हो यौगिक पीछे हो – ऐसा नहीं होता; यौगिक पहले हो और रूढ़ि पीछे हो—ऐसा ही होता है। वेदों के शब्दों का यौगिक अर्थ होता है, इसलिए वेदों में इतिहास नहीं है—यह निरुक्तकार का मत है। इसके विपरीत सायण, महीधर तथा उनके पीछे चलनेवाले मैक्समूलर,

मैग्डॉनल, जेकोबी आदि का मत है कि वैदिक शब्दों का रूढ़िपरक अर्थ है, इसलिए वहाँ जो नामपरक शब्द पाये जाते हैं उनके आधार पर वेदों में इतिहास है। यह मान्यता इसलिए भ्रान्त है क्योंकि इसमें रूढ़ि को पहले और यौगिक को पीछे मानना पड़ता है। उदाहरणार्थ, निम्न मन्त्र से रूढ़ि की प्राथमिकता की मान्यता खण्डित हो जाती है। अथर्व (१०.२.३१) में निम्न मन्त्र पाया जाता है :

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्ग्यो ज्योतिषावृतः।

अर्थात्, दिव्यगुणवाली शक्तियों का मानो कोश यह दिव्य शरीर है जिसको एक नगर के तौर पर देखा जाय तो उसे अयोध्या कह सकते हैं। इस शरीररूपी अयोध्या नगर के आठ चक्र हैं जिन्हें योगी लोग कुंडलिनी, मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, विशुद्ध, आज्ञा तथा सहस्रार कहते हैं। इस शरीररूपी अयोध्यापुरी के नौ द्वार हैं—दो आँख, दो कान, दो नासिका के छिद्र, एक मुख, एक गुदाद्वार, एक मूत्रद्वार।

इस मन्त्र में 'अयोध्या' का नगर के रूप में वर्णन है। प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि क्या अयोध्या नगरी अथर्ववेद से पहले थी या बाद को बनी ? यह तो सर्व-सम्मत है कि वेदों का काल रामायण से पूर्व का है। अगर यह बात ठीक है, तो अथर्ववेद में 'अयोध्या'-शब्द कैसे आया ? या तो यह मानना पड़ेगा कि अथर्ववेद का काल अयोध्या नगर से पीछे का है, या यह मानना पड़ेगा कि 'अयोध्या'-शब्द वेद में यौगिक पद्धति के अनुसार लिया गया है। निरुक्त-पद्धति के अनुसार शरीर-रूपी नगर को जो इतना मजबूत है कि उसके विरुद्ध कुछ किया ही नहीं जा सकता 'अयोध्या' कहा गया है—अयोध्या नगरी को अयोध्या नहीं कहा गया।

वेदों के विषय में तीन दृष्टियों से विद्वानों ने विचार किया है। एक दृष्टि है निरुक्तकार तथा ऋषि दयानन्द की। इस दृष्टि से वेद ईश्वरीय ज्ञान है, सृष्टि के आदि में दिया गया, इसमें इतिहास नहीं है, वैदिक शब्दों के अर्थ यौगिक दृष्टि से करने चाहिएँ, रूढ़ि-दृष्टि से नहीं। यह दृष्टि आदि से अन्त तक युक्ति-संगत है। दूसरी दृष्टि सायण, महीधर आदि की है। इस दृष्टि में वेद ईश्वरीय ज्ञान तो है, परन्तु इसमें इतिहास भी है। ये लोग वेदों के अर्थ रूढ़ि-पद्धति से करते हैं, इसलिए वेदों में इतिहास मानते हैं। कहीं शब्दों का अर्थ रूढ़िवाद से करते हैं, कहीं यौगिक-वाद से, यह दृष्टि परस्पर विरुद्ध है। अगर वेदों में इतिहास है तो ये सृष्टि के आदि में नहीं हो सकते, और न ईश्वरीय ज्ञान हो सकते हैं। क्योंकि अधिकांश हिन्दू **'बाबा वाक्यं प्रमाणम्'** के आधार पर चलते हैं, इसलिए वे इस विरोध को नहीं देख पाते, वे वेदों का सृष्टि के आदि में होना भी मानते हैं, उसे ईश्वरीय ज्ञान भी मानते हैं, और उनमें इतिहास होना भी मानते हैं। तीसरी दृष्टि पाश्चात्य विद्वानों मैक्स-मूलर, मैग्डॉनल, जेकोबी आदि की है। पाश्चात्य विद्वान् विकासवाद के सिद्धान्त

को आधार बनाकर हर विषय पर विचार करते हैं। विकासवाद का कहना है कि आदि-मानव नितान्त जंगली था। प्रत्येक क्षेत्र में उसका धीरे-धीरे विकास हुआ। जब वह बिजली को चमकते देखता था तब समझता था कि कोई अमानुषी शक्ति चमक रही है, सूर्य-चन्द्र आदि को भी अलग-अलग देवता मानता था। वह सृष्टि की हर अमानुषिक वस्तु को देवी-देवता के रूप में लेता था। इस दृष्टि से वह बहु-देवतावादी था। ईश्वर एक है, विकासवादियों की समझ में यह विचार पीछे उपजा। अनेकदेवतावाद पहले था, एक देवता या एक ईश्वर का विचार पीछे आया। वेदों में इन्द्र, वरुण, अर्यमा आदि जो भिन्न-भिन्न देवता पाये जाते हैं, उनके विकासवादी मत में, यह सिद्ध करते हैं कि वेद आदिकाल के नहीं, अपितु बहुत पीछे के काल के हैं, तभी तो कभी वे इन्द्र की उपासना करते पाये जाते हैं, कभी वरुण की, कभी किसी अन्य देवता की। जिस किसी देवता की उपासना करते हैं, उसी को सृष्टि का कर्ता, धर्ता, संहर्ता कहने लगते हैं। अगर वेदों में एक देवता की उपासना का वर्णन होता तो हर देवता का वर्णन ऐसा न करते मानो वही एक देवता है। इस विचार को मैक्समूलर ने "हीनोथीइज्म" (Henotheism) का नाम दिया। "हीनोथीइज्म" का यह अर्थ है कि जिस देवता की हम उपासना करते हैं वही सर्वोपरि देवता है, अन्य देवता उससे हीन हैं। परन्तु मैक्समूलर के इस विचार का खंडन स्वयं वेद से हो जाता है। वेद में ही लिखा मिलता है— "एकं सत् विप्राः, बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः"—परमात्मा एक है, उसे भिन्न-भिन्न नामों से याद किया जाता है। इस आधार पर यह स्पष्ट है कि वेद में एकेश्वरवाद ही पाया जाता है, बहुदेवतावाद नहीं। इससे यह भी स्पष्ट है कि विकासवाद का सिद्धान्त वेद पर लागू नहीं होता। वेद में तो ईश्वर-सम्बन्धी इतने उच्च-विचार पाये जाते हैं कि "पुरुष सूक्त" को पढ़कर विकासवादी वालेस को यह लिखना पड़ा था कि भौतिक विकास भले ही हुआ हो, परन्तु वेदों के पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि सामाजिक विकास नहीं हुआ।

हमने ऊपर जो-कुछ लिखा उससे स्पष्ट है कि वेदों के विषय में निरुक्तकार तथा ऋषि दयानन्द की विचारधारा अत्यन्त संगत है; सायण, महीधर आदि की विचारधारा अत्यन्त असंगत है; पाश्चात्य विद्वानों की विचारधारा विकासवाद पर आश्रित है परन्तु कई विकासवादियों की ही दृष्टि में अशुद्ध है। निरुक्तकार तथा ऋषि दयानन्द वैदिक शब्दों का यौगिक अर्थ करते हुए उनमें इतिहास का परिहार करते हैं; सायण, महीधर आदि वैदिक शब्दों का कहीं यौगिक कहीं रूढ़ि अर्थ करते हैं और उन्हें ईश्वरीय ज्ञान मानते हुए भी उनमें इतिहास की कल्पना करते हैं; पाश्चात्य विद्वान् विकासवादी दृष्टिकोण को आधार बनाकर वेदों में इतिहास मानते हैं और उनका निर्माण-काल ईसा से कोई १४०० तथा कोई ४५०० साल पूर्व मानते हैं परन्तु "एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति"—

इस मन्त्र से उनके विकासवादी सिद्धान्त पर जो आक्रमण होता है उसका कोई समाधान नहीं कर सकते।

अब प्रश्न यह उठता है कि अगर वैदिक शब्दों की उत्पत्ति या उनका अर्थ यौगिक माना जाय, रूढ़ि न माना जाय, तो साधारण भाषा में ये शब्द बने कैसे? इसका उत्तर मनुस्मृति (१-२१) में दिया गया है। वहाँ लिखा है :

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे।

सब पदार्थों के नाम, उनका अलग-अलग काम, उन नामों से बनी संस्थायें वेद के शब्दों के आधार पर बनी हैं। नाम भिन्न-भिन्न हैं, काम भिन्न-भिन्न हैं, संस्थायें भिन्न-भिन्न हैं, पर इन सबको वेद में वर्तमान शब्दों से बनाया गया है। वेद में एक ही शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में किया गया है। राजा शब्द का प्रयोग देश के राजा के लिए भी किया गया है, उपदेशक अथवा अध्यापक के अर्थ में भी किया गया है; पिता शब्द का प्रयोग सन्तान के पिता अर्थ में भी किया गया है, प्रजा के पितृपालक अर्थ में राजा के लिए, शिष्यों के पालकरूप में आचार्य के लिए भी किया गया है। कहने का अभिप्राय यह है कि एक ही शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में वेद में पाया जाता है। इसी को वेद के शब्दों का यौगिक प्रयोग कहा जाता है जिसके आधार पर निरुक्तकार ने वेद में इतिहास का निराकरण किया है।

ऋषि दयानन्द ने वेदों तथा संस्कृत-साहित्य के सम्बन्ध में विद्वानों को दो फार्मूले दिये हैं जिनके आधार पर वेदों तथा संस्कृत-ग्रन्थों को समझा जा सकता है। वे दो फार्मूले हैं—पहला फार्मूला है वेदों का अर्थ **"यौगिक"** पद्धति से समझने का प्रयत्न करो, **"रूढ़ि"** पद्धति से नहीं। इस फार्मूले से समझने पर वेदों-सम्बन्धी अनेक शंकाओं का निवारण हो जाएगा। दूसरा फार्मूला है—**"आर्ष"** तथा **"अनार्ष"** ग्रन्थों का। संस्कृत-साहित्य बड़ा विशाल है। उसमें समय-समय पर प्रक्षेप होता रहता है। इन ग्रन्थों में **"अष्टवर्षा भवेत् गौरी नववर्षा तु रोहिणी"** जैसे श्लोक भी पाये जाते हैं जिनके आधार पर बच्चियों के बाल्यावस्था में विवाह की बात कही गई है, **"स्त्री-शूद्रौ नाधीयाताम्"** जैसे वाक्य पाये जाते हैं, और **"ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्"** जैसे स्त्रियों के ब्रह्मचर्य की बात कही गई है। इन सब विरोधों को समझने के लिए ऋषि दयानन्द ने **"आर्ष"** तथा **"अनार्ष"** ग्रन्थों का जो फार्मूला दिया है वह बड़ा महत्त्वपूर्ण है। उनका कहना है कि जब हिन्दू-समाज वेदों को आदिग्रन्थ मानता है, तब हर बात के लिए यह समझना होगा कि जो बात वेदानुकूल है वह **"आर्ष"** है, जो वेदानुकूल नहीं है वह **"अनार्ष"** है। इस फार्मूले से प्रत्येक ग्रन्थ का टेस्ट हो जाता है। **"आर्ष"** ग्रन्थ ग्राह्य हैं, **"अनार्ष"** ग्रन्थ त्याज्य हैं। इतना ही नहीं, कई ग्रन्थों में **"आर्ष"**

तथा "अनार्ष" का मिश्रण पाया जाता है। मनुस्मृति में "आर्ष"-"अनार्ष" का मिश्रण बहुत है, इसीलिए महात्मा मुंशीराम जी ने कभी "आर्ष मनुस्मृति" नाम से एक ग्रन्थ प्रकाशित किया था।

ऊपर हमने जो कुछ कहा उन बातों के अतिरिक्त वेदों के सम्बन्ध में तीन-चार बातें और समझ लेनी चाहियें ताकि वेदों का भाष्य सुसंगत हो तथा बुद्धि-मय हो। वे बातें निम्न हैं :

(१) संहिता—वेदों का अध्ययन करनेवालों के सामने एक समस्या सदा उठा करती है। वह समस्या यह है कि वेदों के सूक्तों आदि के मन्त्रों का कहीं-कहीं एक-दूसरे से सम्बन्ध दीखता है, कहीं-कहीं सम्बन्ध नहीं दीखता, मन्त्र एक-दूसरे से स्वतन्त्र प्रतीत होते हैं। जब हम किसी ग्रन्थ को पढ़ाते हैं तब प्रथम वाक्य का दूसरे वाक्य से सम्बन्ध होता है जिससे पैरा बनता है, इस पैरे से दूसरे पैरे का सम्बन्ध होता है, इस प्रकार दूसरा वाक्य प्रथम वाक्य का परिणाम होता है, दूसरा पैरा प्रथम पैरे का परिणाम होता है, इस प्रकार पैरे के बाद जो पैरे आते हैं वे सब मिलकर एक अध्याय बनाते हैं, और इन अध्यायों के मेल से पुस्तक बनती है। अगर किसी पुस्तक में असम्बद्ध वाक्य भरे मिलें तो हम उसे उस पुस्तक का दोष समझते हैं। वेद में कहीं-कहीं तो प्रत्येक मन्त्र का दूसरे मन्त्र से सम्बन्ध पाया जाता है, कहीं-कहीं सम्बन्ध नहीं पाया जाता। इसका क्या कारण है? इसका यही कारण है कि कहीं-कहीं प्रत्येक मन्त्र स्वतन्त्र रूप में एक विचार को लिये होता है, कहीं-कहीं सारे मन्त्र एक-दूसरे के साथ जुड़े होते हैं। उदाहरणार्थ, "यज्जाग्रतो" आदि मंत्र परस्पर सम्बद्ध हैं, नासदीय सूक्त के सब मन्त्र परस्पर सम्बद्ध हैं, पुरुष-सूक्त के सब मन्त्र परस्पर सम्बद्ध हैं, परन्तु कहीं-कहीं सूक्त का प्रत्येक मन्त्र स्वतन्त्र है, उसका अगले मन्त्र के साथ कोई यौक्तिक जुड़ाव नहीं है। सम्भवतः यही कारण है कि वेदों को "संहिता" कहा गया है। "संहिता" का अर्थ है—(Collection)। जहाँ मन्त्रों का पारस्परिक यौक्तिक सम्बन्ध है, दूसरा मन्त्र पहले मन्त्र की ही उपज है, वहाँ वह प्रश्न नहीं उठता; जहाँ प्रत्येक मन्त्र किसी स्वतन्त्र विचार को लिये हुए है, वहाँ उन स्वतन्त्र विचारों के कारण वेदों को "संहिता" कहा गया है। वह स्थल भिन्न-भिन्न मन्त्रों अर्थात् विचारों का संग्रह है जो ऋषियों के हृदय में प्रकट हुए। वेदों में ऐसे स्थल बहुत हैं।

(२) मन्त्र—मन्त्र का अर्थ है "विचार"—जो मनन किया जाय वह मन्त्र है। या तो सम्पूर्ण सूक्त या अध्याय में एक ही विचार होता है, या वह भिन्न-भिन्न विचारों का संग्रह होता है जिस कारण उसे "संहिता" कहते हैं। ये विचार ऋषियों के हृदय में प्रकट होते हैं। ईश्वरीय भाषा में कहा जाय तो ये विचार उनके हृदय में फूटते हैं जैसे न्यूटन को पेड़ से सेब गिरता देखकर पृथिवी की गुरुत्वाकर्षण-शक्ति का विचार स्फुटित हुआ। इस दृष्टि से "गुरुत्वाकर्षण"-

शक्ति को मन्त्र कहा जा सकता है। आर्केमिडीज़ टब में स्नान में कर रहा था। उसका जग जब पानी में पड़ता था तब उछलकर बाहर आ जाता था। उसे इस घटना को देखकर 'लॉ ऑफ बायन्सी' का स्फुरण हुआ। इस 'लॉ ऑफ बायन्सी' को महामन्त्र कहा जा सकता है। इस मन्त्र को पाकर आर्केमिडीज़ युरेका-युरेका चिल्लाता हुआ नंगा ही भाग खड़ा हुआ।

वेदों में इस प्रकार के भौतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक विचार भरे पड़े हैं जो ऋषियों को प्रस्फुटित हुए हैं। वे प्रस्फुटित विचार ही "मन्त्र" कहाते हैं।

(३) ऋषि—ऋषि के सम्बन्ध में निरुक्तकार का कहना है—

'ऋषि यो मन्त्रद्रष्टारः'—जिन्हें कोई विलक्षण विचार सूझे वह उस विचार अर्थात् मन्त्र का ऋषि समझना चाहिये। गुरुत्वाकर्षणरूपी मन्त्र का ऋषि न्यूटन है। 'लॉ ऑफ बायन्सी'—इस मन्त्र का ऋषि आर्केमिडीज़ है। ये तो हमने दृष्टांत दिये। इसी प्रकार वेदों में जिन ऋषियों का वर्णन है, वे उनके सम्मुख जो विलक्षण विचार आया या सूझा या उन्हें ईश्वरीय ज्ञान की दृष्टि से भगवान् से प्राप्त हुआ वे उन मन्त्रों अर्थात् उन विचारों के ऋषि समझने चाहियें। वेदों में मंत्रों तथा ऋषियों के अतिरिक्त "देवता" शब्द का भी प्रयोग होता है। यह देवता किस अर्थ का सूचक है?

(४) देवता—देवता का अर्थ वतलाते हुए निरुक्तकार का कहना है कि "देवता" किसी मन्त्र का विषय होता है—"यत्कामः ऋषिः यस्यां देवतायां आर्थपत्यं इच्छत स्तुतिं प्रयुंक्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति"—किसी मन्त्र में किसी विचार को ढूंढनेवाला विद्वान् अगर उस मन्त्र में वह विचार पा जाता है तो वह विचार उस मन्त्र का देवता कहा जाता है। जो लोग यह समझते हैं कि यौगिक पद्धति में एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं उनके लिए "देवता" का अर्थ समझना कठिन नहीं है। अगर किसी मन्त्र में कोई विद्वान् मनोवैज्ञानिक भाव देख लेता है, और उस सारे मन्त्र का मनोवैज्ञानिक अर्थ पा जाता है तो वह उस मन्त्र का 'ऋषि' और मनोवैज्ञानिक विचार उस मन्त्र का 'देवता' है। उसी मन्त्र में कोई दूसरा विद्वान् किसी राजनैतिक विचार को पा जाता है तो यह राजनैतिक-विचार उस मन्त्र का देवता और इस राजनैतिक विचार को पानेवाला व्यक्ति उस मन्त्र का ऋषि है। वेद के मन्त्रों के यौगिक-पद्धति के अनुसार अनेक अर्थ हो सकते हैं। आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक अर्थ तो हर-एक मन्त्र का किया जाता है। इनके अतिरिक्त भी एक ही मन्त्र के अनेक अर्थ हो जाते हैं—वैय्यक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक आदि। जो विद्वान् वेद में जिस प्रकार का विषय स्पष्ट पा जाता है वह उस मन्त्र का ऋषि तथा जो विषय पा जाता है, वह उस मन्त्र का देवता समझना चाहिए। हमने जो विचार प्रकट किया है उसका यह अर्थ है कि मन्त्रों के ऋषि तथा देवता वदल सकते हैं। यह

कहना कि छपे हुए वेदों में जो ऋषि तथा देवता लिखे हुए हैं, वे ही उन मन्त्रों के ऋषि तथा देवता हो सकते हैं, दूसरे नहीं—ग़लत धारणा है। मंत्रों के जो ऋषि तथा देवता लिखे हुए हैं, किसी समय उन विद्वानों ने वह विषय उन मन्त्रों में देखा था; आज का विद्वान् उस अर्थ से भिन्न अर्थ देख सकता है, इसलिये हमारे विचार के अनुसार मन्त्र का ऋषि तथा देवता बदल सकते हैं। जिसका जितना ज्ञान होगा उसी के अनुसार वह मन्त्र में अर्थ को देखेगा। इस दृष्टि से विचार किया जाय और मन्त्रार्थ करते हुए यौगिकवाद का सहारा लिया जाय तो हम गर्वपूर्वक कह सकते हैं कि वेद सब सत्य विद्याओं का ही नहीं, सब विद्याओं का मूल-पुस्तक है।

इस विषय को समाप्त करते हुए हम एक बात और लिख देना चाहते हैं। प्रश्न यह है कि वेद अनादि हैं, सृष्टि के आदि में दिये गये, इनमें सब सत्य-विद्याएँ हैं--इन बातों पर विचार करने या इन्हें सिद्ध करने की आज के युग में आवश्यकता ही क्या है ? आज का युग आदिकालीन युग से बहुत आगे बढ़ गया है। अगर वेद में हम यह सिद्ध कर देते हैं कि वहाँ हाइड्रोजन तथा ऑक्सीजन का वर्णन है, तो हमें क्या मिलता है ? अगर हम यह सिद्ध कर देते हैं कि वेद में हवाई-जहाज बनाने की कला का उल्लेख है तो हमारे हाथ क्या लगता है ? वेद में भौतिक पदार्थों के विषय में जो कुछ मिलता या मिल सकता है उससे आज का जगत् बहुत आगे चला गया है। सिर्फ एक दिशा है जिसमें हम अबतक वेदों से पिछड़े हुए हैं, और वह है आध्यात्मिक जीवन। वैदिक संस्कृति के सामने दो रास्ते थे—वह भौतिकवाद के मार्ग पर भी चल सकती थी, अध्यात्मवाद के मार्ग पर भी चल सकती थी। वैदिक संस्कृति ने भौतिकवाद पर चलने से इन्कार कर दिया, अध्यात्मवाद को ही जीवन का लक्ष्य बनाया। यही वेदों की, उपनिषदों की, गीता की, आज के युग की देन है, परन्तु हम भी उसके गीत ही गाते हैं, उस मार्ग पर चलते नहीं।

□

सत्येनोत्तभिता भूमिः

जिस व्यक्ति ने 'सत्य के ग्राधार पर ही जगत् टिका हुग्रा है'—यह वाक्य कहा, उसने एक ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन कर दिया जैसा न्यूटन ने ज़मीन पर गिरते सेव को देखकर 'गुरुत्वाकर्षण' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। यह तो सब मानते हैं कि संसार में सत्य चलता है, परन्तु यह नहीं मानते कि झूठ नहीं चलता। लोगों का कहना है कि सत्य भी चलता है, झूठ भी चलता है; ठीक है, दोनों चलते हैं, परन्तु यह मानना पड़ेगा कि झूठ तबतक चलता है जबतक वह कहता है कि मैं झूठ नहीं, सत्य हूँ। झूठ को चालू होने के लिए सत्य का वाना पहनना पड़ता है। सच ग्रौर झूठ में भेद यह है कि झूठ को ग्रपने को छिपाने के लिए दूसरा झूठ वोलना पड़ता है, उस दूसरे झूठ को कोई झूठ न समझे, सच ही समझे—इसे छिपाने के लिए एक तीसरा झूठ वोलना पड़ता है, तीसरे झूठ को छिपाने के लिए चौथा झूठ वोलना पड़ता है, यहाँ तक कि इन सारे झूठों के वोझ से झूठ का सारा महल ही ढह जाता है। झूठ के मुकाविले में सच की विशेषता यह है कि इसे छिपाने के लिए न दूसरा सत्य वोलना पड़ता है, न दूसरा झूठ वोलना पड़ता है। सच तो सच है, सदा एक है; झूठ सच नहीं है, सदा ग्रनेक है। हमने सच ग्रौर झूठ के विषय में जो-कुछ कहा, वह सभी तत्त्वों के विषय में—संसार के सव विचारों, सिद्धान्तों तथा संस्थाग्रों के विषय में भी—वही सिद्धान्त सही है। संसार के जितने विचार, सिद्धान्त या संस्थाएँ हैं, तभी तक टिकी रहती हैं जबतक उनकी नींव में सत्य का सीमेंट पड़ा होता है। जहाँ किसी विचार, सिद्धान्त, संस्था या संगठन की नींव के नीचे झूठ का रेता पड़ा हो वहाँ समझ लो कि ग्राज नहीं तो कल, वह विचार, सिद्धान्त, संस्था या संगठन डाँवाडोल हो जायेगा।

संसार में सुधार की लहर कैसी चलती है? सुधार की लहर यूरोप में भी चली, भारत में भी चली। सुधार की लहर का ग्रभिप्राय था सव तरह के ग्राडम्वरों-ग्रसत्यों का सफ़ाया। यूरोप में ईसाइयत का प्रचार था, सब लोग रोमन कैथोलिक धर्म को मानते थे। पोप की स्थिति परमेश्वर से कम नहीं थी। वह पापों को क्षमा कर सकता था। पापों को क्षमा करने के लिए क्षमा-पत्र वेचता था। इस ग्रन्धेरगर्दी तथा झूठ को देखकर जर्मनी में मार्टिन लूथर ने विद्रोह खड़ा कर दिया। लूथर

के युग को सुधार का युग कहा जाता है। इसी तरह भारत में भी आडम्बरों के विरुद्ध विद्रोह हुआ। बंगाल में राजा राममोहन राय, महाराष्ट्र में रानाडे तथा उत्तरभारत में ऋषि दयानन्द ने सामाजिक सुधार का आन्दोलन किया। बाल-विवाह तथा सती-प्रथा के विरोध में आवाज़ उठी, विधवा-विवाह के पक्ष में तथा उसे प्रोत्साहन देने के लिए संस्थाएँ खुलीं। अस्पृश्यता-निवारण की चर्चा चली। अन्ध-विश्वासों पर चारों दिशाओं से प्रहार होने लगा। आडम्बर तथा अन्ध-विश्वास सामाजिक झूठ के प्रतिनिधि हैं। सत्य क्योंकि असत्य को चीरता हुआ उभर आता है इस शाश्वत नियम के अनुसार समाज-सुधार के युग में आडम्बर तथा अन्ध-विश्वास अपने-आप छिन्न-भिन्न होने लगे। आडम्बरयुक्त तथा अन्ध-विश्वासी जीवन में अनेक झूठी बातें हैं, आडम्बरहीन तथा ईश्वर-विश्वासी जीवन में एक ही बात है, वहाँ अनेक आडम्बर तथा अनेक अन्ध-विश्वासों को स्थान ही नहीं।

यूरोप में १४वीं से १९वीं सदी तक तीन युगों का प्रादुर्भाव हुआ। ये युग थे 'रैफ़र्मेशन', (Reformation), 'रेनैंसाँ' (Renaissance) तथा 'इण्डस्ट्रियल रैवॉल्यूशन' (Industrial Revolution)। कोई समय था जब 'धर्म-शक्ति', 'राज-शक्ति', तथा 'अर्थ-शक्ति' एक ही व्यक्ति में केन्द्रित थीं। यह स्थिति केवल शक्ति के बल पर रह सकती थी, ज़बरदस्ती के तौर पर, परन्तु स्वेच्छा से यह स्थिति नहीं रह सकती थी। इस स्थिति में अन्तर्द्वन्द्व था जिसका परिणाम यह हुआ कि पहले-पहल धर्म-शक्ति के भीतर छिपा अन्तर्द्वन्द्व का बीज फूटा। उस समय धर्म का मुखिया पोप ही सब-कुछ था। वही धर्म-गुरु, वही राजा, वही भू-सम्पत्ति का मालिक था। नाममात्र के जो राजा लोग थे वे पोप की आज्ञा पर ही चलते थे। एक व्यक्ति में इतनी शक्ति अन्तर्निहित रहे, यह विश्व के आधारभूत सिद्धान्त के विरुद्ध है क्योंकि यह सत्य नहीं है। यूरोप में १४८३ में मार्टिन लूथर का जन्म हुआ। वह पादरी था। उसका कहना था कि व्यक्ति को इस बात के लिए बाधित नहीं किया जा सकता कि वह पोप के या राजा के धर्म को माने। व्यक्ति अपने विचारों में स्वतन्त्र है। इस समय स्थिति यह थी कि राजा लोग पोप के अधीन थे। पोप जिसे चाहता चढ़ा देता, जिसे चाहता गिरा देता। पोप का धर्म रोमन कैथोलिक कहाता था; लूथर ने जिस विचारधारा को जन्म दिया उसे प्रोटेस्टेण्ट कहा जाता था। इनका वैमनस्य इतना बढ़ा कि रोमन कैथोलिक राजाओं ने प्रोटेस्टेण्टों को पकड़-पकड़कर सूली पर चढ़ाना शुरू किया। धार्मिक न्यायालय स्थापित किये गये जिन्हें 'इन्क्वीज़ीशन' (Inquisition) कहा जाता था। जिसपर ज़रा भी सन्देह हुआ कि वह रोमन-कैथोलिक नहीं है, उसे न्यायालयों के सामने पेश किया जाता, और अगर साबित हो जाता कि वह रोमन-कैथोलिक नहीं है, तो उन्हें या तो सूली पर चढ़ा दिया जाता या जीते-जी जला दिया जाता। मार्टिन-लूथर के विचारों ने यूरोप में आग लगा दी। सारा यूरोप दो भागों बँट गया—

रोमन-कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेण्ट। जिस प्रकार कुछ राजा लोग पोप का साथ दे रहे थे, वैसे ही कुछ राजा नवीन नेता लूथर का साथ देने लगे; इसलिए देने लगे क्योंकि यह धर्म-प्रधान युग था। धर्म-प्रधान युग होने के कारण राजाओं पर भी पोप का शासन चलता था। वे पोप के शासन से मुक्त होना चाहते थे। यहाँ पहुँचकर 'धर्म-शक्ति' तथा 'राज-शक्ति' का गठबन्धन कुछ-कुछ टूटने लगा। सत्य तो यही है कि मनुष्य स्वतन्त्र हो। 'सत्येनोत्तभिता भूमिः' का यह स्पष्ट उदाहरण था। रोमन कैथोलिकों तथा प्रोटेस्टेण्टों में धार्मिक दिशा में तो मतभेद हो गया, परन्तु जहाँ तक धर्म तथा विज्ञान का सम्बन्ध था वहाँ तक वे दोनों एक थे। इस समय सत्य ने एक और करवट ली और अब धर्म तथा विज्ञान के विरोध का अन्तर्द्वन्द्व फूट पड़ने के लिए ज़ोर मारने लगा। यह अन्तर्द्वन्द्व जब फूटा, इसने 'रेनैसाँ' (Renaissance) का रूप धारण कर लिया। पहले धर्मों का अन्तर्विरोध प्रकट हुआ, अब धर्म के साथ विज्ञान का अन्तर्विरोध जो छिपा हुआ था, वह प्रकट हुआ ताकि उसके विरोध को देखकर लोगों के हृदय से वह विरोध मिट जाय। रोमन-कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेण्ट दोनों कहते थे कि पृथिवी चपटी है, स्थिर है, क्राइस्ट कयामत के दिन जब प्रकट होगा तब सब उसे देखेंगे। पृथिवी चपटी है और स्थिर है—इसे वे लोग मानने के लिए तैयार नहीं थे जो स्वतन्त्र रूप से इन विषयों की खोज में लगे हुए थे। गैलिलियो ने सिद्ध किया कि पृथिवी गोल है, ब्रूनो ने सिद्ध किया कि पृथिवी सूर्य के गिर्द घूमती है, स्थिर नहीं है। रोमन कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेण्ट दोनों उनपर टूट पड़े। गैलिलियो को जेल में डाल दिया गया, ब्रूनो को आग में जला दिया गया। ईसाइयों का कहना था कि अगर पृथिवी चपटी है तो नीचे के लोग उल्टे कैसे खड़े होंगे, और अगर वह घूमती है तो कयामत के दिन ईसा के आसमान से उतरने पर सब उसे कैसे देख सकेंगे? इस युग में धर्म तथा विज्ञान का विरोध उग्र रूप धारण कर गया और मानव ने स्वतन्त्र रूप से सोचना शुरू किया जो सत्य के प्रकट होने की प्रक्रिया थी। यहाँ पहुँचकर 'धर्म-शक्ति', 'राज-शक्ति' तथा 'ज्ञान-शक्ति' का गठबन्धन टूट गया। अब रोमन कैथोलिक अलग हो गये, प्रोटेस्टेण्ट अलग हो गये, राजा लोग अलग हो गये, वैज्ञानिक लोग अलग हो गये, और सभी का सत्यरूप स्वतन्त्र रूप में उभर आया। अभी तक एक प्रक्रिया 'धन-शक्ति' के स्वतन्त्र रूप में प्रकट होने को बची थी जो रिनैसाँ का परिणाम थी, जिसे वर्तमान युग में पूंजीवाद (Capitalism) कहा जाता है।

यूरोप का इतिहास बतलाता है कि वहाँ का विकास एक खास दिशा की तरफ़ जा रहा था, वह दिशा जो सत्य की दिशा है। अभी तक 'धर्म-शक्ति', 'राज-शक्ति', 'ज्ञान-शक्ति' तथा 'धन-शक्ति' एक केन्द्र में जुड़ी हुई थीं, यद्यपि उसके स्रोत अलग-अलग थे। यथार्थ सत्ता इन स्रोतों की थी, इसलिए यथार्थता को उभारने के लिए अन्तर्द्वन्द्वों का परिहार कर ये स्रोत अपने-अपने स्वरूप में आने

लगे। सम्पत्ति का स्रोत भी पोप या राजा नहीं था। वह तो दूसरों से जबरदस्ती धन छीनकर सम्पत्तिशाली बन गया था। अब धन देनेवाला भी अलग से खड़ा हो गया, स्वतन्त्र। १८वीं सदी में रेनैसाँ के परिणामस्वरूप विज्ञान ने जन्म लिया जिससे औद्योगिक क्रान्ति (Industrial revolution) का प्रारम्भ हुआ। भिन्न-भिन्न प्रकार के आविष्कार हुए जिनके परिणामस्वरूप उद्योग-धन्धे हाथ से चलने की बजाय मशीन से चलने लगे। अबतक घर ही उद्योग का केन्द्र था, अब घर में मशीन लगा सकना कठिन हो गया; मशीन के लिए बहुत अधिक जगह तथा बहुत अधिक श्रमिकों की ज़रूरत थी। उद्योग घर से बाहर की ओर चल दिया, और श्रम, श्रमी, श्रम-धन और इनसे अत्यधिक धन उत्पन्न होने लगा। इस युग में 'पूंजीवाद' (Capitalism) उत्पन्न हो गया जिसने 'धन-शक्ति' को जन्म दिया। प्रत्येक युग में जो सामाजिक स्थिति थी उसमें अन्तर्विरोध था। अन्तर्विरोध का मतलब है—असत्य। संसार में असत्य टिकता नहीं, सत्य ही टिकता है। जिस विचार में या संस्था में अन्तर्विरोध हो वह भीतर-ही-भीतर खुलबुलाता है और उस विचार तथा संस्था को अपनी खुलबुलाहट से तोड़ देता है। इसी अन्तर्विरोध या खुल-बुलाहट से पोपडम टूटी, इसी खुलबुलाहट से राज-शक्ति टूटकर पूंजीवाद उत्पन्न हुआ, परन्तु पूंजीवाद में भी अन्तर्विरोध था। श्रम तो श्रमी करता था, पैसा पूंजी-पति ले जाता था। पूंजीपति के इस अन्तर्विरोध को भी विश्व की सत्य का उद्घाटन करनेवाली शक्ति सहन नहीं कर सकती। उसका पैना मुख तो सत्य की तरफ़, सब बाधाओं को चीरता चला जा रहा है। पूंजीवाद के पेट में पड़े असत्य को चीरकर 'श्रमवाद' (Labourism) ने जन्म लिया। श्रमिकों की यूनियनें बनीं, संगठन बने और आज का युग आ उपस्थित हुआ जिसमें पूंजीपतियों का महत्त्व घटता जा रहा है और श्रमिकों का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। शुरू से अन्त तक विश्व के विकास की इस सारी प्रक्रिया के आधार में **"सत्येनोत्तभिता भूमिः"** या **"सत्यमेव जयते नानृतम्"** का सिद्धान्त ही काम कर रहा है।

जैसे हमने देखा कि पहले 'धर्म-शक्ति' में 'राज-शक्ति' तथा 'धन-शक्ति' केन्द्रित थी और सत्य की तरफ़ बढ़ते हुए इनका विकेन्द्रीकरण होता गया, पोप अलग जा पड़ा, राजा लोग पोप के अधीन न रहे, व्यापारी लोग राजा के अधीन न रहे और धीरे-धीरे श्रमिक लोग स्वतन्त्र होते जा रहे हैं, वैसे प्रजा भी व्यक्तिरूप से स्वतन्त्रता की तरफ़ बढ़ रही है—इसी का नाम डेमोक्रेसी या जन-सत्ता या 'जनशक्ति' है। अन्तिम सत्य यही है कि प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तिरूप में उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, वह स्वयं चाहे जितना दूसरे पर निर्भर रहना चाहे रह सकता है, परन्तु बाधित तौर पर कोई किसी के अधीन नहीं है। सम्पूर्ण विश्व समग्र रूप से यथाशक्ति इस अन्तिम सत्य की तरफ़ बढ़ रहा है; उसकी भौतिक तथा मानसिक स्वतन्त्रता की बाधाएँ धीरे-धीरे छँट रही हैं। यूरोप का जो इतिहास रहा है,

भारत का इतिहास भी कुछ वैसा ही रहा है।

सत्य यही है कि हर नर-नारी स्वतन्त्र है, सबको अपनी शक्ति के अनुसार पूर्ण विकास करने का अधिकार है, परन्तु समाज ने एक-दूसरे की स्वतन्त्रता छीनी हुई है, यह ऐसा रह नहीं सकता, विश्व की चेतना अपने स्वरूप की भाँति इस असत्य को मिटाने की तरफ़ धीरे-धीरे अग्रसर हो रही है। जो वात हमने राजनैतिक रचना के विषय में कही, वही सामाजिक रचना के विषय में हो रही है। कोई समय था जब यूरोप में स्त्रियों की भारत की स्त्रियों से भी हीन दशा थी। समझा जाता था कि स्त्री का निर्माण परमात्मा ने पुरुष की एक पसली से किया है। बायबल में यही लिखा है। स्त्री के विषय में जो यह विचार था, उसके भीतर यही अन्तर्द्वन्द्व था। 'अन्तर्द्वन्द्व'—अर्थात् इस विचार के भीतर चल रहा युद्ध। प्रत्येक स्त्री, जिसे समझाया जाता कि वह पुरुष की एक पसली से बनी है, इसे कैसे मान सकती थी जब वह क्रियात्मक रूप में वे सब काम सफलतापूर्वक कर सकती थी जिन्हें पुरुष करते हैं? इंग्लैण्ड में इस अन्तर्द्वन्द्व के कारण पार्लियामेण्ट में स्त्रियाँ विद्रोह में उठ खड़ी हुईं और उन्होंने कुर्सियों को पुरुषों के सिरों पर उठा-उठाकर फेंका। मिल ने एक पुस्तक लिखी जिसका नाम था—Subjection of Women। जिस विचार में अन्तर्द्वन्द्व होता है, वह विचार फूटकर रहता है। यह विचार भी फूटा और यूरोप में स्त्रियों की स्वतन्त्रता के आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। आज यूरोप में स्त्रियाँ प्रत्येक उस क्षेत्र में काम कर रही हैं जिनमें पुरुष काम करते हैं। वे जज हैं, बैरिस्टर हैं, इञ्जीनियर हैं, डॉक्टर हैं, प्रोफ़ेसर हैं—क्या-कुछ नहीं हैं। यह सारा आन्दोलन उन्हें माध्यम बनाकर विश्व की उस शक्ति का है जो सम्पूर्ण विश्व को 'अनृतात् मा सत्यं गमय' के सिद्धान्त पर चला रही है।

जो कुछ यूरोप में हुआ वही कुछ भारत में हो रहा है। प्राचीनकाल में क्या था, यह प्राचीनकाल वाले जानें। वेदों के समय स्त्रियों की क्या स्थिति थी, यह वेद के पण्डित जानें। हम भी कहते रहते हैं कि वैदिक काल में भारतीय नारी का स्थान बहुत ऊँचा था। विद्या का आदर्श 'सरस्वती' में, धन का 'लक्ष्मी' में, पराक्रम का 'दुर्गा' में, सौन्दर्य का 'रति' में, पवित्रता का 'गंगा' में, भगवान् का 'जगज्जननी' में पाया जाता है। उपनिषदों में गार्गी राजा जनक की सभा में बड़े-बड़े ऋषियों से वाद-विवाद करती है। मैत्रेयी अपने पति याज्ञवल्क्य से अध्यात्म-विद्या पर अपने विचार प्रकट करती है। वैदिक ग्रन्थों में 'सुलभा' का नाम प्रसिद्ध है, उनका अगाध पांडित्य था। 'भारती' मण्डन मिश्र की पत्नी थी जिसने शंकराचार्य को शास्त्रार्थ में हराया। स्त्री-ऋषिकाओं का वेदों में नाम है—लोपामुद्रा, श्रद्धा, सरमा, रोमशा, विश्ववारा, अपाला, यमी, घोषा आदि। परन्तु इतने से हमें सन्तोष से नहीं बैठना। यदि वैदिक काल में उनकी ऊँची स्थिति थी तो पीछे के काल में

गिर भी गई थी। तुलसीदास ने लिखा है—'ढोल, गँवार, शूद्र अरु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी।' विश्व की, सत्य को ढूँढ रही, वही भगवती-शक्ति जैसे यूरोप में स्त्री की यथार्थ स्थिति को ढूँढ पायी, वैसे ही इस देश में भी आन्दोलन छिड़ा और आज स्त्रियों को प्रायः वे सब अधिकार पार्लियामेण्ट द्वारा मिल गये या मिल रहे हैं जो सत्य हैं, जिनका विरोध नहीं किया जा सकता। सत्य तो वही होता है जो अडिग होता है, जिसे हिलाया नहीं जा सकता। जिस प्रकार स्त्रियों को अपने अधिकारों का मिलना असत्य स्थिति को संघर्ष द्वारा हटाकर सत्य स्थिति को पा जाना है, उसी प्रकार भारत में पुरुषों का एक वर्ग भी मनुष्यत्व के अधिकारों से वंचित रहा है और इस वंचना के अन्तर्निहित द्वन्द्व उभरकर आ रहा है जिससे अस्पृश्यता आदि मानव के कलंक मिटते जा रहे हैं। विश्व का नियम है कि एकता सत्य है, अनेकता असत्य है। हर दिशा में अनेकता में से एकता उभरकर आ रही है।

सत्य-असत्य में मूलगत भेद क्या है? असत्य वस्तु, असत्य विचार, असत्य संस्था के भीतर ही उसके तोड़ने के तत्त्व रहते हैं। इसी को हमने 'अन्तर्द्वन्द्व' (Inner conflict) कहा है। असत्य के पेट में पड़ा जो अन्तर्विरोध है वह उसे धीरे-धीरे फोड़ता जाता है, और असत्य के भीतर छिपा सत्य अपने पैनेपन से उभर आता है। सत्य के पेट में कोई द्विविधा नहीं होती, क्योंकि उसमें कोई अन्तर्द्वन्द्व नहीं होता। जहाँ भीतर दो हों वहीं तो संघर्ष होगा, जहाँ भीतर एक ही है वहाँ संघर्ष कैसे होगा? हमने जितनी संस्थाएँ बनाई हैं सबका उद्देश्य सत्य को ढूँढना है। जूडीशियरी का क्या काम है? वकील क्यों लड़ते हैं? सबका उद्देश्य सत्य को ढूँढना है। एक झूठी बात पर दो वकील बहस करते हैं। दोनों का कहना यह है कि जो वह कह रहा है वही सत्य है। एक वकील असत्य को भी सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करता है क्योंकि वह उसका पेशा है, परन्तु नाम वह भी सत्य का ही लेता है क्योंकि वह जानता है कि ठहर सत्य ही सकता है, असत्य ठहर नहीं सकता। जज का काम भी सत्य-असत्य की बहस में सत्य को ढूँढ निकालना है। तभी ऋषियों ने कहा—'सत्येनोत्तभिता भूमिः'—यह विश्व अगर टिका हुआ है तो सत्य के आधार पर ही।

विश्व किधर जा रहा है? संसार में हिंसा है परन्तु वह अहिंसा का नाम लेकर टिकी हुई है; संसार में युद्ध होते हैं परन्तु वे युद्ध न करने का नाम लेते हैं। पहले कभी युद्ध करने के लिए युद्ध होते थे, लूटने के लिए लूटा जाता था, आज युद्ध करने-वाले और लूटनेवाले भी कहते हैं कि युद्ध नहीं करना चाहिए, लूटपाट नहीं करनी चाहिये। विश्व की चेतन-शक्ति अपने पैनेपन से अन्धकार को भेदकर उजाले की तरफ़ उन्मुख है। असत्य का चारों तरफ़ राज्य है, परन्तु विश्व-शक्ति असत्य के तिमिर को भेदकर सत्य की खोज में प्रवृत्त है। हमारे सब विचार, हमारी सब संस्थायें, हमारे सब संगठन सत्य को ढूँढ रहे हैं। सब एक-दूसरे को लूट रहे हैं,

एक-दूसरे को धोखा दे रहे हैं, परन्तु हमारी आन्तरिक इच्छा यही रहती है कि कोई हमें न लूटे, हमें धोखा न दे। चारों तरफ़ दुराचार तथा व्यभिचार का वातावरण फैला हुआ है, परन्तु एकान्त में बैठकर अपने-आपको सम्बोधित कर कोई नहीं कहता कि यह स्थिति बनी रहे। हम धन से आसक्त हैं, भौतिक पदार्थों से आसक्त हैं, पार्थिव वैभव को प्राप्त करने के लिए छल-कपट का आश्रय लेते हैं, परन्तु हमसे पूछा जाये कि क्या यह छल-कपट उचित है, तो हम इसे अनुचित समझते हैं। जब हमारे भीतर असत्य होते हुए भी सत्य, हिंसा होते हुए भी अहिंसा, अशान्ति होते हुए भी शान्ति, दुराचार होते हुए भी सदाचार, आसक्ति होते हुए भी अनासक्ति ज़ोर मारती है तब क्यों न कहा जाय—'सत्येनोत्तभिता भूमिः'।

□

मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्

राष्ट्रों का इतिहास दासता से व्यक्ति की मुक्ति का इतिहास है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता परिवार में, समाज में, राष्ट्र में खो गई है, उसी को पाने के लिए व्यक्ति खोज कर रहा है, संघर्ष कर रहा है। व्यक्ति का परिवार में, समाज में, राष्ट्र में स्वतन्त्र व्यक्तित्व के रूप में क्या स्थान है—इसी ढूंढ में संसार के आदि से अब तक व्यक्ति जुटा हुआ है, परन्तु आज तक वह अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को पा नहीं सका—खोज अभी खोज के रूप में ही बनी हुई है। इसी खोज को शास्त्रों में **'मनुर्भव'** (ऋक्० १०-५३-६) कहा है—ऐ मनुष्य, तू अपने-आप को पा।

प्रत्येक मनुष्य अपने-आप में क्या है—इसकी खोज करते हुए वेद ने कहा था—**'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत'** (यजुर्वेद ३१-११)—अर्थात्, मनुष्य अपनी निजता के कारण, अपनी प्रवृत्ति के कारण समाज में रहता हुआ या ब्राह्मणत्व के गुण प्रकट करने लगता है, या क्षत्रियत्व के गुण प्रकट करने लगता है, या वैश्यत्व के गुण प्रकट करने लगता है, या शूद्रत्व के गुण प्रकट करने लगता है—यही उसका मनुष्यत्व है, इसी मनुष्यत्व को लक्ष्य में रखकर उसे अपना विकास करना है। प्लेटो ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'रिपब्लिक' में इसी सूत्र को लेकर मानव का तीन भागों में विभाजन किया है। वे भाग हैं—फ़िलॉसोफ़र्स जिन्हें उसने गार्डियन्स कहा है, सोल्जर्स तथा आर्टिज़न्स। ये विभाग वही हैं जो वेद में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के नाम से कहे गये हैं। हम चाहें या न चाहें,-कहें या न कहें—समाज में मनुष्य की अपनी प्रवृत्तियों के कारण ये विभाग हो ही जाते हैं; भारत हो या यूरोप हो, मनुष्य इन विभागों में बँट ही जाते हैं। समाज चाहे कैपिटलिस्ट हो, चाहे सोश्यलिस्ट हो, चाहे कम्युनिस्ट हो—हर जगह मानवीय प्रवृत्तियों के कारण हर समाज में ये विभाग पाये ही जाते हैं। मनुष्य की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करें तो इन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है। वे दो भाग हैं—शक्ति पाने की प्रवृत्ति तथा धन या सम्पदा पाने की प्रवृत्ति। हर व्यक्ति शक्ति पाना चाहता है, हर व्यक्ति धन या सम्पदा पाना चाहता है; हम सब-कुछ पाना चाहते हैं, पा नहीं सकते, इसलिए संघर्ष उठ खड़ा होता है। संसार का इतिहास इसी संघर्ष का एक उदाहरण है। क्या यूरोप का इतिहास देखें, क्या भारत का इतिहास देखें—सब देशों के इतिहास

की पृष्ठभूमि में यही कथा छिपी है।

यूरोप में क्या हुआ ? यूरोप की १६, १७, १८ तथा १९वीं शताब्दी में दो लहरें बड़े वेग से उठीं। उनमें से एक लहर को 'रेनैसाँ' (Renaissance) तथा दूसरी लहर को रैफ़र्मेशन (Reformation) कहा जाता है। रेनैसाँ का अर्थ है—पुनर्जागरण तथा रैफ़र्मेशन का अर्थ है समाज-सुधार। सोलहवीं शताब्दी से पहले व्यक्ति स्वतन्त्रता की परिभाषा में सोचता ही नहीं था। रेनैसाँ का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि व्यक्ति ने स्वतन्त्रता की भाषा में सोचना शुरू किया। जब व्यक्ति अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व से शून्य था वह रूढ़िवाद का युग था। धर्म के क्षेत्र में उस युग में धर्म-गुरु जो कहता था वही व्यक्ति के लिए मान्य था। साधारण व्यक्ति के लिए ही नहीं, राजा को भी पोप का शासन ही मानना होता था। स्थिति यह थी मानो राजा राजा नहीं पोप ही धर्म-गुरु होने के कारण राजा था। स्वर्ग जाने के लिए उससे ही परवाना लेना होता था। स्वर्ग जाने के लिए पोप पैसे लेकर परवाने बेचता था जिसे इण्डलजेन्सेज़ कहा गया था। न व्यक्ति सोचता था, न राजा सोचता था कि यह धार्मिक अनर्थ है। उस रूढ़िवादी युग में प्रत्येक व्यक्ति समझता था कि पोप के माध्यम से ही परमात्मा तक पहुँचा जा सकता है। जो लोग पाप करते थे वे पोप से माफ़ीनामे (इण्डलजेन्सेज़) खरीदकर समझते थे कि वे पाप-मुक्त हो गये। जैसा हमने कहा रेनैसाँ (पुनर्जागरण) का परिणाम स्वभावतः व्यक्ति का स्वतन्त्र रूप में सोचने लगना था जिससे सुधारवाद (रैफ़र्मेशन) की लहर ने जन्म लिया। इस लहर का श्रेय मार्टिन लूथर (१४८३–१५८६) को है। उसने १५१७ में विटन-वर्ग में पोप की धार्मिक दासता से मुक्त होने के लिए ९५ युक्तियों का एक परि-पत्र टाँग दिया। इस समय से ईसाइयत दो भागों में विभक्त हो गयी। पोप के अनुयायी कैथोलिक कहे जाने लगे और लूथर के अनुयायी प्रोटेस्टेण्ट कहे जाने लगे। अबतक राजा लोग भी पोप को ही सर्वेसर्वा मानते थे। अब व्यक्ति की स्वतन्त्रता की इस लहर ने व्यक्तियों तथा राज्यों को भी इन दो भागों में बाँट दिया, मानो पोप के प्रति अबतक चली आ रही दासता को ठोकर लगी और व्यक्ति की स्वतन्त्रता को एक नया आयाम मिल गया। परन्तु अभी जन-जागरण की चेतना पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नहीं हुई थी। यद्यपि कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेण्ट धर्म के क्षेत्र में एक-दूसरे के शत्रु थे परन्तु रूढ़िवाद की अनेक बातों में एक-दूसरे के सहायक थे। मानवीय जागृति की जिस विचारधारा की ये उपज थे उसकी अनेक बातों के ये समान रूप से विरोधी थे। उदाहरणार्थ, उस समय का एक स्वतन्त्र विचारक गैलिलियो था। उसने १६१० में टैलिस्कोप का निर्माण किया था। वह अपने वैज्ञानिक ज्ञान के आधार पर कहता था कि पृथिवी घूमती है और गोल है। ईसाई कहते थे कि पृथिवी चपटी है और स्थिर है। गैलिलियो को जेल में डाल दिया गया क्योंकि उसका विचार ईसाइयत के विरुद्ध था। एक दूसरा वैज्ञानिक था

जिसका नाम ब्रूनो (१५४८–१६००) था, उसका कहना था कि पृथिवी सूर्य के गिर्द घूमती है। ईसाइयत कहती थी कि सूर्य पृथिवी के गिर्द घूमता है क्योंकि यह पृथिवी तो वह देव-स्थली है जिसमें हज़रत मसीह पैदा हुए। ब्रूनो को कहा गया कि अपने विचार को बदले। उसने नहीं बदला, और उसे ज़िन्दा जला दिया गया।

व्यक्ति की स्वतन्त्रता के प्रति यह खोज इन अत्याचारों के बावजूद जारी रही। ईसाइयत ने स्वतन्त्र विचार करनेवालों के विरुद्ध 'इन्क्वीज़नीशन्स' की स्थापना की जिनका उद्देश्य व्यक्ति को स्वतन्त्र विचार करने से रोकना था। इंग्लैण्ड में लैटीमर नामक पादरी को १५५५ में ज़िन्दा जला दिया गया क्योंकि उसने कैथोलिक धर्म को मानने से इन्कार कर दिया। जलते-जलते उसने घोषणा की कि मेरी जलती हुई इन लपटों से जो प्रकाश निकलेगा वह विश्वभर में फैल जायेगा।

व्यक्ति के स्वतन्त्र विचार करने की सामर्थ्य प्राप्त करने के इस संघर्ष का परिणाम यह हुआ कि यूरोप में १८-१९वीं शताब्दी में जन-जागरण का युग आ गया जिसके कारण भिन्न-भिन्न देशों में जिन लहरों ने जन्म लिया उन्हें जन-सत्ता (Democracy), स्वतन्त्रता (Liberty)तथा जनता के अधिकार (Rights of the Individual), कहा जाता है। यह जन-जागरण भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार से हुआ। कहीं राजा के प्रति विद्रोह से हुआ, कहीं खून-खराबी से हुआ, कहीं सत्ताधारी शक्ति ने स्वयं शक्ति का जन-साधारण के प्रति हस्तांतरण कर दिया। यूरोप में यह कैसे हुआ इसे समझने के लिए वहाँ के सामाजिक तथा राजनैतिक इतिहास को समझ लेने से स्थिति स्पष्ट हो जायेगी। वहाँ की सामाजिक परिस्थिति में जन-संघर्ष निम्न चार युगों में विभक्त किया सकता है:

(क) पोप-युग—पहले वहाँ के सब देशों में पोप का आधिपत्य था, राजा लोग भी पोप को पहले सर्वेसर्वा मानते थे।

(ख) राज-युग—लूथर के पोप के प्रति विद्रोह करने के अनन्तर राजाओं ने भी सिर उठाना शुरू किया और वे पोप से स्वतन्त्र होकर अपनी स्वतन्त्र सत्ता का प्रयोग करने लगे।

(ग) वैश्य-युग—राजा लोग भोग-विलासी थे, उन्हें रुपये-पैसे की जरूरत रहती थी, वे साहूकारों से उधार लेने लगे थे, परिणामस्वरूप धनी लोगों का प्रभुत्व बढ़ने लगा।

(घ) मज़दूर-युग—धनी लोग मज़दूरों से काम लेते थे, उनके बूते पर ही कल-कारखाने चलाते थे। जन-जागरण की बढ़ती के कारण मज़दूर-वर्ग में भी चेतना जग उठी। उन्होंने अपने संगठन बनाने शुरू किये, हड़तालें कीं, लेबर गवर्नमेंट स्थापित हो गयीं। इस प्रकार शक्ति का हस्तान्तरण होता गया और व्यक्ति अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को पहचानने लगा।

भिन्न-भिन्न देशों में जन-जागरण कैसे हुआ, कैसे जन-सत्ता, स्वतन्त्रता तथा जनता के अधिकार की चेतना जागी—इसे समझने के लिए कुछ देशों में जागी व्यक्ति की स्वतन्त्रता की भावना का हम नीचे उल्लेख कर रहे हैं। यद्यपि यह चेतना राजनैतिक क्षेत्र में हुई तथापि यह एक सार्वत्रिक जन-जागरण की सूचक थी जिसमें मनुष्य अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को, व्यक्तिरूप से अपने अधिकार को समझने लगा था और रूढ़िवाद से चले आ रहे सांस्कृतिक, सामाजिक, तथा राजनैतिक दासता से मुक्त होने जा रहा था; मनुष्य वास्तविक अर्थों में मनुष्य होने जा रहा था। व्यक्ति के राजनैतिक जागरण का विवरण निम्न कहा जा सकता है :

(क) इंग्लैण्ड में १६२८ में चार्ल्स प्रथम को पार्लियामेण्ट ने व्यक्ति का अधिकार-पत्र (Petition of Rights) दिया जिसे राजा ने स्वीकार किया। इसी चार्ल्स प्रथम को १६४९ में फाँसी की सज़ा दी।

(ख) अमरीका ने १७७६ में स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी और अंग्रेज़ी सत्ता से स्वतन्त्र हो गया। इसे Declaration of Independence कहा जाता है। अमरीका ने यह घोषित कर दिया कि अन्य देश उसके शासन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकते, वह अपने व्यक्तित्व को जैसे चाहेगा रखेगा, इसे मोनरो डॉक्ट्रिन (Monroe Doctrine) कहा जाता है। जैसे व्यक्ति अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखने में स्वतन्त्र है, वैसे अन्य देश अपने भीतर दखल न दे—यह इस सिद्धान्त का अर्थ था जो १६, १७, १८, १९वीं सदी से चल रहे जन-जागरण का ही एक रूप था।

(ग) फ्रांस १७९२ में एक स्वतन्त्र राज्य (Republic) घोषित हो गया जहाँ राजा का कोई स्थान न रहा।

(घ) रशिया में १९१७ में वहाँ के राजा ज़ार तथा उसके परिवार को मार-कर रेवोल्यूशनरी सरकार की स्थापना हो गई जो जन-सत्ता के जागरण का एक अद्भुत उदाहरण है।

(ङ) जर्मनी में १९१८ में जर्मन गवर्नमेंट घोषित कर दी गई।

समाजों या देशों के उक्त परिवर्तन राजनैतिक हैं, परन्तु वे सब उस प्रक्रिया के परिणाम हैं जो सृष्टि के आदि से मनुष्य को सब बन्धनों से मुक्त कराने में लगी हुई है। मानव अनेक बन्धनों से बँधा हुआ है। परिवार में, समाज में, देश में, सब जगह वह अपने को जकड़ा हुआ पा रहा है। वह इनको झकझोरकर तोड़ देना चाहता है ताकि बन्धनमुक्त होकर वह किसी का दास न रहे। इसी प्रक्रिया से जन-सत्ता ने जन्म लिया, इसी प्रक्रियां से जन-जागरण ने जन्म लिया, इसी प्रक्रिया से डेमोक्रेसी ने, सोश्यलिज्म ने, और सामाजिक क्षेत्र में इसी प्रक्रिया से समाज-सुधार या राष्ट्रवाद ने जन्म लिया।

समाजशास्त्र का एक नियम है जिसका डिल्लार दि चार्जन ने प्रतिपादन किया

है। उसका कहना है कि इस भू-मण्डल की तीन परतें हैं। पहली परत तो यह भूमि स्वयं है, दूसरी परत भूमि से ऊपर २०० मील के वायु-मण्डल की है, तीसरी परत उससे ऊपर विचार-मण्डल की है। संसार के उच्चकोटि के विचार उस तीसरी परत से समयानुसार आते रहते हैं। इसी कारण मनुष्य को विचारों की दासता से मुक्त कराने के जो विचार यूरोप को झकझोर गये, वही विचार उसी समय भारत को भी हिला गये। भारत के इतिहास को देखा जाय तो यहाँ भी वही-कुछ हुआ जो यूरोप में हुआ। यहाँ क्या हुआ? यहाँ हमारे सामने चार युगों का समय है—अन्धकार युग, सुधार युग, जागरण युग तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता का युग। इन चार युगों को निम्न प्रकार से विभक्त किया जा सकता है—

(क) अन्धकार-युग—वह समय जब भारत में मुसलमानों का राज्य था।
(ख) सुधार-युग—अंग्रेजों के शासन-काल में जब राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, केशवचन्द्र सेन, विवेकानन्द आदि हुए।
(ग) जागरण-युग—जब दयानन्द, विरजानन्द, महात्मा गांधी आदि हुए।
(घ) व्यक्ति के स्वातन्त्र्य का युग—१९४७ के बाद स्वतन्त्रता-प्राप्ति का युग।

(क) भारत का अन्धकार-युग—मुसलमानों का काल

अंग्रेज़ों तथा मुसलमानों के भारत में आकर शासन करने के पहले भारत की क्या स्थिति थी—यह विद्वानों के विवाद का विषय है, परन्तु इतना अवश्य है कि एक समय था जब प्रत्येक भारतीय के जीवन में वेद, उपनिषद् तथा गीता की शिक्षा रची-पची थी। जब मुसलमान भारत में आये तबतक पुराना सब-कुछ भुला दिया जा चुका था, देश रूढ़ियों का शिकार हो चुका था। जो-कुछ रहा-सहा था उसे इस्लामी शिक्षा ने उखाड़ दिया था। मुसलमानों का शासन इस देश में ८०० साल तक रहा। यद्यपि राणा प्रताप तथा शिवाजी आदि ने भारत की प्राचीन परम्परा की रक्षा करने का प्रयत्न किया, तथापि मुस्लिम शासन का ऊँचा हाथ रहा। जैसे पोप का शासन यूरोप में अन्धकार का युग था, वैसे मुस्लिम शासन का युग भारत में अन्धकार का युग रहा। इस युग में हम अपना सब-कुछ भुलाने लगे और परवशता के कारण रूढ़ियों के दास हो गये। इस युग में बाल-विवाह, विधवाओं का आजीवन वैधव्य, पति के मरने पर सती-प्रथा का प्रचलन, परिस्थितिवश छूत-अछूत की भावना, 'स्त्री-शूद्रौनाधीयाताम्' जैसी संस्कृति का पनपना—यह सब-कुछ होने लगा। यद्यपि यह सब-कुछ मुस्लिम-शासन की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ, तथापि भारत का यह युग यूरोप के अन्धकार-युग के ही समान था।

(ख) भारत का सुधार-युग—अंग्रेज़ों का काल

मुस्लिम शासन के बाद भारत में अंग्रेज़ों का शासन आया। अंग्रेज़ों का शासन

लगभग ३०० साल तक रहा। अंग्रेज़ों को हम कितना ही बुरा कहें, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनके आने पर ही भारत में प्रचलित कुरीतियों को दूर करने का सूत्रपात हुआ। वे लोग व्यापारी बनकर आये थे, किन्तु यहाँ की परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि शासन-सूत्र उनके हाथ आ गया। व्यापारी राजा बन गये। उन्होंने अपने राज-धर्म को खूब निभाया। अंग्रेजी शासन-काल में लॉर्ड मैकाले को इस-लिए बुलाया गया कि वे यहाँ की शिक्षा-पद्धति में ऐसा परिवर्तन कर दें जिससे अंग्रेज़ों को अंग्रेज़ी भाषा में काम करनेवाले क्लर्क मिल जावें। शिक्षा-पद्धति में परिवर्तन हो गया और भारतीयों ने स्कूलों-कॉलेजों से अंग्रेज़ी में लिखे ग्रन्थ पढ़ने शुरू किये। तबतक यूरोप में सुधार का युग, व्यक्ति की स्वतंत्रता का श्रीगणेश हो चुका था। व्यक्ति की स्वतंत्रता के विचार पढ़े-लिखों में फैलने लगे। यूरोप में जो सामाजिक सुधार हो रहे थे, अंग्रेज़ी-ग्रन्थों को पढ़कर भारतीयों को उनका परिचय होने लगा। अंग्रेज़ ऐसे व्यक्ति उत्पन्न करना चाहते थे जो शक्ल-सूरत से भारतीय हों, परन्तु विचारों में अंग्रेज़ हों; परन्तु जो विचारों में अंग्रेज़ उत्पन्न हुए वे यूरोप की सुधार-क्रांति से भी परिचित हो गये थे और उनके हृदय में भारतीय प्रचलित रूढ़ियों को धकेल फेंकने की लालसा उत्पन्न हो गई। इस प्रकार अंग्रेज़ी-शिक्षा ने भारत में अंग्रेज़ों की अधीनता के साथ-साथ रूढ़िवाद मे मुक्त होने का भी संकल्प ले लिया। इस सुधार-युग की जन्मदात्री यद्यपि अंग्रेज़ी शिक्षा थी, तो भी इस युग को लाने में राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, केशवचन्द्र सेन तथा ऋषि दयानन्द ने अनथक कार्य किया। सुधार-युग के इन व्यक्तियों ने जो कार्य किया उसका उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

(ग) भारत का सुधार तथा जागरण का युग—भारतीय सुधारकों का काल

(१) राजा राममोहन राय १७७२–१८३३—ये ६१ वर्ष तक जीवित रहे। अंग्रेज़ों ने भारत में पहले-पहल बंगाल में शिक्षा का सूत्रपात किया, इसलिए व्यक्ति की स्वतंत्र व्यक्तित्व की भावना वहाँ पहले जागी। राजा राममोहन राय सामाजिक चेतना की जागृति के प्रतिनिधि समझने चाहिएँ। अभी राष्ट्रीयता की भावना नहीं उत्पन्न हुई थी। राजा राममोहन राय का कहना था कि अंग्रेजी शासन से लाभ ही है। अंग्रेज़ों के विरुद्ध ग़दर सन् १८५७ में हुआ। ये ग़दर से २४ साल पहले ही दिवंगत हो गये। इनके समय जो कुप्रथाएँ चल रही थीं उनमें मुख्य सती-प्रथा थी। जो स्त्री सती होने लगती थी उसे अफ़ीम आदि खिलाकर बेहोश-सा कर दिया जाता था और जलती चिता में उसे धकेल दिया जाता था। वह चिल्लाते हुए आग की लपटों से भागती थी तो बाँसों के ज़रिये उसे चिता में ज़बर्दस्ती धकेला जाता था। राजा राममोहन राय की भाभी के साथ ऐसा ही

हुआ। इस वीभत्स दृश्य को देखकर वे हतप्रभ हो गये और उन्होंने इस प्रथा को दूर करने का प्रण ले लिया। उनकी भाभी १८११ में ज़बर्दस्ती सती की गई थी। उस समय लॉर्ड वेंटिक गवर्नर जनरल थे। उनके काल तक ८०० स्त्रियाँ सती हो चुकी थीं। उनकी सरकार ने ४ दिसम्बर १८२९ को Regulation १७ के अनुसार सती-प्रथा के विरुद्ध कानून बना दिया।

राजा राममोहन राय की वेदों पर श्रद्धा थी। रवीन्द्रनाथ के पिता देवेन्द्रनाथ ठाकुर भी वेदों में श्रद्धा रखते थे। उन्होंने तमिल से कुछ वेदपाठी मँगवाये, परन्तु उन्होंने स्त्रियों के सामने वेद-पाठ करने से इन्कार कर दिया। परिणामस्वरूप स्त्रियों के सामने चिकें टाँग दी गईं ताकि वे पीछे से सुनें और वेद भ्रष्ट न हो जायें। इन्होंने ४ विद्यार्थी वेद पढ़ने के लिए काशी भेजे, परन्तु अन्त में यह सब गड़बड़झाला देखकर इनकी वेदों से आस्था उठ गई और इन्होंने वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानना छोड़ दिया।

(२) ईश्वरचन्द्र विद्यासागर १८२०–१८९१—ये ७१ वर्ष तक जीवित रहे। ये भी सामाजिक सुधार के प्रतिनिधि हैं। इनका सुधार का क्षेत्र विधवाओं की दुर्गति को दूर करना था। विधवा सती हो जाती थी तो उसकी जीवन-गाथा समाप्त हो जाती थी, परन्तु अगर वह सती नहीं होती थी तो उसके सामने नरक का जीवन रह जाता था। उसका सिर मुँडा दिया जाता था, घर में वह दासी का जीवन व्यतीत करती थी। किसी भी शुभ-कार्य में उसका होना अपशकुन माना जाता था। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने स्वयं विधवा से विवाह किया जो ८ दिसम्बर १८५६ को हुआ; अपने पुत्र का भी विधवा से विवाह किया; भंडारकर की विधवा पुत्री का विवाह करवाया। शंकराचार्य ने भंडारकर की पुत्री के विवाह का, जो विधवा थी, बहिष्कार किया। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने विधवा-विवाह के पक्ष में ५००० हस्ताक्षर कराकर २५ आवेदन-पत्र सरकार को भेजे, किन्तु उनके विरोधियों ने ४० आवेदन-पत्र ६० हज़ार हस्ताक्षर कराकर भेजे। पराशर-स्मृति में विधवा-विवाह को वैध माना गया है। यह समझा जाता है कि कलियुग में पराशर-स्मृति ही मान्य है—"कलौ पाराशरः स्मृतिः।" इस ग्रन्थ का ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने प्रकाशन किया। इसकी इतनी माँग हुई कि प्रथम संस्करण जो २००० छपा था एक सप्ताह में बिक गया, द्वितीय संस्करण ३००० छपा, और तृतीय संस्करण १०,००० छपवाना पड़ा। इनके प्रयत्न से २५ जुलाई १८५६ को विधवा-विवाह कानून बना जिसमें विधवा-विवाह को वैधता प्राप्त हो गई। कानून तो बन गया, परन्तु फिर भी विधवाओं की स्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं आया। कानून बनने के २७ साल बाद बहराम जी मलाबारी ने Enforced Widowhood पर एक नोट सरकार को भेजा जिसका आशय यह था कि कानून बन जाने पर भी विधवाओं की सामाजिक स्थिति में विशेष

परिवर्तन नहीं आया। ग़दर का समय १८५७ है, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर उस समय ५७ वर्ष के थे। उन्होंने सामाजिक चेतना की जागृति में तो भाग लिया, परन्तु राष्ट्रीय चेतना की जागृति में कोई भाग नहीं लिया।

(३) केशवचन्द्र सेन १८३६–१८८४—ये ४८ वर्ष की आयु तक जीवित रहे। ये भी सामाजिक जागृति के प्रतिनिधि थे। बिल्कुल वैय्यक्तिक स्वतंत्रता इनका लक्ष्य था। समाज के सब प्रकार के प्रतिबन्धों को तोड़ डालना चाहते थे। इन्होंने यज्ञोपवीत को तोड़कर फेंक दिया। ग़दर के समय ये २१ साल के थे। इनके समय १८७२ में स्पेश्यल मैरेज एक्ट पास हुआ जिसके अनुसार हिन्दू किसी से भी विवाह कर सकता है, जिससे विवाह करे उसका हिन्दू होना जरूरी नहीं है। सुधार-काल का यह युग सामाजिक सुधार तक परिमित रहा, अभी राष्ट्रीयता का युग नहीं आया था।

(४) ऋषि दयानन्द १८२४–१८८३—ये ५९ वर्ष की आयु तक जीवित रहे। अगर इनकी विष-पान द्वारा मृत्यु न होती तो ब्रह्मचारी होने के कारण ये अधिक वर्ष तक जीते। इनके जीवन को दो भागों में बाँटा जा सकता है। पहला भाग वह है जिसमें ये देश में राष्ट्रीय चेतना की जागृति में लगे रहे। जब सन् ५७ का ग़दर हुआ तब इनकी आयु ३३ वर्ष की थी। पूना में जब इन्होंने अपनी जीवन-गाथा सुनाई उसमें इन्होंने यह नहीं बतलाया कि १८५७, १८५८, १८५९ में ये क्या करते रहे। ऋषि दयानन्द जैसा कर्मशील व्यक्ति, जिसने सम्पूर्ण भारत को हिला दिया, ३३ वर्ष की आयु में चुपचाप बैठा रहा हो—यह समझ नहीं पड़ता। इसी आधार को लेकर एक दस्तावेज़ आर्यसमाज में प्रचलित है जिसे चौधरी कबूल सिंह, मन्त्री सर्वखाप पंचायत, जिला मुजफ्फरनगर ने प्रकाशित किया है जो सन् १८५६ का है। यह दस्तावेज़ मीर मुश्ताक मीरासी का लिखा हुआ है जो सर्वखाप पंचायत की तरफ़ से मथुरा की एक कॉन्फरेंस में उपस्थित था। इस कॉन्फरेन्स में एक प्रज्ञाचक्षु स्वामी अध्यक्ष थे जिनका नाम विरजानन्द था जो स्वामी दयानन्द के गुरु थे। ऐसा प्रतीत होता है कि सन् ५७ में स्वामी दयानन्द इस ग़दर में किसी-न-किसी प्रकार क्रियाशील रहे, परन्तु पूना के अपने जीवन-उल्लेख में उन्होंने जान-बूझकर अपने इस समय का कार्य-कलाप नहीं दिया और अपनी जीवनी का १८६० से वर्णन किया। जब १८५७ की क्रान्ति असफल हो गई तब ऋषि दयानन्द ने अनुभव किया कि जबतक सामाजिक क्रान्ति द्वारा जन-जागरण नहीं होता तबतक राष्ट्रीय चेतना का जगना असम्भव है, इसलिए ग़दर के बाद वे सीधा सामाजिक क्षेत्र में जुट गये ताकि भारत का मानव जात-पाँत तथा धार्मिक संकुचितता के बन्धनों से मुक्त हो जाय। उनका निष्कर्ष यह था कि जबतक भारतवासी सामाजिक दायरे में बँधे रहेंगे तबतक राष्ट्रीय चेतना का उभरना असम्भव है। राष्ट्रीय चेतना के उभरने से पहले सामाजिक चेतना का

उभरना आवश्यक है। यही कारण है कि ऋषि दयानन्द पहले राष्ट्रीय चेतना को उभारने में लगे रहे, वहाँ असफलता देखकर सामाजिक चेतना को उभारने में लग गये। यूरोप में भी यही हुआ। जब पोप, लूथर आदि ने वहाँ के समाज को सामाजिक बन्धनों से मुक्त कर दिया तब वैय्यक्तिक स्वतंत्रता, सामाजिक स्वतंत्रता, देश की स्वतंत्रता ने जन्म लिया।

जैसा हमने प्रारम्भ में कहा—राष्ट्रों का इतिहास दासता से व्यक्ति की मुक्ति का इतिहास है। व्यक्ति की परिवार में, समाज में, राष्ट्र में खो रहे व्यक्तित्व की खोज से ही जन-सत्ता (Democracy), स्वतंत्रता (Liberty) तथा जनता के अधिकारों (Rights of the Individual) का जन्म हुआ है। यूरोप में भी ऐसा ही हुआ है, भारत में भी ऐसा ही हुआ है।

(घ) भारत का व्यक्ति की स्वतंत्रता का युग

व्यक्ति की दासत्व से मुक्ति की जो प्रक्रिया भारत में प्रारम्भ हुई थी उसका अन्त १९४७ में हुआ जब भारत स्वतंत्र घोषित किया गया। भारत इस खोज में अनेक युगों में से गुज़रता हुआ निकला। भारत का अन्धकार-युग भी था, सुधार-युग भी था, जागरण-युग भी आया, और अन्त में इस देश का १९४७ में वह युग आया जब व्यक्ति सब प्रकार की दासताओं से मुक्त होकर उस जगह आ पहुँचा जहाँ वह सब प्रकार की दासताओं से मुक्त हो सकता था। हम समझते हैं कि राजनैतिक दासता से मुक्त हो जाना ही व्यक्ति की दासता से मुक्ति का सूचक है। इसमें सन्देह नहीं कि महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन के फलस्वरूप आज भारत न मुस्लिम शासन के अधीन है, न अंग्रेज़ों के शासन के अधीन है। पिछले ११००-१२०० वर्षों की राजनैतिक दासता से देश मुक्त हो गया है। परन्तु अन्धकार-युग, सुधार-युग तथा जागरण-युग की दासता के अवशेष अभी तक बने हुए हैं जिन्हें मिटा देने के लिए व्यक्ति का परिवार, समाज तथा देश द्वारा उसे जकड़नेवाले बन्धनों से उसका संघर्ष जारी है। अभी तक हम परिवार के अनेक बन्धनों से मुक्त नहीं हुए हैं। आये-दिन सुनने में आता है कि अमुक विवाहिता स्त्री पर्याप्त दहेज न मिलने के कारण जल मरी, अमुक हरिजन को हरिजन होने के कारण गोली का शिकार हो जाना पड़ा, अमुक व्यक्ति भुखमरी के कारण जीवन खो बैठा, अमुक व्यक्ति निर्धन होने के कारण उच्च-शिक्षा न प्राप्त कर सका। फिर भी देश ऐसे स्थल पर आ पहुँचा है जहाँ मानव को मानवीयत्व के प्राप्त करने का सामर्थ्य प्राप्त हो गया है। मानव अब मानव होने के रास्ते पर चल पड़ा है, इसीलिए हमने इस अध्याय का शीर्षक दिया है—"मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्"—ऐ इन्सान! दिव्य गुणों को प्राप्त करने के रास्ते पर चलने के लिए मनुष्य बनकर सन्नद्ध हो जा।

महात्मा गांधी जिनके सत्याग्रह आन्दोलन को भारत की स्वतंत्रता का श्रेय प्राप्त है सन् १८५७ के १२ वर्ष बाद उत्पन्न हुए, इसलिये उनका सशस्त्र क्रान्ति में कोई हाथ नहीं हो सकता, परन्तु सन् १८५७ में ग़दर के समय ऋषि दयानन्द ३३ वर्ष के युवा थे। यही कारण है कि कई लेखक ऐसे क्रियाशील व्यक्तित्व का इस आयु में चुप बैठे रहना स्वीकार नहीं करते। फिर भी यह मानना पड़ता है कि भारत में स्वतंत्रता के युग के लाने में सशस्त्र क्रान्ति ने जो जागृति उत्पन्न की उसके साथ महात्मा गांधी की सत्याग्रह के रूप में अशस्त्र क्रान्ति ने साथ दिया क्योंकि सशस्त्र क्रान्ति के असफल होने पर जनता के हृदय में सदियों की दासता से मुक्ति का बीज बोया जा चुका था।

ऊपर हमने जो-कुछ लिखा उसे संक्षेप में तिथियों की निम्न तालिका से समझा जा सकता है। तिथियों की इस तालिका का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि मानव ने सब प्रकार की दासताओं से मुक्त होने के लिए किस उद्योग से यत्न किया। यह दासता राज्य के प्रति थी, विचारों के प्रति थी, प्रथा के प्रति थी, प्रचलन के प्रति थी, रीति-रिवाज के प्रति थी।

यूरोप में—	मार्टिन लूथर द्वारा घोषणा-पत्र	१५१७	
	लैटीमर ज़िन्दा जला दिया गया	१५५५	
	गैलिलियो कैद कर दिया गया	१६१०	
	ब्रूनो स्टेक पर जला दिया गया	१६००	
	रूस की क्रान्ति	१९१७	(ज़ार को मार दिया गया)
	जर्मनी	१९१८	
भारत में—	राजा राममोहन राय	१७७२	जन्म (ग़दर के २४ वर्ष पहले मर गये)
	उनकी भाभी सती हुई	१८११	
	सती-प्रथा-निषेध	१८२९	
	ईश्वरचन्द्र विद्यासागर	१८२०	जन्म (ग़दर से ३७ वर्ष पहले मर गये)
	विधवा-विवाह-कानून	१८५६	
	केशवचन्द्र सेन	१८३६	जन्म (ग़दर के समय २४ वर्ष के थे)
	सोश्यल मैरेज एक्ट	१८७२	
	घनश्यामसिंह गुप्त द्वारा स्पेश्यल मैरेज एक्ट में परिवर्तन	१९३७	

दयानन्द	१८२४	(ग़दर के समय ३३ वर्ष के युवक थे)
विरजानन्द के पास गये	१८६०	(३ साल तक पढ़े, ३६ वर्ष की अवस्था में विरजानन्द के पास पढ़ने के लिए गए)
सशस्त्र क्रान्ति में भाग	१८५६	
सशस्त्र क्रान्ति	१८५७	
विक्टोरिया की घोषणा	१८५८	
आर्यसमाज तथा थियोसोफ़ी का संबंध	१८७५	(१८७५ में प्रथम आर्य-समाज की स्थापना की)
थियोसोफ़ी से विच्छेद	१८८१	
दयानन्द की मृत्यु	१८८३	(५९ वर्ष की आयु में विष देने से मरे)
गांधी-जन्म	१८६९	(ग़दर के १२ वर्ष बाद उत्पन्न हुए)
गांधी-मृत्यु	१९४८	(७९ वर्ष की आयु में गोली द्वारा मारे गये)
दादाभाई नौरोजी	१९०६	में नौरोजी ने स्वराज्य शब्द का प्रयोग किया।
स्वराज्य-प्राप्ति	१९४७	

□

यज्ञेन यज्ञं अयजन्त देवाः

'यज्ञ'—यह एक अद्भुत शब्द है। इस शब्द में जो विचार भरा है वह ऐसा विलक्षण विचार है जो संसार की किसी विचारधारा में नहीं पाया जाता। इस प्रकरण में हम उसी विचार पर प्रकाश डालेंगे।

प्रायः समझा जाता है कि यज्ञ-कुण्ड में भौतिक अग्नि को प्रदीप्त कर उसमें समिदाधान करते हुए प्रार्थना-मन्त्र, स्वस्तिवाचन-मन्त्र तथा शान्तिकरण के मन्त्रों द्वारा अग्निहोत्र करना ही यज्ञ है। भारत के इतिहास में ऐसा यज्ञ-काल रहा भी है। रामायण पढ़ने से ज्ञात होता है कि उस काल में वनों में ऋषियों के जो आश्रम होते थे उनमें यज्ञ लगातार होते रहते थे। राक्षसों का मुख्य उद्देश्य इन यज्ञों में विघ्न डालना होता था। ऋषि विश्वामित्र राजा दशरथ के पास आये ही इस उद्देश्य से थे कि राज-पुत्रों की सहायता से यज्ञों में विघ्न डालनेवाले राक्षसों का संहार करें। भारत का यह यज्ञ-काल तब से आज तक युगों के बीत जाने पर भी महत्त्व में कम नहीं हुआ। हिन्दुओं के प्रत्येक शुभ-कर्म का प्रारम्भ यज्ञ से होता है। हिन्दू लोग अनेक रूढ़ियों को समय के साथ छोड़ते जा रहे हैं, परन्तु अपने को सर्वथा मॉडर्न कहनेवाला हिन्दू यज्ञ में पूरी आस्था रखता है। कोई समय था जब चोटी और जनेऊ प्रत्येक हिन्दू के लिए आवश्यक थे। आज नाइयों ने सबकी चोटी काट दी, और विरले हिन्दू होंगे जो जनेऊ पहनते होंगे, परन्तु वे दैनिक यज्ञ करते हों या न करते हों, प्रत्येक धार्मिक कृत्य में पण्डित जी को बुलाकर यज्ञ अवश्य कराते हैं। मैं विदेशों में जहाँ कहीं गया, वहाँ सदियों से बसे हुए भारतीय ऐसे विद्वानों की तलाश में फिरते हैं जो उनके घर आकर यज्ञ करा दें। यज्ञ करा देना एक पेशे का रूप धारण कर गया है। कई पण्डित ऐसे मिलेंगे जिनका धंधा ही यज्ञ कराना है। मैंने देखा है कि आर्यसमाजी जब सोचते हैं कि उनके प्रचार-कार्य में शिथिलता आ गयी है, उसे कैसे दूर किया जाय, तो उनके सामने यज्ञ कराने के सिवाय दूसरा कोई प्रोग्राम नहीं आता। आर्यसमाजी पत्रों में यही पढ़ता हूँ कि आर्यसमाज में जो शिथिलता आ गयी है, उसे दूर करना हो तो यज्ञों की प्रथा को जारी करो। हो भी यही रहा है, प्रत्येक आर्यसमाज अपने वार्षिकोत्सव को सफल बनाने के लिए चारों वेदों से यज्ञ करने के प्रोग्राम बना रही है ताकि जनता और किसी तरह से आये या न आये, यज्ञ के बहाने से तो आयेगी! परन्तु हमें यह

स्मरण रखना चाहिए कि जिसे हम यज्ञ कहकर जनता को एकत्रित करने का यत्न करते हैं उसे 'हवन' तो कहा जा सकता है, वैदिक परिभाषा में 'यज्ञ' नहीं कहा जा सकता।

परन्तु यज्ञ क्या है, यज्ञ का अर्थ क्या है, यज्ञ का उद्देश्य क्या है—यह भी किसी ने सोचा ? गीता के रचयिता श्रीकृष्ण के समय भी ये यज्ञ हुआ करते थे, उनके सामने भी यह प्रश्न उपस्थित हुआ था। इस सम्बन्ध में श्री अरविन्द लिखते हैं : "गीता में यज्ञ-शब्द की बहुत मार्मिक व्याख्या की गयी है। गीता में यज्ञ का दो स्थानों में वर्णन आता है—एक तीसरे अध्याय में, और दूसरा चौथे अध्याय में। ऊपर से देखने से मालूम पड़ता है कि यज्ञों के इस वर्णन में गीता उस समय के प्रचलित आनुष्ठानिक यज्ञों की, कर्मकाण्ड की बात कह रही है, परन्तु गहराई में देखने से ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण ने गीता में यज्ञ-शब्द का बहुत व्यापक दार्शनिक अर्थ में प्रयोग किया है। दोनों अध्यायों में यज्ञ के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण ने गीता में जिस भाषा का प्रयोग किया है उससे इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि इन स्थानों में जो यज्ञ-सम्बन्धी वर्णन है वह रूपात्मक है और यज्ञ करने की शिक्षा द्वारा जिस यज्ञ को करने के लिए कहा गया है वह बाह्य यज्ञ नहीं, आन्तरिक यज्ञ है। प्राचीन वैदिक पद्धति में सदा ही दो तरह का अर्थ रहा है—एक भौतिक, दूसरा आध्यात्मिक; एक बाह्य, दूसरा आभ्यन्तर।"

यज्ञ-शब्द का अर्थ यह भौतिक या बाह्य यज्ञ नहीं है, इसका अर्थ आध्यात्मिक या आन्तरिक यज्ञ है—यह नवीन विचार श्रीकृष्ण ने गीता में दिया है। संसार में नयी लहर चलानेवाले, नवीन विचारों को देनेवाले महापुरुष पुराने शब्दों में नया अर्थ भर देते हैं ताकि लोग रूढ़ि के दास ही न बने रहें, अपनी बुद्धि से भी सोचने लगें। इसी भावना को ध्यान में रखकर गीता (४-३०) में 'यज्ञविद्' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'यज्ञविद्' का अर्थ है—यज्ञ के रहस्य को जाननेवाला। श्री कृष्ण ने गीता में 'यज्ञविद्' इस शब्द का प्रयोग करते हुए स्पष्ट किया है कि जो आनुष्ठानिक यज्ञ करते हैं, वे यज्ञ के वास्तविक रहस्य को नहीं समझते। अग्नि-कुण्ड में अग्नि प्रदीप्त करके वेदमन्त्रों द्वारा आहुतियाँ दे देना—इतने मात्र को यज्ञ नहीं कहते; यज्ञ तो बहुत व्यापक शब्द है, और उस व्यापक अर्थ में यज्ञ करने से ही यज्ञ की सार्थकता है, अन्यथा सिर्फ—'अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा' उच्चारण कर आहुतियाँ दे देना निरर्थक है। हम पुस्तक सामने रखकर चारों वेदों के मन्त्र-पाठ से यज्ञ में आहुति डालते जाते हैं, और भीतर मन में यह सोचते जाते हैं कि १० बजे दफ्तर जाना है या आज तरकारी क्या बनेगी, तो यह यज्ञ हुआ न हुआ के बराबर है। श्रीकृष्ण का कहना है कि यज्ञ वह नहीं है जो बाहर हो रहा है, वास्तविक फलदायक यज्ञ वह होता है जो मन के भीतर हो रहा है। यह बात सब लोग नहीं समझते—यही गीता में प्रयुक्त 'यज्ञविद्' शब्द का अर्थ है।

वाह्य हो रहा भौतिक यज्ञ तो भीतर हो रहे यज्ञ का रूपक है, असली यज्ञ भीतर होना चाहिए। भीतर हो रहे यज्ञ और बाहर हो रहे यज्ञ में एकरूपता होनी चाहिये, ऐसा न हो कि बाहर कुछ और, भीतर कुछ और। यज्ञ के विषय में श्री कृष्ण तथा श्री अरविन्द के जिस विचार को हमने व्यक्त किया वह सर्वथा वैदिक विचार है। यजुर्वेद में लिखा है: **'यज्ञेन यज्ञं अयजन्त देवाः'**—अर्थात् विद्वान् लोग यज्ञ से यज्ञ को उत्पन्न करते हैं। इसका सीधा अर्थ है कि भौतिक यज्ञ जो सामने अग्नि के रूप में दीख रहा है उससे आध्यात्मिक यज्ञ को अपने भीतर उत्पन्न कर लेना यज्ञ है। बाहर हो रहा यज्ञ तो प्रतीक मात्र है, रूपक है। जिसका वह प्रतीक या उपलक्षक है, अगर वह उद्दीप्त न हुआ तो बाहर हो रहा यज्ञ निष्फल है। बाहर हो रहे यज्ञ में क्या दीखता है? बाहर हो रहे यज्ञ में आग की लपटें उठ रही हैं, हमारे भीतर भी ऊपर उठने की लपट पैदा हो; बाहर हो रहे यज्ञ में आग की लपटों से गर्मी और ज्योति निकल रही है, हमारे भीतर भी ऊपर उठने की गर्मी पैदा हो, हमारे भीतर आत्मिक ज्योति का प्रकाश हो; बाहर हो रहे यज्ञ की प्रदीप्त समिधाओं को नीचे की तरफ ले-जाने का प्रयत्न किया जाय तो भी वह अग्नि ऊपर ही जाती है, प्रयत्न करने पर भी नीचे की तरफ नहीं जाती, हमारे भीतर भी, कोई भी कितना ही हमें पतन की तरफ ले-जाने का यत्न करे, हम पतन के मार्ग का अवलम्बन न करें; बाहर हो रहे यज्ञ में सूखी समिधाओं को डाला जाय तो वे ऊपर जानेवाली आग पकड़ लेती हैं, इसी तरह जैसे भी हो ब्रह्माग्नि के सम्पर्क में आने से हमें भी आत्मिक ज्योति पकड़ ले; बाहर हो रहे यज्ञ में यह सब-कुछ दीखता है, यही सब-कुछ हमारे भीतर होना चाहिए, इसी भाव को लेकर वेद ने कहा—**'यज्ञेन यज्ञं अयजन्त देवाः'**—दिव्य गुण धारण करने की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति वाह्य यज्ञ से अपने भीतर आध्यात्मिक यज्ञ को उत्पन्न कर लेते हैं, भौतिक यज्ञ को भीतर के आध्यात्मिक यज्ञ का प्रतीक समझते हैं, संक्षेप में अग्नि की तरह प्रकाशमान होने का प्रयत्न करते हैं। जैसे अग्नि में कितना ही कूड़ा-कर्कट डाला जाय, सब भस्म हो जाता है, वैसे ही उनके भीतर आध्यात्मिक अग्नि इतनी प्रचण्ड हो उठे कि संसार के कूड़े-कर्कटरूपी प्रलोभन कितने ही उनमें पड़ें, सब भस्म हो जावें। देवता लोग बाहर के यज्ञ से भीतर के यज्ञ को जन लेते हैं—इस वेद-वाक्य का यही रहस्यमय अर्थ है।

श्रीकृष्ण का गीता में कहना तो यह है कि सृष्टि की उत्पत्ति का तथा सृष्टि का मूलभूत सिद्धान्त भी यज्ञ ही है। गीता के तृतीय अध्याय के १०वें तथा ११वें श्लोक में कहा गया है:

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः
अनेन प्रसविष्यध्वम् एष वोऽस्त्विष्टकामधुक् (३-१०)

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ (३-११)

उक्त दोनों श्लोकों का अर्थ यह है कि सृष्टि को उत्पन्न करनेवाले प्रजापति ने प्राणियों को यज्ञ की भावना के साथ उत्पन्न किया था और कहा था कि सब प्राणियों को यज्ञ की भावना के साथ ही सृष्टि-चक्र को चलाना चाहिए। अगर तुम हर काम यज्ञ की भावना से करोगे तो तुम्हारी यज्ञ की भावना तुम्हारे लिए काम-धुक् होगी, अर्थात् यज्ञ की भावना से किये हुए काम तुम्हें जीवन में सफल बनायेंगे। इसी यज्ञ की भावना के साथ अगर तुम परस्पर बरतोगे तो तुम सबका श्रेय होगा, कल्याण होगा। कहने का अभिप्राय यह है कि सृष्टि की उत्पत्ति करते हुए प्रजा-पति ने सृष्टि के आधार में यज्ञ का सिद्धान्त रख दिया था। यज्ञ सिर्फ़ हवन कर लेने का ही नाम नहीं है, यह सृष्टि-चक्र को श्रेय की, कल्याण की तरफ़ ले-जाने का एक मूल सिद्धान्त है। गीता का कहना यह है कि प्राणिमात्र यज्ञ के सिद्धान्त पर चलेंगे तो सबका कल्याण होगा, न चलेंगे तो सृष्टि-चक्र बौखला जायगा, सृष्टि में कहीं शान्ति नहीं मिलेगी। यहाँ यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि जिस यज्ञ को हम सृष्टि की शान्ति का मूल सिद्धान्त कह रहे हैं, जिस मूल सिद्धान्त को सृष्टि के आधार में रखा गया है, वह क्या है इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गीता में कहा गया है :

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् (३-१३)

इसके अर्थ को समझने के लिए हमें समझना होगा कि भौतिक यज्ञ की क्या विधि है? हम स्रुवे में घृत भरते हैं, 'इदं अग्नये स्वाहा' मन्त्र बोलते हैं, और मन्त्र पढ़कर घृत अग्नि में डालकर दो-चार 'बूंद' जो स्रुवे में बच रही हैं उन्हें एक पानीभरे कटोरे में डालकर कहते हैं—'इदं न मम'—यह स्रुवे का घृत अग्नि के लिए था, मेरे लिए नहीं था। मेरे लिए क्या है? मेरे लिए अग्नि में घृत डाल देने के बाद जो दो-चार बूंद बच रही हैं और जो इस जल के कटोरे में डाली गयी, हैं, बस वही मेरे लिए हैं। यहाँ अग्नि तथा जल—ये दो तत्त्व हैं। अग्नि घृत का मुख्य उपभोक्ता है क्योंकि भरा हुआ चम्मच अग्नि में डाल दिया गया; जल घृत का गौण उपभोक्ता है, चम्मच में बचे हुए दो-चार बूंद जल में डाल दिये। इस सारी प्रक्रिया में सृष्टि का मूल-सिद्धान्त आ जाता है। हम संसार के भोग्य पदार्थों का उपभोग किस सिद्धान्त के आधार पर करें? उक्त श्लोक में गीता ने कहा कि अगर हम 'यज्ञशिष्टाशी' होंगे, अर्थात् जब सबकी आवश्यकताएँ पूरी हो जायेंगी तब अपनी आवश्यकता पूरी करेंगे, तो संसार में कोई झंझट ही नहीं खड़ा होगा। संसार के सब झंझटों और उपद्रवों का कारण छीना-झपटी है जिसे उक्त श्लोक में कहा गया—'ये पचन्ति आत्म कारणात्'—जो सिर्फ़ अपने लिए ही सब-कुछ करते

हैं; दूसरों का भी संसार के उपयोग में अधिकार है—यह मानकर नहीं जीते। इसी को इस श्लोक में कहा गया कि वे जो कुछ खाते-पीते हैं वह पाप का खाना-पीना है **'भुञ्जते ते तु अघं पापाः'**।

कैसा खरा सिद्धान्त है! अगर हम यह समझ लें कि सृष्टि एक यज्ञ है, जैसे यज्ञ में यजमान घी का भरा हुआ चम्मच अग्नि में डाल देता है, दो-चार बची हुई घी के बूंदें अपने लिए रख लेता है, वैसे संसार के जितने भोग्य पदार्थ, जितनी सम्पत्ति, जितना धन-धान्य है, वह सब अन्य प्रजाजनों के लिए है, अपने लिए तो मुझे उतना ही रखना है जितना मेरी आवश्यकताओं के लिए ज़रूरी है, तब संसार की समस्याएँ क्यों नहीं सुलझेंगी? सारी उलझनों का कारण यह है कि हम यह मानकर चलते हैं कि संसार में जो-कुछ है वह हमारे अपने लिए है, दूसरों के लिए कुछ नहीं। अपने लिए ही सब-कुछ है, इसी को आज की परिभाषा में **कैपिटलिज़्म** कहते हैं, इससे विद्रोही नारे को **सोश्यलिज़्म** कहते हैं। गीता की परिभाषा में इसे **'ये पचन्त्यात्म-कारणात्'** कहते हैं। जो सिर्फ़ अपने लिए ही सब-कुछ नहीं समझते, औरों को खिलाकर खाते हैं, उन्हें गीता ने **'यज्ञशिष्टाशिनः'** कहा है।

यज्ञ की हमने जो व्याख्या की वह हमारी अपनी व्याख्या नहीं, स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् ने गीता द्वारा यह व्याख्या प्रस्तुत की है। गीता के चतुर्थ अध्याय में **'यज्ञेन यज्ञं अयजन्त देवाः'** को आधार में रखकर ही यज्ञों का जो उल्लेख किया है यह निम्न प्रकार है :

१. ब्रह्माग्नि यज्ञ (४-२५)
२. इन्द्रियाग्नि यज्ञ (४-२)
३. आत्मसंयमाग्नि यज्ञ (४-२७)
४. द्रव्य यज्ञ (४-२८)
५. तपो यज्ञ (४-२८)
६. योग यज्ञ (४-२८)
७. ज्ञान यज्ञ (४-२८)
८. प्राण यज्ञ (४-३०)

जैसा हमने ऊपर कहा, यज्ञ का आधारभूत सिद्धान्त यह है कि अपने लिए सब-कुछ करने के स्थान में जो-कुछ करे उसे दूसरों को अर्पण कर दे, बचा-खुचा अपने लिए रखे। ऐसा करने से **'श्रेयः परं अवाप्स्यथ'**—अर्थात् तुम्हारा और संसार का परम भला होगा, अन्यथा नहीं। ऊपर हमने जिन ८ यज्ञों का उल्लेख किया, उनके सम्बन्ध में संक्षेप से निम्न टिप्पणी दी जा सकती है :

१. ब्रह्माग्नि यज्ञ—ब्रह्म को अगर अग्निरूप मान लिया जाये तो जो भगवान् के लिए अपने को अर्पण कर देता है वह ब्रह्माग्नि यज्ञ करता है। यज्ञ करनेवाला जो अर्पण करता है, उसका फल उसे मिल जाता है—यह यज्ञ का, देने का, अर्पण

कर देने का नियम है। यह नियम तभी घटित होता है जब देना, त्याग, अर्पण निःस्वार्थ भाव से किया जाता है।

२. **इन्द्रियाग्नि यज्ञ**—इन्द्रियों के विषय तो अग्नि-समान हैं। इन्द्रियों के विषयों की अग्नि में पड़ने से जो सुख मिलता है उसे जो त्याग देता है वह इन्द्रियाग्नि-यज्ञ करता है। इन्द्रियाग्नि-यज्ञ करने से, अर्थात् इन्द्रियों में लिप्त रहना छोड़ देने से जो सुख मिलता है वह इन्द्रियों के विषयों से मिलनेवाले आनन्द की तरह क्षणिक न होकर चिरस्थायी होता है।

३. **आत्मसंयमाग्नि यज्ञ**—इन्द्रियाग्नि-यज्ञ में एक-एक इन्द्रिय का संयम है, आत्म-संयमाग्नि-यज्ञ में सब इन्द्रियों का एक-साथ संयम है। एक-एक इन्द्रिय के विषयों की अग्नि में उस-उस विषय का भस्मीकरण नहीं, सम्पूर्ण विषयों का आत्म-संयमाग्नि में भस्मीकरण आत्मसंयमाग्नि-यज्ञ है। जो सब विषयों पर जीत पा लेता है वह गीता के शब्दों में **आत्मरत, आत्मतृप्त, आत्मतुष्ट, आत्मानन्द** हो जाता है।

४. **द्रव्य यज्ञ**—जो व्यक्ति जितनी सम्पत्ति उत्पन्न करता है उसे समाज के लिए समर्पित कर देता है, उसे किसी बात की कमी नहीं रहती। मनुष्य को कितना धन चाहिए ? पानी में डूबने के लिए सात हाथ पानी काफ़ी है, उससे ज्यादा पानी डूबने के काम नहीं आता। जीवन के लिए जितना चाहिए उतना रखकर बाकी समाज को दे देना ही द्रव्य-यज्ञ कहलाता है।

५. **तपो यज्ञ**—जो शारीरिक भोग विलास को त्यागकर तपस्यामय जीवन बिताता है, तपस्या उसे फल जाती है, उसे कोई शारीरिक कष्ट नहीं होता। यह उसका तपोयज्ञ है।

६. **योग यज्ञ**—जो मानसिक भोग-विलास को त्यागकर यौगिक जीवन बिताता है, योग उसे फल जाता है, उसे कोई मानसिक कष्ट नहीं होता।

७. **ज्ञान यज्ञ**—ज्ञान के प्रकाश से जिसके भीतरी नेत्र खुल जाते हैं, जिसे संसार की अनित्यता का ज्ञान हो जाता है, अज्ञान उसके निकट नहीं आता, वह ज्ञान-यज्ञ करता है।

८. **प्राण यज्ञ**—जिसका जीवन यज्ञमय है, उसे प्राणों का मोह भी नहीं रहता। समाज, धर्म, देश के लिए वह प्राणों को निछावर कर देता है। ऐसा व्यक्ति प्राण-यज्ञ करता है। यह समझ लेना चाहिए कि गीता ने ब्रह्माग्नियज्ञ, इन्द्रियाग्नि-यज्ञ, आत्मसंयमाग्नि यज्ञ—इन तीन में अग्नि शब्द का प्रयोग किया। द्रव्य, तप, योग, ज्ञान तथा प्राण में अग्नि शब्द का प्रयोग नहीं किया। इसका कारण यह है कि गीता ने सिर्फ़ यह निर्देश दिया है कि यज्ञ कई प्रकार के हो सकते हैं, जिनमें से कुछ का निर्देश गीताकार ने दिया है, बाकी का चिन्तक के लिए छोड़ दिया है।

□

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्

यद्यपि समझा जाता है कि भारतीय दृष्टिकोण सर्वथा आत्मा की ही चर्चा करता है, शरीर की बिल्कुल पर्वाह नहीं करता, तथापि यह विचार भ्रमात्मक है। भारतीय दृष्टि से शरीर उतना ही मूल्यवान् है जितनी आत्मोन्नति। जो लोग सिर्फ़ आत्मा की बात करते हैं, शरीर की तरफ़ ध्यान नहीं देते, वे भारतीय विचारधारा से अपरिचित हैं। तपश्चर्या का यह अर्थ नहीं है कि शरीर को प्रत्येक प्रकार का कष्ट दिया जाये। शरीर तो आत्मोन्नति का साधन है। साधन स्वस्थ तथा सुन्दर नहीं होगा तो आत्मा सुन्दर तथा स्वस्थ कैसे होगा? तभी तो कहा गया है 'शरीरम् आद्यं खलु धर्म-साधनम्'—धर्म का पहला साधन तो शरीर ही है। शरीर की उन्नति कैसे की जाये—इस विषय की चर्चा करना आवश्यक है।

बाल्यावस्था तथा युवावस्था में तो अधिकांश व्यक्तियों को शारीरिक कष्ट वहुत कम होते हैं, परन्तु ज्यों-ज्यों वृद्धावस्था निकट आती जाती है त्यों-त्यों शरीर जराजीर्ण होने लगता है। जरावस्था के सिर पर आ चढ़ने से पहले मनुष्य को शारीरिक स्वास्थ्य के प्रति सजग हो जाना चाहिए। बुढ़ापा वह बीमारी है जो आकर जाती नहीं, जवानी वह वहार है जो जाकर फिर आती नहीं। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को युवावस्था में ही शरीर को ऐसा साध लेना चाहिए कि जव जवानी चली जाये तव इतने शारीरिक कष्ट न छोड़ जाये कि अन्त तक रोना-ही-रोना हाथ में रह जाये। हम यहाँ पर ऐसे कुछ कष्टों की चर्चा करेंगे जो आते-ही-आते हैं, परन्तु जिनका सामना वृद्धावस्था में नहीं किया जा सकता, युवावस्था में ही किया जा सकता है।

सबसे वड़ा कष्ट जो मैंने ९० फ़ीसदी स्त्री-पुरुषों में देखा है जोड़ों का कष्ट है। शंकराचार्य ने कहा है: 'अंगं गलितं पलितं मुंडं दशनविहीनं जातं तुंडं, वृद्धो याति गृहीत्वा दंडं तदपि न मुंचत्याशापिंडं'—वृद्ध व्यक्ति के अंग क्षीण हो जाते हैं, बाल सफेद हो जाते हैं, मुँह में दाँत नहीं रहते, टाँगों में दर्द रहने लगता है, दण्ड पकड़े बिना चला नहीं जाता, परन्तु जीवन की आशा बनी रहती है। जीते-जी अपने को लाश का-सा समझना, इससे ज्यादा कष्ट क्या हो सकता है! हमें युवावस्था में ही प्रयत्न करना चाहिए कि जव वृद्धावस्था आये, जिसका आना अवश्यंभावी है, तब हम कष्ट में जीवन न बितायें।

जैसा हमने अभी कहा, वृद्धावस्था का सबसे बड़ा कष्ट अंगों की पीड़ा है। घुटनों में दर्द रहने लगता है, अंगुलियों के जोड़ काम नहीं करते, पीठ में दर्द, गर्दन में दर्द, कन्धों में दर्द, हर जगह दर्द-ही-दर्द। ऐसी अवस्था में व्यक्ति हाय-हाय करता हुआ जीवन विताता है; कमर टेढ़ी हो जाती है, सीधा नहीं चल सकता। यह सब क्यों होता है? क्या इससे बचा नहीं जा सकता? कई लोग तो समझते हैं कि यह अवश्यंभावी है, परन्तु ऐसी बात नहीं है। आज मैं ८८ वर्ष का हो गया हूँ, परन्तु मेरे किसी अंग में दर्द नहीं है। इसका कारण यह नहीं है कि मैं कोई अपूर्व पुरुष हूँ। जब मैं ७० वर्ष का था तब मेरी अंगुलियों में और कन्धों में दर्द रहने लगा था। उस समय बम्बई के आर्थोपैडिक अस्पताल में मैं इलाज के लिए गया। मैंने देखा कि मुझसे बहुत छोटी आयु के व्यक्ति हाथों तथा कन्धों की पीड़ा का इलाज कराने वहाँ आये हुए थे। उन्हें सिर्फ़ एक काम कराया जाता था, और वह था प्रत्येक जोड़ का व्यायाम। मैंने दो-चार दिन देखा कि जोड़ों के व्यायाम के अतिरिक्त वहाँ कुछ नहीं कराया जाता था। मैंने सोचा, सिर्फ़ इस काम के लिए मुझे यहाँ आने की क्या जरूरत है? मैंने घर पर ही रहकर दोनों हाथों के प्रत्येक जोड़ को सौ-सौ बार हिलाना शुरू किया। मैं हर अंगुली को दूसरे हाथ की हथेली पर रखकर सौ-सौ बार गिनकर हिलाता था। हमारे हाथ में दस अंगुलियाँ हैं, और हर अंगुली में तीन जोड़ हैं। अगर दोनों हाथों के हर जोड़ को सौ बार आगे-पीछे किया जाये, तो तीस जोड़ों को ३०,००० तीस हजार बार हिलाना पड़ता है। कुछ ही महीनों में मेरे हर जोड़ में लचक आ गई और दर्द जाता रहा। इस प्रक्रिया में १५-२० मिनट लग जाते हैं।

जोड़ों में दर्द क्यों होता है—इस बात को समझ लेना चाहिए। जोड़ों का मुख्य कारण जोड़ों में यूरिक ऐसिड का जम जाना है। अन्य कारण भी हो सकते हैं, परन्तु मुख्य कारण यूरिक ऐसिड के कणों का इन जोड़ों में बैठ जाना है। जोड़ों को बार-बार हिलाने से, इनके व्यायाम से ये कण जमने नहीं पाते और जोड़ों में लचक बनी रहती है। लचक बनी रहेगी तो दर्द नहीं होगा। अंगुलियों के जोड़ों के विषय में हमने जो-कुछ कहा, वही कन्धों के जोड़ों के विषय में समझना चाहिए। कन्धों के एक-एक जोड़ को २५-३० बार आगे-पीछे गोलाई में घुमाना चाहिए जिससे कन्धों के जोड़ों में भी यूरिक ऐसिड का जमाव नहीं होने पाता। इस प्रक्रिया में १० मिनट लग जाते हैं।

लगभग २५-३० मिनट अंगुलियों तथा कन्धों का संचालन कर फिर मैं कमर का व्यायाम करता हूँ। सीधे खड़े होकर तथा दोनों हाथों को कमर के साथ सटाकर मैं कमर को १० बार दाईं तरफ़, १० बार बाईं तरफ़, १० बार आगे, १० बार पीछे, १० बार दाएँ तिरछे, १० बार बाएँ तिरछे, १० बार दाएँ गोलाई और १० बार बाएँ गोलाई में घुमाता हूँ। इस गोलाई के बाद मैं बाहें ऊपर कर पीठ

के बल झुककर १० बार हथेलियों से जमीन को छूता हूँ और कमर के बल जहाँ तक हो सकता है पीछे को झुकता हूँ जिससे रीढ़ की हड्डी लकड़ी की तरह पीठ की तरफ़ मुड़ती है। इस प्रक्रिया से मेरी कमर में कभी दर्द नहीं होता और सीधा चलता हूँ; आगे भी नहीं झुकता, पीछे भी नहीं झुकता; कमर पूर्णतया सँभली रहती है। इस प्रक्रिया में भी मुझे १० मिनट के लगभग लग जाते हैं। यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते मेरा पौन घण्टे के लगभग व्यायाम हो जाता है। यह सब-कुछ मैं गिनकर करता हूँ, इसीलिए कहता हूँ कि इतनी प्रक्रिया में आधा घण्टा लग जाता है।

इसके बाद मैं पहले से बिछाये गद्देनुमा आसन पर पीठ के बल लेट जाता हूँ। दोनों बाहों को पीछे करके, कानों के साथ सटाकर कमर के बल गोलाई में उठकर सिर को पैरों की अँगुलियों पर टेक देता हूँ। इस प्रकार ८-१० बार कमर के बल लेटे-लेटे गोलाई में उठना, लम्बायमान पैरों की अंगुलियों के ऊपर सिर टेकना और फिर लेट जाना—यह प्रक्रिया ८-१० बार करता हूँ। यह करके मैं लेटे-लेटे साथ जुड़ी टाँगों को पीठ के बल खड़ा कर लेता हूँ। दोनों टाँगों-सहित सारे शरीर का बोझ लेटे-लेटे पीठ पर उठाकर २०० की गिनती करते-करते टाँगों को ऊपर खड़ा रखता हूँ। यह प्रक्रिया शीर्षासन तो नहीं, परन्तु शरीर के सम्पूर्ण बोझ को रीढ़ के आधे हिस्से तक स्थापित कर देती है। गोलाई में सिर को पैरों तक लाना, फिर लौटाना, फिर २०० गिनती करते-करते टाँगों के साथ शरीर के बोझ को रीढ़ की हड्डी पर टिकाये रखना—यह प्रक्रिया १० मिनट तक करता हूँ। नाम इसका कुछ भी रखा जाय, परन्तु प्रक्रिया यह है।

इस प्रक्रिया के बाद मैं पवन-मुक्तासन करता हूँ। पवनमुक्तासन में टाँग को लेटे-लेटे घुटनों के बल दोनों हथेलियों से पकड़कर पेट के ऊपर ज़ोर से कसकर दबाया जाता है। इस प्रकार पहले दायें घुटने को, फिर बायें घुटने को, फिर दोनों को मिलाकर पेट के ऊपर ज़ोर से दबाने से जहाँ घुटनों का व्यायाम हो जाता है वहाँ पेट की वायु भी निकलती है। फिर पेट पर दबे हुए दोनों घुटनों को पेट के साथ ज़ोर से दबाकर आगे-पीछे, दायें-बायें झूले की तरह, पीछे से आगे झूलो, दायें से बायें और बायें से दायें झूलो। इस प्रक्रिया को दस बार करो। इससे सारे शरीर में लचक आयेगी और प्रत्येक जोड़ के मोड़ के कारण यूरिक ऐसिड कहीं नहीं रहेगा, न दर्द रहेगा। इसके बाद पेट के बल उल्टा लेट जाओ और दोनों हाथों से पैरों को पकड़ो और उल्टे कमान की तरह ८-१० मिनट लेटो, तदनन्तर ५-७ दंड लगाओ जिसे सूर्यासन कहते हैं। इस सारी प्रक्रिया में जो ऊपर से नीचे की तक बतलाई गई है एक घण्टा लग जाता है। सब जोड़ों का व्यायाम हो जाता है, कहीं यूरिक ऐसिड रहने की गुंजाइश नहीं रहती। जोड़ों में दर्द कभी-कभी जाँघों तथा टाँगों की हड्डियों के बढ़ने तथा उनकी आपसी रगड़ से भी हुआ करता है,

परन्तु उक्त व्यायाम लगातार करते रहने से सब ठीक हो जाता है।

कुछ व्यायाम खड़े-खड़े किये जाते हैं। उदाहरणार्थ, कमर के दोनों तरफ़ हथेली बाँधकर कमर से आगे झुको, जहाँ तक हो सके पीछे पीठ की तरफ़ झुको, दायें झुको, बायें झुको और कमर को पकड़े-पकड़े गोलाई में दाईं तरफ़ तथा बाईं तरफ़ दस चक्कर लगाओ। हो सके तो दोनों साइडों में भी दायें से बायीं तथा बायें से दायीं तरफ़ जितना झुक सको झुको। यह मैं रोज़ करता हूँ। इसी प्रकार गले को ५० बार दाईं तरफ़ तथा ५० बार बाईं तरफ़ गोलाई में घुमाता हूँ। दाईं तथा बाईं बाँह को १५ बार गोलाई में आगे से पीछे और पीछे से आगे की तरफ़ घुमाने से कन्धे का दर्द नहीं रहता। यह मेरी दैनिक प्रक्रिया है। मैं खड़ा-खड़ा कमर के पीछे की तरफ़ जहाँ तक झुक सकता हूँ झुकने का प्रयत्न करता हूँ ताकि एड़ियों को छुआ जा सके। इस स्थिति में मैं ७ मिनट खड़े रहने का यत्न करता हूँ। खड़े-खड़े ५ बैठक तथा लेटकर ५ दंड निकालता हूँ। मैंने बचपन में पं० सातवलेकर जी से न्योली क्रिया सीखी थी। पेट को २५-३० बार दायें से बायीं गोलाई में और २५-३० बार बायें से दाईं गोलाई में घुमाता हूँ। इसी प्रकार पेट की पेशी को ५० बार ऊपर-नीचे उठाने का प्रयत्न करता हूँ। जो व्यायाम मैं करता हूँ उनका उद्देश्य शरीर में जहाँ तक हो सके लचक को बनाये रखना है। जिस व्यायाम से भी लचक बनी रह सके वह करना उचित है, इससे शरीर युवासम बना रहता है। शरीर के विषय में मैंने जिन व्यायामों का वर्णन किया उन्हें मैं प्रतिदिन नियमानुसार प्रातःकाल ४ बजे उठकर ६ बजे तक—दो घण्टे नियमानुसार करता हूँ। ये सब व्यायाम कर प्रातः ६ बजे के बाद मैं बाहर बरामदे में बैठकर आध घण्टे प्राणायाम करता हूँ।

प्राणायाम में तीन चरण हैं—पूरक, कुम्भक तथा रेचक। इन तीन चरणों की शुरूआत भस्त्रा प्राणायाम से होती है। भस्त्रा का अर्थ है—धौंकनी। फेफड़े दूषित वायु से भरे रहते हैं जिनमें कार्बन डायोक्साइड शरीर में छनकर आती रहती है। भस्त्रा या धौंकनी की तरह श्वास को बाहर-भीतर करके फेफड़ों को साफ़ किया जाता है, ज़ोर-ज़ोर से अशुद्ध साँस को बाहर फेंका जाता है ताकि फेफड़े स्वच्छ होकर ऑक्सीजनयुक्त शुद्ध वायु श्वास द्वारा भीतर भरे। जब फेफड़े 'भस्त्रा' प्राणायाम से शुद्ध हो जाते हैं तब असली प्राणायाम शुरू होता है ताकि ऑक्सीजनयुक्त प्राणवायु का सम्पूर्ण शरीर में संचार हो। शुद्ध वायु को नासिका द्वारा फेफड़ों में भरने को 'पूरक' कहते हैं। इस शुद्ध वायु को फेफड़ों में कुछ काल तक रोके रखते हैं। इस रोके रखने को 'कुम्भक' कहते हैं। कुम्भक एक तरह का ऑक्सीजनयुक्त वायु का स्टोर-हाउस है। जब यह शुद्ध वायु फेफड़ों में संचरित हो जाती है तब उसकी जगह कार्बनयुक्त अशुद्ध वायु शुद्ध वायु का स्थान ले लेती है। इस अशुद्ध वायु को जिसमें कार्बन डायोक्साइड होता है बाहर निकाल फेंकना 'रेचक' कहलाता

है। इस प्रकार शरीर में से अशद्ध वायु को निकालना, उसकी जगह शुद्ध वायु को भरना, भरकर उसे अंग-अंग को पहुँचाना तथा उन अंगों से अशुद्ध वायु को खींच-कर बाहर फेंक देना—यह प्रक्रिया प्राणायाम कहलाती है जो भारतीय योगासन की ही देन है। यह सिर्फ़ डीप ब्रीदिंग ही नहीं है, यह आध्यात्मिक प्राण-विद्या है। इसका विस्तृत उल्लेख हमने हिन्दी ग्रन्थ **'बुढ़ापे से जवानी की ओर'** एवं अंग्रेज़ी के **'From Old Age to Youth through Yoga'** में किया है।

अध्यात्मवाद में स्वस्थ शरीर को आत्मा को स्वस्थ रखने में एक अनिवार्य साधन माना गया था, इसलिए स्वस्थ आत्मा के लिए स्वस्थ शरीर का होना आवश्यक था। योग में योगासनों का यही महत्त्व है। ऊपर हमने जो व्यायाम बतलाए हैं वे योगासन ही हैं। इन आसनों में तीन महत्त्वपूर्ण आसन हैं जो वृद्धा-वस्था के रोगों में बहुत लाभप्रद हैं–एक है **'पद्मासन'**, दूसरा है–**'सिद्ध पद्मासन'** तीसरा है–**'योगमुद्रासन'**।

पद्मासन में चौकड़ी मारकर बैठा जाता है। दाईं टाँग बाईं जाँघ पर और उसके ऊपर बाईं टाँग दाईं जाँघ पर सटाकर बैठते हैं जिससे घुटने अन्दर को मुड़ते हैं और घुटनों में जमा यूरिक ऐसिड निकल जाता है। लगातार पद्मासन में आध घण्टा बैठने से आर्थराइटिस में—घुटने के दर्दों में—लाभ होता है। पहले तो दर्द को सहना पड़ता है, पर धीरे-धीरे यह दर्द कम होता जाता है और अन्त में लुप्त हो जाता है। इसी तरह सिद्धपद्मासन में बायें पाँव की एड़ी को अंडकोशों के नीचे के सीवन-प्रदेश से सटाकर बैठते हैं, फिर दायें पैर की एड़ी को मूलेन्द्रिय के मूल से सटाकर बैठते हैं जिससे प्रोस्टेट ग्लैण्ड पर दबाव पड़ता है। प्रोस्टेट को नियमित रखने में यह अत्युत्तम आसन है। तीसरा आसन है—योगमुद्रासन। इस आसन में पहले पद्मासन लगाकर बैठते हैं, फिर दोनों हाथों की हथेलियों को पीछे जोड़ लेते हैं, और रीढ़ तथा पीठ को आगे झुकाकर ज़मीन से नासिका का अग्र-भाग छूते हैं। इस आसन से शरीर की सब कशेरुकाओं तथा गर्दन का व्यायाम हो जाता है और गर्दन, कमर तथा रीढ़ की बीमारियाँ नहीं होतीं। इन तीनों आसनों को करने में मुझे १५-२० मिनट लग जाते हैं।

इन शारीरिक व्यायामों के बाद मैं आँखों का व्यायाम करता हूँ। आँख को बाँधनेवाले ८ तंतु हैं जो इसे दायें-बायें, ऊपर-नीचे, दोनों तिरछे दाईं साइड तथा दोनों तिरछे बाईं साइड कसे हुए हैं। आँखों को नीचे-ऊपर करना, दायें-बायें करना, दोनों साइड खींचना और दाईं गोलाई से बायीं गोलाई तथा बायीं गोलाई से दायीं गोलाई घुमाना—यह आँखों का व्यायाम है। इससे आँखों का बल बढ़ता है। आँख की ज्योति बनाये रखने के लिए मैं सोते समय और जागने पर सिने-टेरिया मेरीटीम्बा सक्कस की दो-दो बूंद दोनों आँखों में डालता हूँ। यह आँख की ज्योति बनाये रखने की होम्योपैथिक ओषधि है। यह एक बूटी का तरल पदार्थ है।

इतना सब-कुछ करने के बाद मैं अन्त में प्राणायाम करता हूँ। प्राणायाम के विषय में मैं पहले लिख आया हूँ। या तो योगासन या व्यायाम करने से पहले या बाद में इसे किया जा सकता है। मैं प्रायः सम्पूर्ण व्यायाम समाप्त करने के बाद प्राणायाम करता हूँ। स्वस्थ तथा दीर्घ जीवन के लिए हमारे पूर्वजों की यह वैज्ञानिक विधि थी।

वृद्धावस्था के जिन कष्टों का हमने ऊपर जिक्र किया—आर्थराइटिस, जोड़ों का दर्द, कमर का दर्द, प्रोस्टेट ग्लैंड, प्राण-कष्ट आदि—उनके अतिरिक्त कब्ज़ का कष्ट भी एक महान् कष्ट है। प्रायः वृद्ध व्यक्तियों को कब्ज़ रहा करता है। कब्ज़ का मुख्य कारण आँतों का शिथिल हो जाना है। आँतों में एक गति होती है जिसे पैरीस्टैलटिक मूवमेंट कहते हैं। जैसे गिंडोया अग्रभाग को आगे करके आगे बढ़ जाता है, फिर पीछे के भाग को खैंच लेता है, इस प्रकार आगे-ही-आगे बढ़ता जाता है, इसी प्रकार आँतों की पैरीस्टैलटिक मूवमेंट मल को आगे-आगे धकेलती रहती है जिससे मल बाहर निकल जाता है। वृद्धावस्था में सारा शरीर ही शिथिल हो जाता है तो यह गति भी शिथिल हो जाती है, मल आगे नहीं बढ़ता, इसी को कब्ज़ कहते हैं। इसका इलाज है पेट की न्योली-क्रिया। पेट को ऊपर-नीचे उठायें, दायें-बायें फेरें और दायें-बायें घुमायें, इस प्रकार प्रतिदिन ४०-५० बार करें जिससे आँतों में शिथिलता न आये। इसके अतिरिक्त चलते-फिरते, उठते-बैठते गुदा का संकोचन करने की विधि सीखें, जैसे—पशु जब मल-विसर्जन करते हैं तब गुदा का संकोचन करते हैं—यह विधि सीखने से गुदा की पैरीस्टैलटिक मूवमेंट बनी रहती है। यह तो व्यायाम की बात हुई। इसके अतिरिक्त सोने से पहले दो चम्मच ईसबगोल तथा आध चम्मच त्रिफला दूध या पानी के साथ लेने से भी पेट साफ़ हो जाता है।

मैं जो व्यायाम प्रतिदिन नियमपूर्वक करता हूँ उनका विवरण मैंने यहाँ दिया है। जो चाहे इसमें परिवर्तन कर सकता है। मेरा कथन निर्देशमात्र है, ठीक इसी तरह किया जाये—इसपर कोई आग्रह नहीं है।

जहाँ तक स्वस्थ जीवन के लिए भोजन का सम्बन्ध है, मैं यहाँ उल्लेख कर देना चाहता हूँ कि मैं पिछले ५-६ साल से प्रतिदिन २५ बादाम रगड़कर लेता हूँ। मेरी विधि यह है कि प्रातःकाल एक कप पानी में २५ बादामों की गिरियाँ गिनकर डाल देता हूँ। अगले दिन व्यायाम तथा प्राणायाम के अनन्तर उनका छिलका उतार देता हूँ। पत्थर की कूंडी में १०-१५ काली मिर्च तथा एक चन्द्रप्रभा वटी डालकर खूब कूटता हूँ, बिल्कुल बारीक बना देता हूँ, लेई के समान। एक कटोरी उसमें पानी डाल देता हूँ। शहद मिले तो शहद, नहीं तो मीठा डालकर उसे पानी से भर लेता हूँ। फिर एक-एक चम्मच करके इन २५ बादामों को पी जाता हूँ। ऐसा किये हुए आज ५ साल हो गये, न तो मेरी भूख में कुछ फर्क पड़ा

न इस प्रकार २५ बादाम खाने से कुछ नुक्सान हुआ, लाभ हुआ हो तो हुआ ही होगा क्योंकि ८८ वर्ष में चलते हुए भी मैं सर्वथा स्वस्थ हूँ। इतना-कुछ इसलिए लिख दिया ताकि अगर मेरे अनुभव से किसी को लाभ पहुँच सके तो पहुँचे।

इस प्रकरण में जो-कुछ लिखा गया वह विस्तार से अपनी हिन्दी की पुस्तक 'बुढ़ापे से जवानी की ओर' में लिखा है। जो इस विषय में विशेष रुचि रखते हों वे इस ग्रंथ को पढ़ें।

वृद्धावस्था में नींद बहुत कम हो जाती है। मुझे तो पहले से ही नींद कम होने की शिकायत है। अब उसमें और कमी आ गई है। इससे मैं चिंतित रहता हूँ। कभी-कभी तो सारी रात उनींदी निकल जाती है। होम्योपैथी में नींद की कोई दवा नहीं। ऐलोपैथी में वेलियम ५ या कामपोज़ है। मैं कभी-कभी तंग आकर वेलियम ५ ले लेता हूँ। डॉक्टर कहते हैं कि ये ट्रैंक्विलाइज़र्स है—इनसे हानि नहीं होती, आदत नहीं पड़ती, परन्तु मैं इन्हें लेता भी हूँ, लेने से डरता भी हूँ। मैं ऐसे लोगों को जानता हूँ जो इसपर ही निर्भर हैं। कई लोग तो प्रतिदिन इन्हें लिया करते हैं, परन्तु औषधि के आधार पर ही रहनेवाली ज़िन्दगी भी क्या ज़िन्दगी है! सोचता हूँ ८८ वर्ष जी लिये, जो-कुछ करना था कर लिया, अब जीने का क्या अर्थ है! परन्तु मौत बुलाये से नहीं आती, टोह में बैठी रहती है, जब आना हो तभी आती है। अधिकांश लोग ७० वर्ष में चल देते हैं, इधर हम हैं कि ८८ वर्ष हो जाने पर भी इन्तज़ार में ही बैठे हैं!

□

ब्रह्मचर्येण तपसा देवाः मृत्युमपाघ्नत

'ब्रह्मचर्य' शब्द तथा ब्रह्मचर्य का विचार भारत का ही आविष्कार है। अन्य देशोंवाले ब्रह्मचर्य के विषय में जो विचारधारा सुनते हैं उसे सुनकर प्रायः वे नाक-भौं चढ़ाते हैं। पहले तो वीर्य-रक्षा की तरफ उनका ध्यान ही नहीं जाता, अगर कोई दिलाए तो वे इसे व्यर्थ ही नहीं, हानिकारक भी समझते हैं। डॉक्टर लोग तक बच्चों को कभी-कभी हस्त-मैथुन करने की सलाह देते हैं। उनका कहना है कि इससे टेन्शन कम हो जाता है और दिमाग़ हल्का हो जाता है। एक लड़का मुझे मिला जो कहता था कि इम्तिहान के दिनों में दिमाग़ में जो तनाव चढ़ जाता है, उसके डॉक्टर ने उसे सलाह दी कि हस्त-मैथुन से वह तनाव हट जाएगा। मैंने उससे पूछा कि क्या ऐसा करने से तनाव हटा? उसने कहा कि शुरू में तो हटा परन्तु उसके दिमाग़ में पहले से दुगुना तनाव हो गया।

'ब्रह्मचर्य' के अर्थ को समझने के लिए 'वीर्य' को समझना आवश्यक है। 'वीर्य' शरीर का अन्यतम रस है। 'वीर्य' का शरीर में कहीं भंडार नहीं भरा पड़ा। 'वीर्य' के सम्बन्ध में अष्टांग-हृदय के शारीर-स्थान तृतीय अध्याय के छठे श्लोक में लिखा है: 'रसात् रक्तं, ततः मांसं, मांसात् मेदः, ततः अस्थि, अस्थ्नो मज्जा, ततः शुक्रम्'—अर्थात् भोजन किये हुए पदार्थ से पहले-पहल जो जीवन-तत्त्व बनता है उसे रस कहते हैं। उदाहरणार्थ, भोजन को मुख में चबाने से सैलाइवा निकलता है, उसके पेट में जाने से गैस्ट्रिक जूस निकलता है—कहीं 'अम्ल' कहीं 'क्षार' आदि रस भोजन के पेट में जाने से निकलते रहते हैं जिन रसों के योग से रक्त बनता है, इस रक्त से मांस, मेद, अस्थि, मज्जा आदि बनते हैं जिनका सार-तत्त्व 'वीर्य' कहाता है। शारीर-शास्त्र की दृष्टि से यह पूरी प्रक्रिया इसी तरह होती हो या न होती हो, इसमें सन्देह नहीं कि जो हम खाते-पीते हैं उस सबका अन्तिम सत् 'वीर्य' बनता है। पाश्चात्य विद्वानों के मत में एक औंस वीर्य में उतनी शक्ति होती है जितनी ४० औंस रुधिर में होती है। वीर्य का निर्माण किसी भी तरह क्यों न हो, चाहे सीधा रुधिर से हो, चाहे रस, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्र—इन सब क्रमों से हो, इस बात में पाश्चात्य चिकित्सक तथा आयुर्वेद-चिकित्सक सब सहमत हैं कि वीर्य में वह शक्ति है जो मानव को शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक बल प्रदान करती है। यह सबका निजी अनुभव है कि वीर्य-क्षय के बाद

जीव आराम चाहता है, सोना चाहता है जिसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि वह क्षीण हुई शक्ति का पुनरागमन चाहता है। जो शक्ति नष्ट होकर पुनरागमन चाहे उसका क्षय ही क्यों किया जाय ?

वीर्य का शरीर में खप जाना बलवर्धक है, इसके विषय में डॉ० कोवन आदि कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने एक और युक्ति भी दी है। उनका कहना है कि वीर्य-क्षय से कमजोरी आती है—यह तो मूर्ख-से-मूर्ख व्यक्ति भी अपने अनुभव से जानता है, और अनुभव से यह भी जानता है कि वीर्य द्वारा ही एक नवजीवन का निर्माण भी होता है; जो तत्त्व इतना शक्तिशाली है कि उससे एक नया जीवन उत्पन्न हो सकता है, वह अगर अपने भीतर ही खप जाय, नष्ट न हो, तो वह मनुष्य को कितना शक्तिशाली बना सकता है! वीर्य शक्ति का पुंज है। जब उससे नवीन शक्ति उत्पन्न हो सकती है, तब उसके अपने भीतर ही खपने से शक्ति का प्रादुर्भाव क्यों नहीं होगा ? यह बात समझाने की नहीं, स्वयं ही समझ आ जाने की है। इसीलिए शास्त्रों में ब्रह्मचर्य के लिए तीन अवस्थाएँ निश्चित की गई थीं। जो २४-२५ वर्ष तक अपने ऊपर संयम रख सकते थे उन्हें 'वसु' ब्रह्मचारी कहा जाता था; जो अपने ऊपर ३६ वर्ष तक संयम रख सकते थे उन्हें 'रुद्र' ब्रह्मचारी कहा जाता था; जो अपने ऊपर ४८ वर्ष तक संयम रख सकते थे उन्हें 'आदित्य' ब्रह्मचारी कहा जाता था।

हमारे शास्त्रों के अनुसार, 'ब्रह्मचर्य' का यह अर्थ नहीं था कि जीवन-भर गृहस्थ का त्याग किया जाय। समझा यह जाता था कि बच्चों के बच्चों और युवाओं के बच्चों में भेद होता है। संसार में किसी भी समाज में विवाह-सम्बन्धी ये तीन श्रेणियाँ नहीं पायी जातीं। केवल भारत के समाज-शास्त्रियों ने विवाहेच्छु व्यक्तियों को इन तीन श्रेणियों में बाँटा था। प्रत्येक श्रेणी की विवाह की आयु की सीमा निर्धारित कर दी गई थी। इस सीमा-निर्धारण के दो लाभ थे। २४-२५ वर्ष से पहले विवाह न करने का नियम था। पूर्ण यौवन में उत्पन्न सन्तान का स्वस्थ होना स्वाभाविक था, इसलिए वैदिक व्यवस्था में स्वस्थ तथा सुडौल सन्तान उत्पन्न करने के लिए यह नियम बना दिया गया था कि इस आयु से पूर्व कोई विवाह न करे। वैदिक व्यवस्था में 'वसु'-ब्रह्मचर्य की व्यवस्था का होना स्वयं सिद्ध करता है कि बाल-विवाह की प्रथा किसी कारणवश पीछे पड़ी, अन्यथा 'वसु-ब्रह्मचर्य' तथा 'बाल-विवाह'—ये दोनों परस्पर-विरोधी प्रथाएँ एक-साथ कैसे चल सकती थीं! एक तरफ कहना कि २४-२५ वर्ष की आयु से पहले विवाह नहीं हो सकता, दूसरी तरफ यह कहना कि बचपन में विवाह हो सकता है—ये दोनों बातें एक-दूसरे को काट देती हैं। वैदिक काल में जीवन ब्रह्मचर्य से तो प्रारम्भ ही होता था, और प्रारंभिक ब्रह्मचर्य की अवधि का नाम 'वसु'-ब्रह्मचर्य था जो २४-२५ वर्ष की आयु का निश्चित किया गया था। विवाह की आयु का

निर्धारण २४, ३६, ४८ निश्चित करने का दूसरा लाभ यह था कि जनसंख्या नियन्त्रित रहती थी। जितनी देर में विवाह होगा उतनी ही कम सन्तान होगी; जितनी जल्दी विवाह होगा उतनी ही उनकी संख्या बढ़ने की सम्भावना होगी। वैदिक आर्यों के जीवन का लक्ष्य 'आदित्य' ब्रह्मचारी बनना था जिससे उसकी उत्पादन-सीमा संकुचित हो जाय। आज जनसंख्या को सीमित करने के लिए ऐसे उपाय किये जा रहे हैं जिससे मनुष्य की कामुकता बढ़े। यह समझा जाता है कि कामुकता पर तो कोई प्रतिबन्ध नहीं हो सकता, मनुष्य को कामुकता के लिए खुली छूट दी जाय, परन्तु उसकी उत्पादक शक्ति को रोक दिया जाय। प्रश्न यह है कि कामुक जीवन विताने की इस प्रकार छूट देना कहाँ तक उचित है? पाश्चात्य विचारक सिगमंड फ्रायड का नाम लेकर कहते हैं कि कामुकता का तो कोई इलाज ही नहीं है, वह तो है ही और रहेगी भी, सिर्फ जनसंख्या को सीमा में बनाये रखना ही समाज कर सकता है, वैयक्तिक जीवन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लग सकता। फ्रॉयड क्या कहता है?

फ्रॉयड का कहना है कि काम-वासना मनुष्य की स्वाभाविक मनोवृत्ति है। स्वाभाविक प्रवृत्ति को दवाना नहीं चाहिए। ब्रह्मचर्य का अर्थ काम-प्रवृत्ति को स्वच्छन्द प्रवाहित होने के स्थान में दवा देना है। काम-प्रवृत्ति को दबाने से वह दवती नहीं, अन्तर्मुखी हो जाती है और मन में तरह-तरह के विकार उत्पन्न करती है। नाली में पानी बह रहा है। हम उसके आगे पत्थर की रोक लगा देते हैं, वह वाढ़ बनकर पत्थर को भी बहा ले-जाती है। डेगची आग पर चढ़ी हुई है। उसमें भाप उठ रही है। अगर उसपर ढक्कन रखा तो वह ढक्कन को उतार फेंकेगी। फ्रॉयड का कहना कुछ हद तक ठीक है, परन्तु क्या इसका यह मतलब है कि भाप को इतना उठने दिया जाय कि डेगची को उठाकर परे फेंक दे? अगर यह फ़िलासफ़ी मान ली जाय, तो समाज में कोई व्यवस्था नहीं रह सकती। समाज संयम से, अपने ऊपर नियन्त्रण से ही टिका हुआ है। अगर जिसका जी चाहे जिस किसी की जो चीज़ चाहे लूट ले, जिस किसी की बहू-वेटी पर जी आये उसे ले भागे तो समाज कहाँ रहेगा? हाँ, इतना अवश्य है कि स्वाभाविक मनोवृत्तियों को अपना आवेग पूरा करने के लिए अवसर चाहिए, अन्यथा वही-कुछ होगा जो फ्रॉयड कहता है। काम-वासना है, तो गृहस्थाश्रम का प्रावधान भी है; वस्तुओं का संग्रह करने की लालसा है, तो धन कमाने के लिए व्यापार द्वारा धन कमाने की गुंजाइश भी है। इसके अतिरिक्त यह भी सोचने की बात है कि इन वृत्तियों या कामनाओं को कहाँ तक स्वतन्त्रता दी जा सकती है? हमारे समाज की रचना ऐसी वन गई है जिसमें इन वृत्तियों को भड़कावा मिलता है। हमने परिस्थितियाँ ही ऐसी कर दी हैं कि पड़े-पड़े काम-वृत्ति जाग उठती है। सिनेमा में बैठे हम क्या देखते हैं? लड़का लड़की के पीछे भाग रहा है। कभी-कभी उन्हें चूमा-चाटी करते

हुए दिखलाया जाता है। अधिकतः सिनेमा काम-वृत्ति को जगाते हैं। जब कभी सिनेमा के बाहर लिखा जाता है—'केवल युवाओं के लिए'—तब बच्चे उसे ज़रूर देखते हैं। हमने सारा वातावरण दूषित कर रखा है। काम-वृत्ति कोई ऐसा मर्ज़ नहीं जिसके सब युवक-युवतियाँ जन्म से ही शिकार हैं। यह मर्ज़ हमारा समाज उत्पन्न करता है, और फिर फ्रॉयड के अनुयायी कहने लगते हैं कि यह तो प्रवाह है, इसे रोकेंगे तो बाँध टूट जायेगा। मर्ज़ खुद पैदा करके कहने लगना कि यह लाइलाज है, मानव की आध्यात्मिकता का संहार करना है। हमें सामाजिक परिस्थितियाँ बदलनी होंगी, तब कोई समस्या नहीं रहेगी। इस प्रकार के ब्रह्मचर्य से ही मृत्यु का सामना किया जा सकता है।

आज घर-घर में क्या हो रहा है? सायंकाल के ७ बजते हैं...कोई आकर मकान की घंटी बजाता है...बच्चे भागकर जाते हैं...पूछते हैं—क्या बात है? कहते हैं वीडियो वाला पिक्चर लेकर आया है। वीडियो-शॉप जगह-जगह खुले हुए हैं। बच्चों को पढ़ने-लिखने से कोई वास्ता नहीं, वीडियो देखेंगे या कॉमिक पढ़ेंगे। सिनेमा तो अपने निश्चित समय में होता है, घर-घर लगा वीडियो २४ घंटे चलता है। जब चाहो पिक्चर लगा लो। गन्दी-गन्दी सिनेमा की पिक्चरें यूरोप से इम्पोर्ट होती हैं; घर-घर गन्दगी फैल रही है। ऐसी परिस्थिति में यदि संयमहीनता का सर्वत्र राज्य हो, तो आश्चर्य ही क्या है! परिस्थितियों से कामुकता उत्पन्न की जा रही है। बच्चे पढ़ते नहीं, इन्हीं खुराफ़ातों में लगे रहते हैं। इम्तिहान की तैयारी करने के स्थान में प्रश्न-पत्र चुरा लेने की होशियारी करते हैं। जब सिनेमा की तस्वीरें ही देखते रहे, तब इम्तिहान में बैठकर क्या करेंगे? आये-दिन यह सुना जाता है कि इस स्कूल के प्रश्न-पत्र आउट हो गये, उस स्कूल के प्रश्न-पत्र आउट हो गये। पिछले साल उतरप्रदेश की एक यूनीवर्सिटी के एम०बी०बी०एस० के प्रश्न-पत्र दो बार आउट हुए। यह क्या सब स्वाभाविक है या हमने सामाजिक परिस्थिति ही शोचनीय बना दी है? क्या समाज का कर्त्तव्य नहीं कि इस वातावरण को बदले और ऐसी शिक्षा का प्रसारण हो जिससे बच्चे संयम से रहना सीख लें? अगर आज हमें संयमहीनता दिखलाई देती है तो उसका कारण मनुष्य का संयमहीन स्वभाव उतना नहीं, जितना हमारा सच्चरित्र की शिक्षा देने की तरफ ध्यान न देना है। आवश्यकता इस बात की है कि फ्रॉयड का नाम भुलाकर बच्चों को संयम की और ब्रह्मचर्य की शिक्षा दी जाय।

'ब्रह्मचर्य' का अर्थ सिर्फ़ वीर्य-रक्षा ही नहीं है, 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ जीवन को संयम में रखना है—संयम में, अर्थात् सीमाओं में। फ्रॉयड या दूसरे मनोवैज्ञानिक भी नहीं कहते कि हर क्षेत्र में जो इच्छा जागे उसे पूरा करो, अन्यथा मानसिक-विकार उत्पन्न होने की सम्भावना रहेगी। मानसिक विकार तो होते ही हैं; संयम रखो या न रखो, वे तो रहेंगे-ही-रहेंगे। प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य को इन मान-

सिक विकारों के क्षेत्र में खुला छोड़ दिया जाय या उसपर नकेल लगाई जाय ? वह कौन-सा मार्ग अपनाया जाय जिससे मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का सन्तोष भी हो जाय, परन्तु साथ ही न तो वह स्वयं, न समाज इन स्वाभाविक वृत्तियों का शिकार बने। इसी मार्ग को 'ब्रह्मचर्य' कहते हैं।

'ब्रह्मचर्य' एक बड़ा व्यापक शब्द है। यह शब्द दो शब्दों का जोड़ है— 'ब्रह्म' तथा 'चर्य'। 'ब्रह्म' का अर्थ है महान्, 'ब्रह्म' का अर्थ भगवान् भी है, 'चर्य' का अर्थ है—चलना, गति। जीवन का वह मार्ग जो महानता की तरफ़, भगवान् की प्राप्ति की तरफ़ ले-जाय, 'ब्रह्मचर्य' कहलाता है। हमने अपने तथा समाज के जीवन को भगवत्प्राप्ति के मार्ग पर चलाते हुए महान् बनाना है, महान् बनाने का यह रास्ता जीवन को संयम में, नियन्त्रण में रखने से होता है—यह निगूढ़ार्थ है 'ब्रह्मचर्य' शब्द का। मनुष्य जिस क्षेत्र में भी हो, अपने को महान् बनाने का यत्न करे। मनुष्य शरीर, मन तथा आत्मा का त्रिक् है। उसे शरीर को सब तरह से हृष्ट-पुष्ट बनाना है। ऐसा भोजन करना है जो शरीर के लिए हितकारी हो। भोजन के लिए शास्त्रों में कहा है—ऐसा भोजन करो जो 'हित' 'मित' तथा 'पित' की श्रेणी में आवे। हित का अर्थ है—'हितकारी'। हम चाय, कॉफ़ी, चाट, मिठाई आदि के आदी हो गये हैं—मांस-मदिरा के शौकीन; नियमित आहार-व्यवहार पर ध्यान नहीं देते। भोजन हितकारी न होने के साथ-साथ हमारा खान-पान 'परिमित' भी नहीं होता। भूख से ज्यादा खा जाते हैं। स्वास्थ्य के लिए उपयोगी पदार्थ के स्थान में रसना के दास हैं। भोजन के लिए तीसरा नियम है भोजन का सुपच होना जिसे 'पित' कहा गया है, 'पित' अर्थात् 'सुपच'। दुष्पच भोजन स्वादिष्ट होने के कारण खाया जाता है। इस दृष्टि से शारीरिक दृष्टि से 'हित'-'मित'-'पित' भोजन करना 'ब्रह्मचर्य' का ही एक अंग है। 'शरीर' के स्वास्थ्य के विषय में हम एक पृथक् अध्याय में, 'शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्' में चर्चा कर आये हैं। मनुष्य के 'त्रिक्' में दूसरा स्थान 'मन' का है। आज के मानव का मन अत्यन्त मलीन है। काम-क्रोध-लोभ-मोह जितने भी मन के शत्रु हैं उनसे ग्रसित हो प्रायः प्रत्येक व्यक्ति टैंशन का शिकार है। टैंशन किस बात का ? चोरी की है, तो पकड़े जाने का टैंशन है; किसी लड़की को छेड़ा है तो रिश्तेदारों से पिटाई का टैंशन है; कोई बुरा काम किया है तो पकड़े जाने का टैंशन है। जो लोग सीधा जीवन व्यतीत करते हैं, कहीं लाग-लपेट नहीं, कपट-छल नहीं, उनका जीवन सरस चलता है, उनके जीवन में कोई टैंशन नहीं होता। टैंशन के लिए किसी प्रकार का कपट मन में होना चाहिए। जैसे शरीर में भिन्न-भिन्न बीमारियाँ होती हैं, वैसे मन की बीमारी का नाम 'टैंशन' है, उसकी कोई भी शक्ल हो सकती है। जिस 'मानव-त्रिक्' का हमने उल्लेख किया उस ज़िक्र में तीसरा स्थान 'आत्मा' का है। आत्मोन्नति अथवा आत्म-ज्ञान का क्या अर्थ है?—वैदिक

अध्यात्मवाद का मूल सिद्धान्त यह है कि शरीर अलग है, आत्मा अलग। हमारा जीवन इस प्रकार चल रहा है, मानो शरीर ही आत्मा है। मानव के लिए सबसे बड़ा ज्ञान यह है कि वह समझ ही न ले, अपितु अनुभव कर ले कि शरीर अलग है आत्मा अलग है, ये दोनों अलग ही नहीं, यह भी अनुभव करे कि शरीर आत्मा का साधन है, आत्मा शरीर का साध्य है, शरीर आत्मा के लिए है, आत्मा शरीर के लिए नहीं। जो इस तथ्य को अनुभव कर लेता है वह मौका आने पर जान पर भी हँसी-हँसी खेल जाता है। देश पर मरनेवालों के ज्ञान-चक्षु खुल चुके होते हैं। वे अनुभव में पा चुके होते हैं कि शरीर नष्ट हो सकता है, आत्मा नष्ट नहीं होता; शरीर मरणधर्मा है, आत्मा अमर है। ऐसे लोग ही कष्ट भोग रहे मानव के जख्मों की स्वयं कष्ट भोगकर मरहम-पट्टी करते हैं, ऐसे लोग ही कराहती मानवता का चीत्कार सुनकर उसके रक्षण के लिए बलिदान हो जाते हैं, ऐसे लोगों को ही लोग अवतार कहकर पूजा करते हैं।

इस प्रकार शरीर, मन तथा आत्मा का विकास यथार्थ अर्थों में 'ब्रह्मचर्य' है। भारतीय मनीषियों ने 'ब्रह्मचर्य' शब्द का प्रयोग सिर्फ वैय्यक्तिक वीर्य-रक्षा के लिए नहीं किया था, इस शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थों में किया था जिसका संक्षिप्त वर्णन हमने इस छोटे-से लेख में किया है।

□

ज़िन्दगी के बिखरे फूल

(जीवन की कुछ मीठी-कड़वी यादें)

मैं अब ८८वें वर्ष में प्रवेश कर चुका हूँ। मैंने अब तक तीसियों ग्रन्थ लिखे हैं। प्रत्येक विषय पर लिखा है। शिक्षा, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, सामाजिक विचार, उपनिषद्, संस्कार, वैदिक विचारधारा, गीता, होम्योपैथी–जो विषय सामने आया सबपर विशाल ग्रन्थ लिखे; प्रत्येक ग्रन्थ अपने विषय का प्रामाणिक ग्रन्थ माना गया; हिन्दी में लिखे, अंग्रेजी में लिखे, मोरारजी भाई ने मेरे ग्रन्थों को देखकर कहा कि आपने तो एक पुस्तकालय लिख डाला। मैं एक ग्रंथ समाप्त करता था तो दूसरे के लिखने की प्रेरणा उठ खड़ी होती थी, परन्तु अब ८८वें वर्ष में जब मैंने यह ग्रन्थ लिखना शुरू किया तब हृदय ने कहा कि अब बस करो, यह तुम्हारा अन्तिम ग्रन्थ होना चाहिए, कहीं तो गाड़ी को रोको। यह विचार आते ही यह विचार भी उठा कि इस पुस्तक के प्रारम्भ में अपने जीवन की कथा भी लिख रखो ताकि तुम्हारे वंशजों को कभी-कभी तुम्हारी याद आती रहे, और अगर वे तुम्हारी पुस्तकें न भी पढ़ें तो तुम्हारी जीवन-कहानी तो पढ़ें। इस जीवन-कहानी के पढ़ने के साथ-साथ इस पुस्तक में जो तुम्हारे विचार लेख-बद्ध हुए हैं शायद उन्हें भी पढ़ने में उनकी रुचि उत्पन्न हो जाये।

मेरा जन्म ५ मार्च १८९८ में लुधियानान्तर्गत सबद्दी ग्राम में हुआ। मेरे पिता का नाम पण्डित बालकराम था, माता का ईश्वरीदेवी था। हम कुल ५ भाई तथा ३ बहनें थीं। सबसे बड़े का नाम धर्मदत्त था, उनसे दो वर्ष छोटा मैं, मुझसे २ वर्ष छोटा सोमदत्त, उससे २ वर्ष छोटा देवदत्त था। देवदत्त के बाद बहिन सावित्री-देवी, उससे छोटी शान्तिदेवी, उससे छोटी कौशल्यादेवी, और सबसे छोटा ब्रह्मदत्त था। इनमें से धर्मदत्त, देवदत्त, सावित्रीदेवी और ब्रह्मदत्त का देहान्त हो चुका है; मैं, सोमदत्त, शान्तिदेवी तथा कौशल्यादेवी जीवित हैं। हम लोग जाति की दृष्टि से सारस्वत ब्राह्मण कहे जाते हैं। धर्मदत्त और सोमदत्त अपने को शर्मा लिखते रहे, देवदत्त तथा ब्रह्मदत्त अपने को लखनपाल लिखते रहे, मैं अपने को गुरुकुल विश्वविद्यालय की डिग्री के कारण सिद्धान्तालंकार लिखता हूँ और लिखता रहा। आर्यसमाज के विचारों के कारण मैंने जन्मना ब्राह्मण होने का कोई चिह्न अपने नाम के साथ नहीं लगाया।

१. विद्यालय में मेरा जीवन

जिस युग में मैं उत्पन्न हुआ वह आर्यसमाज की विचारधारा के शिखर का युग था। मेरे पिता कट्टर आर्यसमाजी थे। उन्हीं दिनों गुरुकुल की चर्चा देश-भर में थी। उन दिनों के बचपन के जीवन का मुझे कुछ भी स्मरण नहीं है। मुझे कब गुरुकुल में लाया गया, किस प्रकार भर्ती किया गया, किस प्रकार मेरे माता-पिता मुझे गुरुकुल में छोड़कर चले गये—आज किसी बात का स्मरण नहीं है। गुरुकुल के पुराने रिकॉर्डों को देखने से मुझे पता चला कि जब मैं गुरुकुल काँगड़ी में भर्ती कर दिया गया उस समय मेरी आयु ७ वर्ष की थी। उस रिकॉर्ड को ही देखकर मुझे पता चला कि मेरी जन्मतिथि ५ मार्च, १८९८ है।

प्रथम कक्षा से दशम कक्षा, अर्थात् १७ वर्ष की आयु तक की कुछ-कुछ झलकें याद आती हैं। हमारी दिनचर्या बड़ी नियमित तथा साधनामय थी। पीली धोती की गाती लगाकर पहनना, सर्दी-गर्मी में नंगे पाँव रहना, सिर के बाल कंघी से न बनाना, ८ बजे 'यज्जाग्रतो' आदि मन्त्र गाकर सो जाना, प्रातः ४ बजे उठना, प्रार्थना करना, जंगल में शौच जाना, लौटकर व्यायाम करना, गंगा के ठण्डे पानी से स्नान करना, सम्मिलित सन्ध्या-हवन करना, अपने कमरे में बारी-बारी झाड़ू देना, घर के लिए दिया गया कार्य याद करना, १० बजे से ४ बजे तक विद्यालय जाना, लौटकर कुश्ती, हॉकी, क्रिकेट आदि खेलना, फिर शाम का सन्ध्या-हवन करना—यह नियमित कार्यक्रम था। जब तक हम लोग गुरुकुल में रहे—१४ वर्ष तो पढ़े ही—कभी चाय-कॉफी का मुँह नहीं देखा, पाँव में जूता नहीं पहना, रुपये-पैसे को हाथ नहीं लगाया। उस समय न रेडियो था, न टेलीविजन था, न सिनेमा था, न कॉमिक था, न वीडियो था। हम रहे तो १४ वर्ष गुरुकुल में ही, पर माता-पिता या भाई-बहन से भी सम्पर्क साल में एक बार वार्षिकोत्सव पर सिर्फ़ एक-दो घण्टे के लिए ही होता था। कभी-कभी तो हम अपने सगे कुटुम्बियों को भी पहचान नहीं सकते थे। उस समय की एक घटना मुझे अब तक याद है। हम ब्रह्मचारी यज्ञशाला में बैठे हवन कर रहे थे वार्षिकोत्सव का समय था। उसी समय माता-पिता, भाई-बहन साल में मिलने के लिए एक बार आया करते थे। मैंने देखा कि एक लड़का यज्ञशाला में मेरे पीछे आकर बैठ गया और लगातार मेरी तरफ़ देखता रहा। मैं सोचने लगा कि वह मेरी तरफ़ क्यों देखता जा रहा है? इस दुविधा में मैं उठकर लघुशंका के लिए बाहर जाने लगा तो क्या देखता हूँ कि वह भी मेरे पीछे-पीछे आने लगा। मैंने ठहरकर पूछा, तुम मेरा पीछा क्यों कर रहे हो? वह बोला—मैं सोमदत्त हूँ, तुम्हारा छोटा भाई। अपने माता-पिता को भूल जाना और दूसरे वर्ण के माता-पिता को अपना समझना—कुछ ऐसी ही बात ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में भी कही है। चतुर्थ समुल्लास में वे

लिखते हैं :

प्रश्न—जो किसी के एक ही पुत्र वा पुत्री हो, वह दूसरे वर्ण में प्रविष्ट हो जाय, तो उसके माँ-बाप की सेवा कौन करेगा ?

उत्तर—न किसी की सेवा का भंग होगा और न वंशोच्छेद होगा क्योंकि उनको अपने लड़के-लड़कियों के बदले स्ववर्ण के योग्य दूसरे सन्तान विद्या-सभा और राज्य-सभा से मिलेंगे।

बिल्कुल ऐसी बात प्लेटो ने भी लिखी है। कहने का अभिप्राय यह है कि हम लोगों का गुरुकुल का जीवन कुछ इस प्रकार का था कि हम लोग अपने माता-पिता को भी भूल जाते थे। सारे राज्य में ऐसी व्यवस्था चले तो चल सकती है, कुछ इने-गिने कुटुम्बों में ऐसी व्यवस्था नहीं चल सकती।

उन्हीं दिनों की बात है कि नाभा के राजा गुरुकुल में पधारे। सब ब्रह्मचारी यज्ञशाला में बैठे थे। महात्मा मुंशीराम जी राजा साहब को लेकर यज्ञशाला में आये। राजा साहब ने महात्मा जी से पूछा—क्या आप सब वर्णों के छात्रों को एक-साथ रखते हैं ? क्या छूत-अछूत का भेदभाव नहीं रखते ? महात्मा जी ने उत्तर दिया—हमारे छात्र तो जानते ही नहीं कि कौन किस वर्ण का है, सब आपस में भाई-भाई हैं। महात्मा जी ने राजा साहब से पूछा—क्या आप शक्ल देखकर कह सकते हैं, कौन ब्राह्मण है, कौन शूद्र है या अस्पृश्य जाति का है ? राजा साहब ने कहा—बेशक, शक्ल देखकर ही जात पहचानी जाती है। भाग्यवश वहाँ एक दक्षिण का ब्राह्मण बालक बैठा था जो तन से कृष्ण वर्ण का था। महात्मा जी ने राजा साहब से उस छात्र की तरफ इशारा करके पूछा—यह किस वर्ण का है ? राजा साहब ने आव-न-देखा-ताव, झट बोल उठे—यह शूद्र वर्ण का है। इसके बाद एक गौर वर्ण के छात्र की तरफ, जो शूद्र वर्ण का था, इशारा करके महात्मा जी ने पूछा—यह छात्र किस वर्ण का है ? राजा साहब बोल उठे—ब्राह्मण वर्ण का। महात्मा जी ने हँसते हुए राजा साहब को कहा—हम तो जन्म की जात-पाँत मानते नहीं, परन्तु जिसे आपने शूद्र वर्ण कहा है वह ब्राह्मण जन्म का है; जिसे आपने ब्राह्मण वर्ण का कहा है, वह शूद्र जन्म का है। राजा साहब इस स्थिति को देखकर हतप्रभ हो गये।

इन दिनों मेरे साथ एक घटना घटी जिसका संक्षेप से उल्लेख करना आवश्यक है। मैं सम्भवत: ७वीं या ८वीं श्रेणी में पढ़ता था। घर से तार आया कि पिताजी का मोगा में डॉ० मथुरादास ने पथरी का ऑपरेशन किया है, वे सख्त बीमार हैं, चले आओ। डॉ० मथुरादास आँखों के ऑपरेशन के लिए तो प्रसिद्ध थे, पथरी के ऑपरेशन के लिए प्रसिद्ध नहीं थे। परन्तु ये मेरे पिताजी के मित्र थे इसलिए पिताजी उनसे ऑपरेशन कराने के लिए राज़ी हो गये। उन दिनों ऐसा ऑपरेशन पेट चीरकर नहीं किया जाता था, जननेन्द्रिय में शलाका डालकर पथरी तोड़कर

किया जाता था, इस प्रकार भीतर घाव भी हो सकता था। वैसा ही हुआ। पिताजी को बचपन से पथरी की शिकायत थी, सोचा इससे झंझट छूट जाय। ऑपरेशन सफल न हुआ और इसी में उनका देहान्त हो गया। मैं तवतक मोगा पहुँच चुका था। सारा परिवार वहीं पर था। पिताजी की अचानक मृत्यु से परिवार पर अनभ्र वज्रपात हुआ। हम सब बच्चे छोटे-छोटे थे। सबसे छोटा ब्रह्मदत्त तो छः ही मास का था। परिवार की स्थिति डाँवाडोल हो गई। पिताजी दादाजी को रुपया देते रहते थे, वे सब खा-पी छोड़ते थे। गाँव में एक छोटा-सा मकान बनाया था, वही हम सबके रहने का ठिकाना था। पिताजी रेलवे में सब प्लेट लेयर का काम करते थे। उनकी ५००० रु० ग्रेच्युएटी मिलनी थी, परन्तु उसके लिए दौड़-धूप कौन करे? मैं तो इन बातों में निरा कोरा था। सोमदत्त होशियार था, उसने सब-कुछ किया। माताजी के पास कुछ पैसा रहा होगा जिसका मुझे कुछ पता नहीं। जैसे-तैसे गाँव में गुज़ारा चल रहा था। बड़े भाई टाइपिस्ट का काम कर रहे थे, वे कुछ गुज़ारा चलाते होंगे। दादाजी ने अपने सिर कर्ज़ा चढ़ा लिया था जिसे लेने के लिए जाट साहूकार ने हम बच्चों पर मुकद्दमा दायर कर दिया था। इस विकट स्थिति में हमारे फूफा हमारी मदद पर आये। उनका नाम पण्डित ब्रह्मानन्द अग्निहोत्री था। वे लुधियाना के मशहूर वकील थे। उनके लड़के थे श्री जगदीश अग्निहोत्री जो बैरिस्टरी पास कर भारत लौटे और भारत के विभाजन के बाद चण्डीगढ़ विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार बने। उनका देहान्त हो चुका है। उनके लड़के रूप अग्निहोत्री की पुत्री रति अग्निहोत्री सिनेमा अभिनेत्री हैं। रूप-अग्निहोत्री का भी देहान्त हो चुका है। मेरे फूफा पण्डित ब्रह्मानन्द जी की सुनाई हुई एक घटना मुझे स्मरण है। वे सुनाते थे कि उन्होंने लाहौर में पढ़ा था और स्वामी रामतीर्थ उनके अध्यापक रहे थे। पण्डित ब्रह्मानन्द जी जब लुधियाना में वकालत करने लगे तब एक दिन स्वामी रामतीर्थ उनके यहाँ मेहमान बनकर आ टिके। स्वामीजी के पास एक कश्मीरी दुशाला था। मेरे फूफाजी ने उस दुशाले की तारीफ़ की। अगले दिन स्वामी रामतीर्थ प्रातःकाल ही घर से चले गये और दुशाला वहीं छोड़ गये। फूफाजी ने जब उनके ठहरने के कमरे में देखा तो स्वामी जी तो नहीं थे, दुशाला फूफाजी के लिए छोड़ गये थे। फूफाजी अफसोस करते रहे कि उन्होंने स्वामी जी के दुशाले की तारीफ़ क्यों की।

पिताजी की मृत्यु के बाद मेरे सामने प्रश्न उपस्थित हुआ कि मैं क्या करूँ? मेरे फूफा पण्डित ब्रह्मानन्द जी लुधियाना के प्रसिद्ध वकील थे। उन्होंने मुझे कहा कि तुम्हें उर्दू सिखा देंगे और अदालत में अर्ज़ीनवीस का काम करना। मैं तो बच्चा ही था, क्या जानता था कि अर्ज़ीनवीसी क्या होती है! मैंने गुरुकुल के संस्थापक महात्मा मुंशीराम जी को सारी स्थिति लिख भेजी। उन दिनों गुरुकुल की फ़ीस दस रुपया मासिक थी। मेरा उतना भी इन्तिज़ाम नहीं हो सकता था। मैंने

लिख भेजा कि मैं अब गुरुकुल नहीं लौट सकूँगा क्योंकि मेरी फ़ीस देनेवाला कोई नहीं रहा। मेरे पत्र के उत्तर में महात्मा जी का उत्तर आया—"पुत्र, तुम लौट आओ, तुमसे कोई फ़ीस नहीं ली जायेगी।" महात्मा जी के उस स्नेह-स्निग्ध पत्र ने मेरे जीवन का नक्शा ही बदल दिया। महात्मा जी का वह पत्र मेरे जीवन में सदा ऋणरूप में बना रहा, जिसे उतारने के लिए मुझे जीवनभर गुरुकुल की सेवा करने का अवसर मिलता रहा। महात्मा जी को हम लोग पिताजी कहा करते थे। उनका पत्र पाकर मैं गुरुकुल लौट आया और उसके बाद मेरे भाई-बहन मुझे भूल गये और मैं उन्हें भूल गया।

मैं पढ़ने-लिखने में बहुत तेज़ नहीं था, परन्तु जो जिस विषय में तेज़ होते थे उनके साथ मैं टँगा रहता था। व्याकरण में पण्डित रामचन्द्र जी की गति बड़ी तीव्र थी, परीक्षा के दिन पास आने पर मैं उनसे व्याकरण की गुत्थियाँ सुलझाता था। अंग्रेज़ी में मेरे सहपाठी देवदत्त जी प्रायः प्रथम आते थे जो अंग्रेज़ी में बहुत निष्णात थे। उनसे मैं अंग्रेजी की ग्रामर की उलझनें सुलझा लिया करता था। गणित में हमारी श्रेणी के वेदव्रत बहुत चतुर थे, इसमें वे मेरी सहायता कर देते थे। इस समय जब मैं यह कथा लिख रहा हूँ, मेरा कोई सहपाठी नहीं रहा। गणित में मैं बहुत कमज़ोर था, खासकर अंकगणित के प्रश्न तो मेरी समझ में आते ही न थे। जब मैं दसवीं में पहुँचा तब मेरे लिए समस्या थी कि गणित में कैसे पास होऊँगा ? उस समय एक चमत्कार हुआ। प्रो० रामदेव जी उस समय आचार्य थे उन्होंने पाठविधि में एक नया विषय रखा जिसका नाम 'आर्य सिद्धांत' था। 'आर्य सिद्धान्त' में दुनियाभर के विषय पढ़ाये जाते थे। ऐसे विषय रखे गये जो उपदेशक बनने के लिए उपयोगी हों, जो व्यक्ति को चौमुखा बना सकें। पाली, बंगाली, गुजराती, उर्दू, आयुर्वेद, लॉ, संसार के धर्म—ईसाइयत, इस्लाम, आदि सब-कुछ पढ़ाया जाने लगा। संस्कृत के सब प्रकार के ग्रन्थ तो पढ़ाये ही जाते थे परन्तु गणित उनमें न था। निश्चय किया गया कि इस कोर्स को जो लें, उन्हें सिद्धान्तालंकार की उपाधि दी जायेगी, अन्यों को विद्यालंकार की उपाधि। मैंने तो सन्तोष की साँस ली और झट से इस कोर्स में दाखिला ले लिया; गणित से पीछा छूटा। इस कोर्स को लेनेवालों की संख्या बहुत थोड़ी थी, परन्तु मेरे लिए तो यह वरदान सिद्ध हुआ। क्योंकि अब गणित मेरे कोर्स में नहीं था इसलिये अधिकारी परीक्षा में मैं बहुत अच्छे अंकों में पास हुआ और मुझे महाविद्यालय (कॉलेज) में दाखिला मिल गया। उस समय मेरे सहपाठी जिन्होंने भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में यश कमाया, प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता जयचन्द्र विद्यालंकार, ईश्वरदत्त विद्यालंकार तथा स्वामी अभयदेव शर्मा थे। स्वामी अभय तो श्री अरविन्द आश्रम के उच्च कोटि के भक्त माने जाते थे। अब वे दोनों दिवंगत हो चुके हैं। वैसे तो जहाँ तक मुझे पता है मेरा कोई सहपाठी इस समय जीवित नहीं है। दस वर्ष तक

विद्यालय में अध्ययन के बाद मैं महाविद्यालय में प्रविष्ट हुआ।

२. महाविद्यालय में मेरा जीवन

महाविद्यालय तक पहुँचते-पहुँचते मेरी आयु १७ वर्ष की हो गई थी। हममें से कुछ सहपाठियों ने एक गुट बनाया था जिसका उद्देश्य गुरुकुल में ब्रह्मचर्य के अनुकूल परिस्थितियों को स्थापित करना तथा बनाये रखना था। इस गुट में पण्डित युधिष्ठिर जो पीछे जाकर स्वामी व्रतानन्द जी कहलाये, मैं, मेरे सहपाठी देवेश्वर तथा उनके बड़े भाई धर्मचन्द्र एवं कुछ और छात्र थे। हमारा आन्दोलन यह था कि खान-पान में चटनी, अचार, मिठाई आदि विद्यार्थियों को नहीं मिलना चाहिए क्योंकि ये पदार्थ ब्रह्मचर्य के घातक हैं। अन्य विद्यार्थी हमारे विचारों का विरोध करते थे। उन्होंने हमारे ग्रुप का नाम 'स्यामी मण्डल' रखा हुआ था जो 'स्वामी मण्डल' का अपभ्रंश था। नियम यह था कि बारी-बारी एक विद्यार्थी भण्डारी बनता था, ३-४ उसके साथ काम करनेवाले व्रती कहलाते थे और ये लोग महीने-भर की रसद लेकर भण्डार को चलाते थे। ये लोग सप्ताह-भर में इतना मीठा, मावा आदि बचा लेते थे कि सप्ताह में एक-दो बार गुलाब जामन, जलेबी आदि बनाकर बाँटते थे और स्वयं रोज़ मलाई-मक्खन का मज़ा लेते थे। मैंने इस प्रक्रिया का खुला विरोध करना शुरू किया तो भण्डारी ने साप्ताहिक मिठाई बाँटते समय अन्य सबको मिठाई दे दी, मुझे नहीं दी। भोजन करते समय तो मैं यह सब सह गया, परन्तु भोजन के उपरान्त मैंने भण्डार में जाकर अपने हिस्से की मिठाई उठाई और आकर थाली में पटककर बाहर चला गया। अब सोचता हूँ कि मेरा ऐसा करना मूर्खतापूर्ण था, परन्तु उस समय ऐसा किया यह बात ठीक है। मैं उन दिनों कोवन आदि की पुस्तकें पढ़ता था जिसमें मिठाई, अचार, चटनी आदि के विरोध में लिखा गया है और जो कोई भी मीटिंग होती थी उसमें खड़ा होकर तुरन्त उस पुस्तक के उद्धरण सुनाने लगता था। मिठाई खाने का विरोध करना एक प्रकार का 'स्यामी मण्डल' के आन्दोलन का प्रमुख कार्यक्रम हो गया था। हम गुरुकुल के अधिकारियों के साथ भी इस मुद्दे को लेकर झगड़ते थे। आज यह सब याद कर अपने पर हँसी आती है, परन्तु बालपन का जोश युक्ति को नहीं सुनता।

जब मैं महाविद्यालय में पढ़ रहा था तब मेरा मुख्य विषय आर्य सिद्धान्त था। आर्य सिद्धान्तों को विशद रूप में हृदयंगम करने के लिए जो ग्रन्थ पढ़ाये जाते थे उनमें अंग्रेज़ी के ग्रन्थों में मुख्य थे—फ़्लिट का 'थीइज़्म' तथा 'एण्टी-थीइस्टिक-थियोरीज़' एवं जेम्स का 'वैराइटीज़ ऑफ रिलिजियस एक्सपीरियेन्सेज़'। भिन्न-भिन्न धर्मों के अन्य भी ग्रन्थ थे, परन्तु उक्त दो ग्रन्थों के अध्ययन पर मेरा विशेष ध्यान था। मैंने इन ग्रन्थों के उद्धरण इतने स्मरण कर लिये थे कि घण्टों इन उद्धरणों को मैं

सुना सकता था। मैं ज़बानी बोलता जाता था और मेरे मित्र पण्डित रामचन्द्र जी सुनते जाते थे। कहीं ग़लती नहीं होती थी। उस समय मैंने अंग्रेज़ी ग्रन्थों की जो रटन्त की उससे मेरी अंग्रेज़ी इतनी सुधर गई कि कोई नहीं सकता था कि मैं अंग्रेज़ी के एम० ए० से किसी तरह कम हूँ। एक बार आचार्य रामदेव जी की इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर केवलकृष्ण मल्होत्रा से इस विषय में बातचीत हो रही थी जिसमें मल्होत्रा ने कहा कि गुरुकुल के स्नातक अंग्रेज़ी में कमज़ोर होते हैं। प्रोफ़ेसर रामदेव जी ने पूछा कि क्या आप सत्यव्रत जी से मिले हैं? मल्होत्रा ने उत्तर दिया कि वे तो एक्सप्शनल हैं। मैं एक्सप्शनल नहीं हूँ, मेरे आंग्ल भाषा-ज्ञान का एक विशेष कारण है। जब मैं महाविद्यालय में प्रविष्ट हुआ तब मेरा गुरुकुल काँगड़ी के कार्यालयाध्यक्ष श्री मुरारीलाल जी से परिचय हुआ। मुरारीलाल जी कहने को कार्यालयाध्यक्ष थे, परन्तु उनका अध्ययन अगाध था। वे कुछ ऐसे लड़कों को चुन लेते थे जिन्हें वे समझते थे कि उन्हें मार्ग-दर्शन करके प्रगतिशील बनाया जा सकता है। उनकी दृष्टि मुझपर भी पड़ी और उन्होंने मुझे गम्भीर अध्ययन के लिए मार्ग-दर्शन दिया। उनकी प्रेरणा से मैं हर्बर्ट स्पेंसर के सब ग्रन्थों को उनके नोट बनाकर पढ़ता था, नोट लिखकर उन्हें दिखलाता था; जो समझ नहीं पड़ता था उसे वे समझाते थे। इस प्रकार साँख्य कारिका का मैंने उनके साथ अध्ययन किया। यद्यपि वे संस्कृत नहीं जानते थे, तथापि सांख्य कारिका के अंग्रेजी अनुवाद से मुझे सब-कुछ समझा देते थे। अस्सी वर्ष की आयु तक वे नोट मेरे पास पड़े रहे, उसके बाद मैंने उन्हें नष्ट कर दिया क्योंकि उनमें जो कुछ लिखा था उससे अधिक मैं अब आत्मसात् कर चुका था।

लाला मुरारीलाल जी का मेरे जीवन के निर्माण में बहुत अधिक हाथ रहा है। उन्होंने मेरे मानसिक विकास में ही योगदान नहीं किया, मुझे आध्यात्मिकता के पथ पर भी डाल दिया। मैं आश्रम में सो रहा होता था। वे प्रातः ४ बजे आकर मेरी खिड़की से आवाज़ देकर मुझे जगा देते थे। हम दोनों काँगड़ी ग्राम के सूखी रेती के मैदान में बैठकर ध्यान करते थे। लगभग दो घण्टे बैठते थे। आध्यात्मिकता के क्षेत्र में उन्होंने मुझे जो कुछ सिखाया उसे स्वर-विद्या कहा जाता है जिसका विस्तार से वर्णन श्री गंगाप्रसाद की थियोसोफ़ी की पुस्तक 'नेचर्स फ़ाइनर फ़ोर्सेस' में दिया गया है। स्वर-विद्या का मैं अपनी ८८ वर्ष की आयु में भी अभ्यास करता हूँ। जिन दिनों मैं लाला मुरारीलाल जी के सम्पर्क में आया उन दिनों मेरी संन्यास लेने की अभिलाषा उत्कट हो उठी। एक दिन मैंने कपड़े गेरवे रंगे और अपने मित्र देव शर्मा जी अभय को अपना सारा प्रोग्राम कह सुनाया। गेरवे कपड़े बगल में दबाकर हम दोनों गुरुकुल से २-३ मील परे गंगा के पुल पर पहुँचे। मैंने अपने सफ़ेद कपड़े उतारकर उन्हें दे दिये और गेरवे वस्त्र पहनकर उनसे विदा ली और उनसे वचन लिया कि यह भेद किसी को नहीं बतायेंगे। मैं गेरवे वस्त्र पहनकर पुल पार

हो गया, कनखल और हरिद्वार को पार कर ऋषिकेश की तरफ़ चल दिया। रास्ते में सत्यनारायण का मन्दिर पड़ता है, वहाँ पहुँचने तक रात हो गई थी, इसलिए मन्दिर में ही रात काटने के लिए ठहर गया। प्रातःकाल मन्दिर के पुजारी ने ताड़ लिया कि यह कोई घर से भागा हुआ लड़का है। उसने पूछा, तुम किस प्रकार के संन्यासी हो? मैं नहीं जानता था कि संन्यासी भी कई प्रकार के होते हैं। उसने कहा कि तुम संन्यासी नहीं हो, ब्रह्मचारी हो क्योंकि तुम्हारे सिर पर शिखा है। मैं यह देखकर कि सारा भेद खुल गया, सब-कुछ कह बैठा। प्रातःकाल चलते हुए उसने मुझे आठ आने दिये और कहा कि रास्ते में यह तुम्हारे काम आयेगा। मैं आठ आने लेकर ऋषिकेश के लिए चल दिया। वहाँ जाकर कुटिया-से-कुटिया चक्कर काटता रहा। कोई प्राणायाम तक न सिखा सका, अन्त में निराश होकर गुरुकुल वापस लौट आया।

जिन दिनों मैं महाविद्यालय-विभाग में पढ़ रहा था उन दिनों मेरे जीवन में एक और घटना घटी। हमारे विज्ञान के अध्यापक श्री लहरी थे। एक दिन लहरी महोदय मुझे पास के जंगल में उस स्थान पर ले गये जिसे हम लोग आनन्द-वाटिका कहते थे। मुझे सामने बैठाकर वे मुझे लेक्चर देने लगे। उन्होंने कहना शुरू किया—भारतमाता परतन्त्रता की बेड़ियों में बँधी है। ऐसे युवक तैयार होने चाहिएँ जो भारतमाता को स्वतन्त्र करें और उसके बन्धनों को काटें। तुम होनहार युवक हो, तुम्हें इस काम के लिए उद्यत होना चाहिए। तुम्हारे पढ़ने-लिखने, खाने-पीने का इन्तिज़ाम हिन्दू यूनीवर्सिटी में हो जायगा, तुम्हारे विद्याध्ययन में कोई बाधा नहीं होगी। आध घण्टा तक उन्होंने उस जंगल में मुझे भारतमाता की परतन्त्रता तथा उसकी स्वतन्त्रता के लिए तैयारी का व्याख्यान दिया। मैं उनके विचारों से अत्यन्त प्रभावित हुआ। अगले दिन मैं महात्मा मुंशीराम जी से जिन्हें हम आदरवश पिता जी कहते थे, से मिला और कहा कि मैं भारतमाता की स्वतन्त्रता के लिए अपने को तैयार करना चाहता हूँ और गुरुकुल छोड़कर बाहर जाना चाहता हूँ। महात्मा जी ने पूछा—तुम्हें ये विचार किसने दिये हैं? मैंने कहा—लहरी जी ने। लहरी जी रेवोल्यूशनरी दल के व्यक्ति थे। इस दल के लोग समझते थे कि गुरुकुल उनके कार्य-क्षेत्र के लिए एकान्त में है, जंगल में है, उत्तम स्थल है। लहरी जी ने मेरे विद्रोही विचारों को देखकर अपने अभिप्राय से मुझे चुना होगा। अगर मैं लहरी जी के मार्ग पर चलता तो शायद अंग्रेज़ों के ज़माने में फाँसी पर लटक गया होता क्योंकि पीछे पता चला कि लहरी जी पकड़े गए थे और फाँसी पर लटका दिये गये थे।

मेरी बातें सुनकर महात्मा जी ने लहरी जी को अगले ही दिन सेवा से मुक्त कर दिया था।

३. स्नातक होने के बाद मैं पूना में

महाविद्यालय में विद्याध्ययन करने के बाद मैं गुरुकुल का स्नातक बना। मुझे सिद्धान्तालंकार की उपाधि दी गई। स्नातक बनते ही आजीविका का प्रश्न उपस्थित हुआ—जाऊँ तो कहाँ जाऊँ? कोई ठिकाना नहीं था। उस समय प्रोफ़ेसर रामदेव जी हमारे आचार्य थे, वे मेनगेट के बँगले पर रहा करते थे। उन्होंने मुझे कहा कि तुम्हें सिद्धान्तालंकार की, उपदेशक बनने की शिक्षा दी गई है। तुम्हें २५ रुपया प्रतिमास मिलेंगे, तुम मेरे पास एक कमरे में रहा करो। मैंने उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। मैंने तो २५ रुपये कभी देखे भी नहीं थे। पन्द्रह दिन ही हुए होंगे कि उन्हें पूना से वहाँ की आर्यसमाज का तार आया कि वहाँ आर्यसमाज का उत्सव है, उन्हें बुलाया था। प्रोफ़ेसर रामदेव जी ने मुझे जाने के लिए कहा, मैं पूना आर्यसमाज के उत्सव पर व्याख्यान देने के लिए जाने को तैयार हो गया। पहले हरद्वार से दिल्ली पहुँचा। उन दिनों महात्मा मुंशीराम जी स्वामी श्रद्धानन्द बन चुके थे। उन्हीं के यहाँ ठहरा। स्वामी जी ने पूछा—कभी पूना गये हो? मैंने कहा—नहीं। फिर पूछा—कैसे पहुँचोगे, रेलगाड़ी का सफ़र तो तुमने कभी किया नहीं, भीड़भड़क्के में भटकते फिरोगे। हमारे अंग्रेज़ी पढ़ानेवाले एक प्रोफ़ेसर थे—सेवाराम फिटवानी। वे गुरुकुल छोड़कर बम्बई रहने लगे थे। स्वामी जी ने उन्हें तार दिया कि मुझे बम्बई पहुँचने पर पूना की गाड़ी चढ़ा दें और अपना आदमी साथ कर मुझे दिल्ली से बम्बई जानेवाली गाड़ी पर चढ़वा दिया। स्टेशन पर स्टेशन आते रहे और मैं देखता रहा कि बम्बई स्टेशन कब आता है, परन्तु बम्बई नाम का स्टेशन नहीं आया। अन्त में जब गाड़ी विक्टोरिया टरमिनस पहुँची तब सब यात्री उतर गये और गाड़ी खाली हो गई। मैंने लोगों से पूछा—बम्बई कब आयेगी? तो उन्होंने कहा, यही तो बम्बई है। मैं भी उतर गया, परन्तु अब प्रश्न था पूना के लिए कहाँ से चढ़ूँ? मैंने पावों में खड़ावें पहनी हुई थीं, लाँग की धोती बाँधी हुई थी, प्लेटफ़ॉर्म से निकलने के लिए चला जा रहा था। इतने में एक युवक भागा-भागा मेरे पास आया, पूछा—क्या सत्यव्रत आप हैं? मैंने कहा—हाँ, परन्तु आपको कैसे पता चला कि मैं सत्यव्रत हूँ? वे बोले कि बम्बई जैसे शहर में जंगलियों का-सा दीखनेवाला, खड़ावें पहने चला आ रहा व्यक्ति वही हो सकता था जिसे लेने पिता श्री सेवाराम जी ने मुझे भेजा था। उन्हें पाकर मैं निश्चिन्त हो गया और वे मुझे दूसरी गाड़ी से अपने पिता प्रोफ़ेसर सेवाराम जी के घर ले गये।

अब प्रश्न पूना जाने का था। अगले दिन प्रातःकाल प्रोफ़ेसर सेवाराम जी ने मुझे पूना की गाड़ी पर चढ़ा दिया और आर्यसमाज को मेरे आने का तार दे दिया। चार-पाँच घण्टे में गाड़ी पूना पहुँच गई और देखा कि अनेक आर्यसमाजी भाई पुष्प-

मालाएँ लिये मेरे स्वागत के लिए प्लेटफ़ॉर्म पर उपस्थित थे। पूना पहुँचकर साँस-में साँस आयी और इत्मीनान हो गया कि ठीक स्थान पर पहुँच गये।

उन दिनों पूना आर्यसमाज का उत्सव क्यों हो रहा था—इसका एक विशेष कारण था। पूना के पास एक स्टेट है—कोल्हापुर। कोल्हापुर के महाराजा आर्य-समाज के प्रभाव में आ चुके थे। आर्यसमाज जन्म की जात-पाँत नहीं मानता यह उनके लिए आर्यसमाज के प्रति खिचाव का विशेष कारण था। उत्तरप्रदेश की आर्य-प्रतिनिधि सभा को उन्होंने अपनी स्टेट का राजाराम इण्टर कॉलिज प्रबन्ध के लिए दे दिया था। कॉलेज को डिग्री कॉलेज बनाने की स्कीम चल रही थी। इस उद्देश्य से सभा के प्रधान कुँवर हुक्मसिंह अपने दल-बल-सहित कोल्हापुर आये हुए थे। उन्हीं के प्रयत्न से पूना में आर्यसमाज की स्थापना तथा उत्सव रखा गया था। इस उत्सव पर बम्बई से स्वामी ओंकारनाथ तथा कोल्हापुर से प्रोफ़ेसर कृपाशंकर हजेला, मास्टर मलखानसिंह, प्रिंसिपल नेहपालसिंह आदि आये हुए थे; इसी उत्सव में भाग लेने मैं भी आया था। सबके व्याख्यानों के साथ मेरे भी व्याख्यान हुए। मैं क्योंकि हाल ही में ईश्वरवाद आदि विषयों पर अंग्रेज़ी ग्रन्थ पढ़कर आया था और उन ग्रन्थों के कोटेशन मुझे खूब याद थे, मैंने अपने भाषणों में उन कोटेशनों की झड़ी लगा दी। मेरे व्याख्यान सुन कुँवर हुक्मसिंह बहुत प्रभावित हुए और मुझसे कोल्हापुर चलने का आग्रह करने लगे। मैं इस सारी मण्डली के साथ कोल्हापुर चल दिया। पूना में तो तीन-चार ही व्याख्यान हुए परन्तु प्रत्येक व्याख्यान अंग्रेज़ी के कोटेशनों से भरा था।

४. स्नातक होने के बाद मैं कोल्हापुर में

स्नातक होने के महीने के भीतर-ही-भीतर मैं कोल्हापुर पहुँच गया। उस समय वहाँ राजाराम स्कूल तथा राजाराम कॉलेज के स्टाफ़ की भर्ती हो रही थी। नेहपालसिंह ऑक्सफ़ोर्ड से बी० ए० पास करके आये थे, वे ३०० रु० मासिक पर प्रिन्सिपल नियुक्त हुए, के० एस० हजेला कैमिस्ट्री के नियुक्त हुए, ठाकुर मलखान-सिंह हेड मास्टर बने, मिस्टर पौराणिक अंग्रेज़ी के अध्यापक हुए, अन्य भी अनेक व्यक्ति नियुक्त हुए जिन्हें मैं जानता नहीं था। कुँवर हुक्मसिंह चाहते थे कि मैं भी वहीं नियुक्त हो जाऊँ। मुझे उन्होंने धर्मशिक्षा का अध्यापक नियुक्त किया और मेरा काम यह निश्चित किया गया कि कॉलेज प्रारम्भ होते समय जब सब लोग एकत्रित हों तब उस सभा में मैं किसी वेदमन्त्र की आंग्लभाषा में व्याख्या करूँ जो कम-से-कम १५ मिनट की हो। इसके लिए मुझे ७५ रुपये मासिक देने का निश्चय हुआ। यह काम मेरे लिए बड़ा आसान था इसलिए मैंने सहर्ष इसे स्वीकार कर दिया। पच्चीस से एक महीने में ही पचहत्तर पाने लगना भी अत्यन्त उत्साह-वर्धक था। मुझे कॉलेज में पढ़ाने को भी एक घण्टा दिया गया जिसमें मेरा काम

धार्मिक विषयों की चर्चा करना था।

मैंने रहने के लिए एक कमरा दस रुपये मासिक पर लिया। मकान का नाम था—"भुसारी वाड़ा।" मैंने कोल्हापुर से स्वामी श्रद्धानन्द जी को अपनी स्थिति का पत्र लिखा जिसपर मेरा पता था—'भुसारी वाड़ा'। स्वामी जी का आशीर्वाद पत्र आया, परन्तु पूछा—तुम भुसारी कब से बन गये ? उन्होंने समझा 'भुसारी' मेरी जात है। मैंने उत्तर दिया कि यह तो मेरा पता है, यह मेरा नाम नहीं, यह मेरे मकान का नाम है। यह सुनकर वे प्रसन्न हुए। जब मैं भुसारी वाड़े में रहता था तब एक दिन मुझे तीव्र बुखार चढ़ गया, वेहोशी-सी हो गई। कुँवर हुक्मसिंह मुझे देखने आये, तो इतना बुखार देखकर मुझे वहाँ के सिविल सर्जन के घर ले गये। पता लगा कि यह टायफ़ायड फ़ीवर था। सिविल सर्जन साहब बड़े कृपालु थे, उन्होंने मुझे अपने घर ही रख लिया। उनका नाम डॉ० शिन्दे था। मैं २१ दिन टायफ़ायड से पीड़ित रहा। उनकी पत्नी ने इन दिनों मेरी जो देख-भाल की उसे मैं आजीवन नहीं भुला सकता। परदेस में इस प्रकार विपत्ति में फँस जाना और उच्चतम सहायता का मिल जाना प्रभु की कृपा के वगैर नहीं हो सकता। ठीक होकर मैं फिर कॉलेज जाने लगा।

इस वार मैंने मकान वदल लिया, किराया लगभग उतना ही था। अभी दो महीने भी नहीं वीते थे कि एक दिन राजसी ठाठ की दो घोड़ों की एक बग्घी मेरे मकान के नीचे आ खड़ी हुई। उसमें से राजसी ठाठ का एक व्यक्ति ऊपर चढ़ आया और कहने लगा कि आपको महाराजा साहब ने बुलाया है। मैं उनके साथ चल दिया। गाड़ी पैलेस जाकर ठहरी और मुझे महाराजा साहब के सामने, जिनका शरीर भारी-भरकम था और जो विलियर्ड की टेबल पर लेटे हुए थे, पेश किया गया। महाराजा साहब ने मुझे कहा कि हम तुम्हें युवराज का ट्यूटर बनाना चाहते हैं, उनके साथ पाँच-सात अन्य भी बालक होंगे, तुम उनके साथ रहना और उन्हें जो वे सीखना चाहें सिखाना। महाराज की आज्ञा हुई कि मेरा सामान ले आया जाये। पैलेस में झाड़-फानूस से सुसज्जित एक कमरा मुझे दे दिया गया। एक रसोइया मेरे लिए रख दिया गया। कॉलेज जाने-आने के लिए एक सुशोभित बैलगाड़ी का भी मेरे लिए प्रबन्ध हो गया। यह भी हुक्म हुआ कि मैं साइकल चलाना सीख लूँ और ज़रूरत पड़े तो उसका भी इस्तेमाल करूँ। मैं इस अचानक उत्थान के लिए परमात्मा को धन्यवाद देता हुआ राजप्रासाद में आकर रहने लगा।

युवराज को पढ़ना-लिखना क्या था, वे तो रेस तथा शिकार खेलने के शौकीन थे। उनके साथ रहनेवाले वालक भी इन्हीं व्यसनों में फँसे थे। ये वहाँ के राजकीय सरदारों के लड़के थे। इनमें से एक लड़का सुर्वे नाम का था जो पीछे जाकर वहाँ का चीफ मिनिस्टर बन गया और मेरे गुरुकुल में सेवा ग्रहण करने के बाद उसने

मुझे तार देकर कोल्हापुर की एक उच्च-सेवा के लिए निमन्त्रित किया था परन्तु तबतक मैं 'दयानन्द सेवा सदन' का आजीवन सदस्य हो चुका था।

युवराज तथा उसके साथियों का पढ़ने-लिखने के प्रति कोई रुझान नहीं था। युवराज अपनी बग्घी में रोज़ आते और अपने रेस के घोड़ों को दिखलाते। हर-एक घोड़े की जो विशेषता होती वह बतलाते जो मेरी समझ में कुछ न आती। उनके साथी लोग भी मुझे टैनिस कोर्ट ले जाते या बिलियर्ड खेलने ले जाते, परन्तु मैं इन सब बातों से शून्य था; सिर्फ़ इतना कह देता कि मैं देखूंगा, तुम खेलो। मैंने उन्हें यह नहीं जानने दिया कि मैं इन खेलों को जानता ही नहीं।

एक बार यह पार्टी शिकार खेलने निकली। हम लोग पहाड़ पर गये। वहाँ ये लोग चिड़ियाँ मारते थे और उनका खून चूस लेते थे। मुझे वह दृश्य देखकर इतनी घृणा हुई कि जी चाहा अभी यह सर्विस छोड़कर भाग खड़ा होऊँ। विधाता भी शायद मेरी आवाज़ सुन रहा था। घर पहुँचे तो गुरुकुल का एक पत्र आया पड़ा था कि उत्सव के दिन हैं, तुम्हारा व्याख्यान रखा गया है, अवश्य आना। उन दिनों स्वामी श्रद्धानन्द जी फिर गुरुकुल आ गये थे या नहीं, इसका मुझे स्मरण नहीं, परन्तु मैं उत्सव के लिए गुरुकुल को रवाना हो गया। मुझे कोल्हापुर के जीवन से घृणा होने लगी थी इसलिये कम-से-कम कुछ दिनों के लिए कोल्हापुर से छुटकारा चाहता था।

५. स्नातक होने के बाद मैं बैंगलौर में

मैं एक-डेढ़ साल कोल्हापुर रहा था कि गुरुकुल काँगड़ी के उत्सव का निमंत्रण आ पहुँचा। स्वामी श्रद्धानन्द जी वहाँ थे। उन्होंने मुझे कहा कि वे दक्षिण-भारत में सार्वदेशिक सभा की तरफ़ से हिन्दी सिखाने का केन्द्र खोलना चाहते हैं। सौ रुपया मासिक मिलेगा और रहने के लिए जगह। मुझे उन्होंने प्रेरित किया कि मैं वहाँ चला जाऊँ। वहाँ एक स्वामी परमानन्द जी रहते थे जो आगे चलकर हैदराबाद सत्याग्रह में शहीद हो गये। उनका स्वामी जी से आग्रह था कि किसी योग्य व्यक्ति को बैंगलौर भेजें। मैंने इस प्रस्ताव को झट स्वीकार कर लिया और स्वामी जी से प्रार्थना की कि एक पत्र महाराजा कोल्हापुर के नाम मुझे दे दें ताकि वह पत्र महाराजा को दिखाकर मैं उनसे विदा ले सकूं। स्वामी जी ने पत्र दे दिया और वह पत्र लेकर मैं कोल्हापुर के लिए रवाना हो गया। महाराजा को जब वह पत्र दिखाया तो कहने लगे—स्वामी जी के आदेश के सामने मैं क्या कह सकता हूँ! अगर उनकी इच्छा है कि आप बैंगलौर जाओ तो खुशी से जा सकते हो। मैं महाराजा की आज्ञा लेकर एक दिन भी बिना ठहरे बैंगलौर के लिए गाड़ी पर सवार हो गया।

बैंगलौर में स्वामी सत्यानन्द जी आर्यसमाज का थोड़ा-बहुत काम करते थे।

बहुत पढ़े-लिखे तो नहीं थे, परन्तु आर्यसमाजी थे। वहाँ एक जाति रहती है जिसे वक्कलिया कहते हैं। ये लोग ज़्यादातर लिंगायत हैं, वे समृद्ध हैं। इनका एक होस्टल था जिसका नाम था वक्कलिया होस्टल। स्वामी जी इसी होस्टल में रहते थे। मुझे भी उन्होंने वहीं ठहराया। बैंगलौर आकर मुझे अपना प्रोग्राम खुद बनाना पड़ता था। मेरा काम आर्यसमाज तथा हिन्दी का प्रचार करना था। हिन्दी-प्रचार के लिए मैं नेशनल हाईस्कूल के हेडमास्टर श्री कल्याणसुन्दरम् के पास गया और अपनी हिन्दी-प्रचार-योजना को उनके द्वारा सफल बनाने को कहा। तय हुआ कि स्कूल का समय समाप्त होने के बाद स्कूल की उच्च-कक्षाओं तथा अध्यापकों को आध घंटे के लिए हॉल में एकत्रित करके प्रतिदिन हिन्दी पढ़ाऊँ। यह प्रोग्राम महीनेभर चलता रहा। इस प्रकार की क्लास में मैं सबको अंग्रेज़ी के माध्यम से हिन्दी पढ़ाता था क्योंकि वहाँ कन्नड़ स्थानीय भाषा है जिसे मैं नहीं जानता था। इस समय मैंने जो पाठ तैयार किये उनकी एक पुस्तक प्रकाशित कर दी जिसका नाम "हाउ टु लर्न हिन्दी" था। यह पुस्तक वहाँ की कपड़े की एक व्यापारी कम्पनी ने प्रकाशित की जिसका नाम जवेरचन्द एण्ड कम्पनी था। उन्होंने उसकी बिक्री की, मेरा तो सिर्फ परिश्रम रहा। वह पुस्तक वहीं के एक लोकल प्रेस में छपी थी।

हिन्दी के प्रचार के अलावा आर्यसमाज का प्रचार मेरा दूसरा काम था। आर्यसमाज के प्रचार के लिए मैं प्रति सप्ताह एक इश्तिहार छपवाता था और बाज़ार में बाँटता तथा बँटवा देता था। उसमें रविवार की मीटिंग का विज्ञापन होता था जिसमें किसी सामाजिक विषय पर व्याख्यान की सूचना होती थी। व्याख्यान मैं ही देता था। व्याख्यान अंग्रेज़ी में होता था। व्याख्यान दोडन्ना हॉल में होते थे। तीस-चालीस श्रोता तो आ ही जाते थे। इन मीटिंगों का सारा प्रवन्ध—दरी, मेज़, कुर्सी आदि सबका प्रबन्ध मैं ही करता था। सप्ताह के अन्य दिनों में वहाँ के सामाजिक विचारों के व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करता था।

बैंगलौर में एक साप्ताहिक अंग्रेज़ी का पत्र निकलता था जिसके सम्पादक श्री गुंण्ड़प्पा थे। उस पत्र में मैंने गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली पर कुछ लेख लिखे। इससे लोगों में आर्यसमाज के विषय में कुछ जानकारी होने लगी। स्वामी श्रद्धानन्दजी ने मेरा सहयोग देने के लिए मेरे सहपाठी देवेश्वर सिद्धान्तालंकार को भी भेज दिया। हम दोनों किराये का एक मकान लेकर बसवनगुडी में रहने लगे। देवेश्वर की दिलचस्पी इस काम में देर तक नहीं बनी रही। कुछ मास बाद वह बैंगलौर छोड़ गया। सुनते हैं वह बर्मा चला गया जहाँ न जाने कैसे उसकी मृत्यु हो गई।

इस बीच मैंने तथा स्वामी सत्यानन्द जी ने एक गुरुकुलाश्रम खोलने की योजना बनाई। कुछ लोगों से मिले, कुछ चन्दा किया और किराये का एक मकान ले लिया। यहाँ जो बच्चे लिये जाते थे, भेजते तो हम उन्हें वहाँ के स्कूलों में ही थे,

परन्तु उनकी दैनिक दिनचर्या गुरुकुल के ढंग की थी। प्रातःकाल शीघ्र उठते, प्रार्थना-मंत्रों से दैनिक दिनचर्या प्रारम्भ करते, सन्ध्या-हवन आदि सब नित्य-कर्म करके स्कूल जाते थे। इस कार्य में सहयोग देनेवाले कुछ ही व्यक्ति थे, परन्तु यह योजना देर तक न चल सकी। अन्त में हमें यह गुरुकुलाश्रम बन्द कर देना पड़ा। इस आश्रम में श्री लिंगे गौड़ा का बच्चा भी भर्ती था। लिंगे गौड़ा पीछे जाकर बैंगलौर की कौंसिल के चेयरमैन भी बने, और सालों बाद जब मैं गुरुकुल से रिटायर होकर बम्बई रहने लगा तब मेरा पता पूछकर मुझे मिलने मेरे स्थान पर भी आये। उन दिनों मैं खार में रहता था।

जहाँ हमने आश्रम बनाया था वहाँ साथ के मकान में एक सज्जन कृष्णराव नाम के रहते थे। ये व्यायाम के माहिर थे। बड़ा गठीला शरीर था। कहते थे कि वे सरकारी अफ़सर हैं—स्टेट में व्यायाम का प्रचार करते हैं। एक दिन वे मुझे कहने लगे कि वे एक सरकस बना रहे हैं, बड़ा-सा शामियाना बनाकर जगह-जगह जायेंगे, खेल दिखलायेंगे, टिकट लगायेंगे और पैसा कमायेंगे। एक तरह का राममूर्ति की तरह का खेल दिखाने का सरकस होगा। उन्होंने कहा कि मैं भी उनके साथ चलूँ और जब वे खेल दिखा चुकें तब उनके शामियाने में आर्यसमाज पर व्याख्यान दूँ।

प्रचार के लिए यह योजना मुझे बहुत अच्छी लगी। मुझे कोई प्रबन्ध करना नहीं पड़ेगा, शामियाना लगा-लगाया मिलेगा, जनता भी मिलेगी सुनने के लिए। मैं उनके साथ हो लिया। हम लोग पहले-पहल जहाँ गये वहाँ हम एक स्कूल के हेडमास्टर से मिले। उन्हें व्यायाम के लाभ आदि के विषय में जानकारी दी। पहला शो बालकों के लिए मुफ्त था। कृष्णराव जी ने अपने व्यायाम दिखलाये, अन्त में मैंने शारीरिक तथा मानसिक विकास पर व्याख्यान दिया। परन्तु आर्थिक तथा व्यावसायिक दृष्टि से कृष्णराव जी की यह योजना चलनेवाली नहीं थी। एक-दो खेल दिखाने के बाद हम लोग वापस लौट आये। एक लाभ अवश्य हुआ। जिस स्कूल के लोगों से हम मिले उसके हेड मास्टर ने मेरा व्याख्यान कराया। वहाँ एक युवक थे—रामचन्द्रन। वे मेरे गुरुकुल-सम्बन्धी विचारों से प्रभावित हुए। अन्त में वे गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में अध्यापक होकर चले गये। बहुत साल बाद जब मेरी पत्नी श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल राज्य-सभा की सदस्य बन गईं तो श्री रामचन्द्रन मुझे दिल्ली में मिले जबकि वे कर्नल रामचन्द्रन कहलाते थे और श्री गुलज़ारीलाल नन्दा के भारत-सेवक-समाज के मुख्य कर्त्ता-धर्ता थे। क्योंकि मेरी पत्नी भारत-सेवक-समाज में मुख्य रुचि रखती थीं इसलिए भारत-सेवक-समाज की मीटिंगों में बरसों बाद उनका साक्षात्कार हुआ। कहने को वे कर्नल थे, परन्तु रहते ठीक गांधी जी के वेश में थे। वही घुटनों तक की आधी धोती, नंगा बदन, कमर से लटकती घड़ी, कन्धे पर थैला और हँसता मुख।

जिन दिनों मैं बैंगलौर में था उन दिनों एक वार महात्मा गांधी मुहम्मद-अली और शौकत अली के साथ भारत का दौरा करते हुए बैंगलौर भी पधारे। वे खिलाफ़त के दिन थे। महात्मा जी का स्वागत करने तथा उनका भाषण कराने की ज़ोर-शोर से तैयारियाँ हो रही थीं। वालंटीयर भर्ती हो रहे थे। प्रत्येक वालंटीयर को खाकी वर्दी सस्ते में वनवाकर दी जा रही थी। मैं भी वालंटीयरों में भर्ती हो गया खाकी वर्दी पहने। मेरी ड्यूटी खास गांधी जी पर लगाई गई थी। जिस दिन गांधी जी की पार्टी बैंगलौर आयी तब की मीटिंग मुझे अवतक याद है। इतनी भीड़ थी कि आदमी पिसा जाता था। हम लोगों ने गांधी जी के चारों तरफ़ एक रिंग वना लिया था और गांधी जी के दर्शन के लिए उमड़ती जनता का धक्का अपने ऊपर झेलते रहे। इस मीटिंग में महात्मा जी ने अपनी फूलों की माला आदि नीलाम की जिसका खूब रुपया आया। लोग धन, ज़ेवर, घड़ियाँ—न-जाने क्या-क्या दिये जा रहे थे, साथ ही उन वस्तुओं की नीलामी भी चलती जाती थी।

मीटिंग के वाद गांधी जी के निवास-स्थान पर हम पहुँचे। दूसरों ने तो चाय-विस्कुट खूब खाया, पर गांधी जी ने सिर्फ़ गर्म पानी का एक प्याला और शायद उसमें थोड़ा-सा नमक डालकर लिया। यह पहला अवसर था जब मैं गांधी जी से आमने-सामने मिला और उनसे प्रत्यक्ष वातचीत हुई। क्या वातें हुईं याद नहीं, परन्तु एक बात याद है। मैंने उनसे पूछा—क्या मदनमोहन मालवीय इस आंदोलन में आपके साथ हैं? गांधी जी के शब्द अवतक मुझे स्मरण हैं। उन्होंने कहा—He is a quandarum—अर्थात्, वे एक पहेली हैं जिसे वूझ सकना कठिन है।

मैं वैंगलौर से मैसूर भी जाया करता था। एक बार मैं हसनपुर तालुके से होता हुआ मैसूर गया। रास्ते में हसनपुर उतरा और मेरा वहाँ व्याख्यान रखा गया जिसका विषय था A Living Religion। उन दिनों कांग्रेस का आन्दोलन ज़ोर-शोर से चल रहा था। किसी टोडी ने एक पर्चा कलेक्टर तक पहुँचा दिया। कलेक्टर ने समझा यह कोई राजनैतिक मामला है। उसने मेरे नाम नोटिस जारी कर दिया कि मैं फ़ौरन इलाका छोड़कर चला जाऊँ और कोई व्याख्यान न दूँ। मैं मन में हँसा। कलेक्टर इस वात को भी न समझा कि विषय धर्म-सम्बन्धी है, राजनीति-सम्वन्धी नहीं। मैं राजनैतिक कार्यकर्ता तो नहीं था, मैं विना व्याख्यान दिये मैसूर चला गया। संवाददाता ने समाचार-पत्रों में छाप दिया—Prof. Satyavrata Gagged। जब मैं मैसूर पहुँचा तो मेरे जानकार पूछने लगे कि क्या मामला हो गया था? मैंने स्थिति स्पष्ट की तो वे भी कलेक्टर की नासमझी पर हँसने लगे। कलेक्टर समझा होगा कि जीवित धर्म यही हो सकता है कि कांग्रेस का साथ दो और ब्रिटिश गवर्नमेंट का विरोध करो।

मैसूर में हमने एक फ्लैट किराये पर लिया हुआ था। मैं और स्वामी सत्यानंद

जी वहीं रहते थे, परन्तु खाना एक सज्जन के यहाँ खाते थे जिनका नाम सुखानन्द था। वे उत्तर-भारत के सज्जन थे, मैसूर में सर्राफ़े का काम करते थे। बूढ़े थे, परन्तु कर्नाटक की ही दो पत्नियाँ कर रखी थीं, बच्चा किसी के न था। दोनों बहनें थीं। बड़ी का नाम रामाबाई था, छोटी का ताराबाई। ताराबाई रसोई का सब काम सम्भालती थी, बड़ी पत्नी खूब सज-धजकर आराम से कुर्सी पर बैठी गप्पें हाँका करती थी। एक दिन बड़ी ने स्वामी जी से कहा कि वह एक बच्चा गोद लेना चाहती है, कोई छोटा बच्चा हो जिसे वह पाल सके तो बतलायें। स्वामी जी ने मुझसे ज़िक्र किया। मैंने कहा, मेरा एक भाई है पाँच बरस का, उसे अगर वह गोद ले लें तो कैसा रहेगा? वह मान गई और उसने मुझे २५० रुपये दिये ताकि कोई जाकर बच्चे को ले आये। मैंने अपने छोटे भाई सोमदत्त को जो बम्बई में बिज़िनस करने लगा था सारी कहानी लिख भेजी और उसे २५० रुपये भेज दिये। मेरा सबसे छोटा भाई ब्रह्मदत्त था जो माता जी के पास सबद्दी में रहता था। सोमदत्त उसे बैंगलौर ले आया। मैं सोचता था कि हमारा परिवार सम्पन्न नहीं है। यह लड़का इस माई के पास रहकर पढ़-लिखकर सम्पन्न हो जाएगा और इसे रुपये-पैसे की दिक्कत नहीं रहेगी। यह स्थिति थी उस समय हम लोगों की। ब्रह्मदत्त महीनाभर मैसूर रहा होगा कि इतने में मेरी बहन सावित्री की शादी तय हो गई अतः हमें सबद्दी जाना पड़ा। ब्रह्मदत्त को भी मैं साथ ले गया और फिर वह लौटकर नहीं आया, सबद्दी ही रह गया। ब्रह्मदत्त को सबद्दी छोड़ने में एक और भी कारण था। मैसूर की वह देवी उसे इतना प्यार करने लगी थी कि वह उच्छृंखल होने लगा था। एक दिन उसने मेरे मुख पर थूक दिया। मैंने उसे कसकर लप्पड़ मारा और निश्चय कर लिया कि इसका इस देवी के साथ रहना इसे बिगाड़ देना होगा।

सावित्री की शादी के बाद मैं बैंगलौर लौट आया। इन दिनों मेरा छोटा भाई सोमदत्त व्यापार में अपनी जड़ें जमा रहा था। छोटा-मोटा व्यापार करने लगा था। बड़ा भाई धर्मदत्त मंसूरी के डाकखाने में काम करता था। उसे किन्हीं कारणों से अपनी नौकरी छोड़नी पड़ी, वह सीधे मेरे पास बैंगलौर चला आया।

६. स्नातक होने के बाद मैं गुरुकुल में

बड़े भाई के मेरे पास आने के कुछ दिनों बाद आचार्य रामदेव जी का गुरुकुल में एक पत्र मुझे मिला उसमें लिखा था कि उन्होंने पंजाब में 'दयानन्द सेवा-सदन' नाम से एक संस्था की स्थापना की है। वे चाहते हैं कि मैं इस संस्था का सदस्य बन जाऊँ। इस संस्था का उद्देश्य यह था कि जिस व्यक्ति को योग्य समझा जाय कि वह अपने को आजीवन आर्यसमाज के कार्य के लिए अर्पित रह सकता है उसे सदस्य बनाया जाय। यह संगठन लगभग सर्वेंट्स ऑफ इण्डिया सोसाइटी

की तरह का था। इसका उद्देश्य वेतन-प्रधान न होकर सेवा-प्रधान था। मैंने अपने भाई से परामर्श किया। वे कहने लगे—तुम इतनी दूर पड़े हो, क्या आयु-भर इधर ही पड़े रहना है...अपने सगे-सम्बन्धियों से दूर? यह रुचता नहीं। मैं भी अपने को इधर इकला अनुभय करता था। काम में ज़रूर लगा रहता था, परन्तु कभी-कभी प्रश्न उठता था कि क्या जीवन इधर ही कटेगा? मुझे 'दयानन्द-सेवा-सदन' का सदस्य होकर गुरुकुल काँगड़ी में उपाध्याय के पद पर नियुक्त करने का प्रो०रामदेव जी का विचार था। १९२३ में मैंने उक्त प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और बैंगलौर से सीधा गुरुकुल काँगड़ी चला आया। दयानन्द-सेवा-सदन के छः ही सदस्य रहे। वे थे—प्रो० रामदेव जी, पण्डित चमूपति जी, पण्डित ज्ञानचन्द्र जी, पण्डित बुद्धदेव जी, डॉ० राधाकृष्ण जी और मैं। इस समय उक्त सदस्यों में सिर्फ़ पण्डित ज्ञानचन्द्र जी और मैं ही जीवित हैं, अन्य सब सदस्यों का देहावसान हो गया है। इस प्रकार बैंगलौर से आकर मेरा गुरुकुलीय जीवन प्रारम्भ हुआ। 'दयानन्द-सेवा-सदन' के सदस्यों का सेवा-काल २० वर्ष का था। सदन का सदस्य होने के बाद मेरे २० वर्ष सदन की सदस्यता में बीतने थे जिनमें से २ वर्ष फ़र्लो लेने का अधिकार था।

गुरुकुल में आकर मैं आर्यसिद्धान्त का उपाध्याय नियत किया गया। मेरी प्रायः सभी विषयों में गति थी। जिस विषय को मैंने न भी पढ़ा था उसे स्वयं पढ़-कर पढ़ा सकता था, इसलिये जब किसी विषय का प्रोफ़ेसर नहीं मिलता था, तब वह भी मुझे दे दिया जाता था। मैंने आर्यसिद्धान्त में फ्लिट की थीइस्टिक थियोरी पढ़ाई, एण्टी-थीइस्टिक थियोरी पढ़ाई, वेद में सब वेदों के चुने हुए मन्त्र पढ़ाये, अंग्रेज़ी भी पढ़ाई, दर्शन भी पढ़ाया। इन दिनों मैं हिन्दी-पत्रों में लेख भी लिखने लगा था। चाँद, सुधा, माधुरी, आज आदि पत्रों में भिन्न-भिन्न लेख लिखे। मुझे आश्रमाध्यक्ष भी बना दिया गया। प्रातः ४ बजे उठने की तो मुझे आदत थी ही, परन्तु ब्रह्मचारी देर तक सोया करते थे। मैं हाथ में डंडा लेकर हर ब्रह्म-चारी के तख्त पर ज़ोर-ज़ोर से बजाता था ताकि उसकी नींद भी खुल जाए। प्रातः ४ बजे उठने का मेरे मस्तिष्क पर इतना प्रभाव पड़ गया है कि जब मेरी नींद खुलती थी तब घड़ी में ठीक ४ बजे होते थे, अब वृद्धावस्था में जब निद्रा स्वभाव से कम हो जाती है, और जल्दी नींद टूट जाती है, तब भी मैं ४ बजे तक सोते रहना चाहता हूँ।

इन दिनों मुझे आर्यसमाजों में व्याख्यान देने के लिए बहुत जाना पड़ता था। आर्यसमाजों के जल्से में गुरुकुल के उपाध्यायों की माँग तो रहती ही थी। यह सारा बोझ मुझपर ही पड़ता था। मैं शनिवार की रात को गाड़ी चढ़कर जिस शहर में जाना होता था वहाँ सवेरे पहुँचकर रविवार को व्याख्यान देकर सोमवार को प्रातःकाल गुरुकुल में पहुँचकर अपनी क्लास ले लेता था। हमें कभी खयाल

भी नहीं आया कि डेली अलौएन्स भी कोई चीज़ होती है। गुरुकुल का वातावरण ही ऐसा था कि कभी किसी ने वेतन-वृद्धि की माँग ही नहीं की। जो जिस वेतन पर नियुक्त हुआ था वह उसी वेतन पर अन्त तक काम करता रहा। शायद इसका यह भी कारण था कि वे सस्ते के दिन थे, थोड़े में काम चल जाता था, ज्यादा माँग की ज़रूरत ही नहीं पड़ती थी।

प्रोफ़ेसर, आश्रमाध्यक्ष तथा उपदेशक के अतिरिक्त मैं रजिस्ट्रार का काम भी करता था। मेरे सहायक थे श्री रामरखा। वे आध्यात्मिक व्यक्ति थे; स्वामी सियाराम जी के शिष्य थे। स्वामी सियाराम जी कभी गुरुकुल में गणित के प्रोफ़ेसर रह चुके थे, परन्तु अब संन्यास धारण कर योगी के नाम से प्रसिद्ध थे। वे तरह-तरह के योग-सम्बन्धी परीक्षण करते थे। कभी सिर्फ भूसा खाते, कभी सिर्फ मट्टी का तेल पीते, परन्तु उनकी मुख्य शिक्षा सद्व्यवहार की थी। मनुष्य का व्यवहार सच्चा और ईमानदारी का होना चाहिए—यह उनका मुख्य उपदेश था।

मैं गुरुकुल के लिए धन-संग्रह के लिए भी बाहर जाया करता था। मैं प्रोफ़ेसर रामदेव जी के साथ गुरुकुल के लिए धन-संग्रहार्थ दक्षिण अफ्रीका गया हुआ था। हमारे पीछे १९२४ में गंगा में भयंकर बाढ़ आयी और गुरुकुल की बहुत-सी इमारतें नष्ट हो गईं। प्रोफ़ेसर रामदेव जी तो धन-संग्रह के लिए कुछ देर के लिए अफ्रीका रह गये, मैं लौट आया। उस समय तक मेरे भाइयों का बिजली का व्यापार बम्बई में चमक उठा था। वे मुझे लेने आये और कहने लगे कि गुरुकुल तो बह गया, वहाँ जाकर क्या करोगे?

७. विवाह तथा उसके बाद का जीवन

मेरे परिवार का कोई व्यक्ति ऐसा नहीं था जो मेरे विवाह की ज़िम्मेदारी लेता। एक बार पं० विश्वम्भरनाथ जी ने किसी सज्जन को मुझे मिलाया जिनकी कन्या विवाह योग्य थी। मेरी आयु उस समय २८ वर्ष के लगभग थी, परन्तु मैंने विवाह की बात कभी सोची ही न थी। एक बार प्रोफ़ेसर रामदेव जी बिजनौर-आर्यसमाज के उत्सव पर से लौटे तो उन्होंने वहाँ के पं० जयनारायण शुक्ल की कन्या के विवाह की मुझसे चर्चा की। कन्या बी०ए० में पढ़ रही थी। मैंने सोचा इतनी पढ़ी-लिखी कन्या मुझसे विवाह क्यों करने लगी? उन दिनों कन्याओं का उच्च-शिक्षा प्राप्त करना एक अनहोनी-सी घटना थी। परन्तु बातचीत चलनी शुरू हो गई। चन्द्रावती जी के पिता के पत्र आने लगे। मैंने बहुत सोच-विचारकर लिख दिया कि जबतक कन्या की स्वीकृति नहीं होगी इस विषय को आगे न बढ़ाया जाय। इतने में मथुरा शताब्दी आ पहुँची। यह निश्चय हुआ कि मैं तथा चन्द्रावती जी एक-दूसरे को देख लें और तब बातचीत आगे बढ़े। मथुरा शताब्दी पर हम दोनों ने एक-दूसरे को देखा, परन्तु कोई निश्चित परिणाम न निकल

सका। हम दोनों का पत्र-व्यवहार तो जारी हो गया, परन्तु अन्त में उनके पिता पं० जयनारायण जी का पत्र आया कि कन्या अपनी शिक्षा पूरी करने को विवाह की अपेक्षा अधिक महत्त्व देती है। परिणामत: बातचीत समाप्त हो गई। जब कन्या ने बी० ए० पास कर लिया तब पं० जयनारायण जी के फिर पत्र आने लगे और मैंने अपने परिवारवालों को इसकी सूचना दी। पं० जयनारायण जी शुक्ल कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे, हम लोग सारस्वत ब्राह्मण। बिरादरीवाले कहने लगे कि यह विवाह नहीं हो सकता क्योंकि शुक्ल ब्राह्मण कान्यकुब्ज होते हैं, सारस्वत कान्यकुब्ज नहीं होते। दोनों पक्षों में बहुत देर तक झगड़ा चलता रहा। अन्त में १५ जून १९२६ को यह विवाह सम्पन्न हो गया।

चंद्रावती जी के मेरे साथ विवाह से कान्यकुब्ज-संप्रदाय में तहलका मच गया। वे अपने को न जाने कितना ऊँचा समझते थे! समाचार-पत्रों में इस विवाह के विरुद्ध लेख छपने लगे। हम दोनों का परिवार आर्यसमाजी तथा कांग्रेसी था। कोई लेना-देना नहीं हुआ। विवाह में साड़ियाँ भी सब खद्दर की थीं। वर-वधू ने वस्त्र भी खद्दर के ही पहने हुए थे। विवाह के उपरान्त चन्द्रावती जी ने इच्छा प्रकट की कि वे एम० ए० करना चाहती हैं। मैंने विवाह के तुरन्त बाद उन्हें इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अगले सेशन में ही इलाहाबाद भेज दिया और दो साल तक अंग्रेजी में एम०ए० करके वे घर लौटीं। जब वे लौटीं तब कांग्रेस का सत्याग्रह-संग्राम ज़ोरों पर था। पढ़ाई से लौटने पर हम दोनों कांग्रेस के आंदोलन में जुट गये। १९२९ के दिसम्बर में लाहौर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ जिसमें रात के १२ बजे तक हम इन्तिज़ार करते रहे कि भारत को डोमिनियन स्टेटस देने की घोषणा विलायत से की जायेगी, कांग्रेस ने ब्रिटिश शासन को नोटिस दे दिया था कि अगर उस दिन तक डोमिनियन स्टेटस नहीं दिया तो हम पूर्ण स्वराज्य की माँग कर देंगे। इस अधिवेशन के सभापति पं० जवाहरलाल थे। जब रात के १२ बजे तक डोमिनियन स्टेटस की घोषणा नहीं हुई तब पूर्ण स्वराज्य की माँग का प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। इस अधिवेशन में हम दोनों उपस्थित थे। लाहौर से लौटने पर शराब की दुकानों पर धरना, विदेशी कपड़े का जलाना, हरिद्वार के विदेशी कपड़े के व्यापारियों की दुकानों पर विदेशी कपड़े का बायकाट, उनके विदेशी कपड़े को गाँठ में बँधवाकर रखना—अब इस काम में हम लोग जुट गये। सायंकाल बड़ी वैगन में चढ़कर गुरुकुल की देवियाँ चन्द्रावती जी के नेतृत्व में हरिद्वार जातीं और ३ घण्टे तक आन्दोलन कर रात को घर लौट आतीं। आन्दोलन दिनोंदिन ज़ोर पकड़ता गया। मैं भी इस आन्दोलन में जी-जान से जुटा था। इन दिनों हमारे आन्दोलन का केन्द्र रुड़की था। रुड़की के गाँव-गाँव में हमारे वालंटीयर जाते थे, कांग्रेस का संदेश सुनाते थे। एक दिन रुड़की में एक बड़ी कान्फ़रेन्स रखी गई जिसमें १०,००० किसान इकट्ठे हुए। वे बड़े उग्र स्वभाव के थे। वहाँ लाठी

चल गई, गोली भी चली। इस कान्फ़रेन्स के सेनापति थे पं० सत्यदेव भारद्वाज विद्यालंकार जो आजकल नैरोबी में रहते हैं और अत्यन्त धन-सम्पन्न हैं। हमारा एक अड्डा नारसेन में भी था जहाँ आजकल नारसेन कृषि कॉलेज खुला हुआ है। मैं पार्लियामेंट का सदस्य होने के बाद दिल्ली से देहरादून कार में जाया करता था, रास्ते में नारसेन गुरुकुल रुकता था, परन्तु वहाँ मुझे जाननेवाला कोई भी न था, न है। रुड़की की कान्फ़रेन्स में जो गोली-कांड हुआ उसमें मेरे नाम वारंट जारी हो गया और मैं ३-११-१९३० को गुरुकुल में गिरफ्तार हुआ। मेरी गिरफ्तारी का वारण्ट श्री सी०डी० जुयाल ने निकाला था। यह विधि का विधान था कि वर्षों बाद उनकी पुत्री उषा जुयाल का विवाह मेरे पुत्र विजयकृष्ण लखनपाल से हुआ। मैं १९३१ को गांधी-इरविन पैक्ट में छोड़ दिया गया। उस समय मेरे साथ शाहजहाँपुर जेल में थे—कानपुर के डॉ० जवाहरलाल रस्तोगी, अलगूराय शास्त्री, श्री जौहरी तथा एक-दो और जिनका नाम भूल गया हूँ।

गांधी-इरविन पैक्ट कुछ दिन ही चला, इसके बाद फिर कांग्रेस का आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। इस बार मेरी पत्नी सत्याग्रह करती हुई पकड़ी गई। बात यह हुई कि हम लोग सायंकाल अपने मकान में बैठे थे। इतने में आगरा से एक सज्जन आये जो अब अपने को नारायणप्रिय लिखते हैं। वे आगरा के आर्यमित्र प्रेस में काम करते थे। उन्होंने कहा कि उत्तर प्रदेश कांग्रेस कमेटी को गैर-कानूनी करार दे दिया गया है। वहाँ के लोगों ने निश्चय किया है कि चन्द्रावती जी लखनपाल को इसका प्रधान घोषित कर अधिवेशन सार्वजनिक रूप से कराया जाय। यह निश्चित है कि वे तत्काल गिरफ्तार कर ली जायेंगी, परन्तु आगरावालों का अनुरोध है कि एक देवी के इस प्रकार नेतृत्व करने से कांग्रेस का बल बढ़ेगा। चन्द्रावती जी उसी समय उठकर उनके साथ हरिद्वार से आगरा चली गईं और अगले दिन समाचार-पत्रों में प्रकाशित हो गया कि चन्द्रावती लखनपाल यू०पी०-सी० सी० की अध्यक्षा के तौर पर सत्याग्रह करती हुई गिरफ्तार हो गईं। यह २० जून १९३२ की घटना है। उन्हें एक साल का कारावास हुआ। पहले सी क्लास दी गई, फिर सी० वाई० चिन्तामणि के बीच में पड़ने से उन्हें ए क्लास दी गई और उन्हें लखनऊ भेज दिया गया जहाँ श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित, श्री जुगलकिशोर जी जो कांग्रेस के जनरल सेक्रेटरी थे उनकी पत्नी शान्तिदेवी, श्री जयप्रकाश नारायण की पत्नी प्रभावती तथा अन्य जानी-मानी देवियाँ जेल-बन्द थीं। चन्द्रावती जी को जेल की एक साल की सज़ा थी। यह आश्चर्य की बात है कि जिस दिन वे जेल से छूटकर आयीं उसी दिन मेरे गाँव सवद्दी से तार आया कि माताजी सख्त बीमार हैं। उसी दिन हम दोनों रात की गाड़ी से सवद्दी जाने के लिए हरिद्वार से सवार हुए। हमारे माताजी के पास पहुँचने के दो घण्टे बाद उन्होंने प्राण त्याग दिये।

हम लोग लौटकर जब हरिद्वार पहुँचे तब मेरे ससुर का लड़का शान्तिस्वरूप बी०ए० पास कर चुका था और उसके पिता चाहते थे कि उसे बनारस विश्व-विद्यालय में बी० टी० में भर्ती कराया जाय। बी० टी० में दाखिला बड़ा कठिन था इसलिए चन्द्रावती जी की ड्यूटी लगाई गई कि वे बनारस जाकर प्रिंसिपल लज्जाशंकर झा से मिलें और उनसे उसके दाखिले की सिफारिश करें। झा साहब ने कहा—मैं तुम्हें तो दाखिल कर सकता हूँ, उसे नहीं क्योंकि उसके अंक दाखिले के लिये पर्याप्त नहीं हैं। मैंने कहा, चलो तुम्हीं बी०टी० बन जाओ। वे बनारस-विश्वविद्यालय के ट्रेनिंग कॉलेज में दाखिल हो गईं और वहाँ जो कुछ पढ़ा था उस आधार पर 'शिक्षा-मनोविज्ञान' नामक ग्रन्थ भी लिख डाला जिसपर अप्रैल —२० अप्रैल १९३५—में मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त हुआ। इस ग्रन्थ के विषय में श्री लज्जाशंकर झा ने लिखा कि यह ग्रन्थ लिखकर चन्द्रावती जी ने वरतन्तु के शिष्य के समान अपनी शिक्षा-संस्था को १४ करोड़ की दक्षिणा चुका दी थी। इससे पहले १९३४ में उन्हें 'स्त्रियों की स्थिति' ग्रन्थ पर सेकसरिया-पारितोषिक मिल चुका था। इन ग्रन्थों के प्रकाशन से उनका हिन्दी-जगत् में नाम प्रसिद्ध हो गया और कई जगह से उन्हें प्रिंसिपलशिप के निमन्त्रण आने लगे।

८. गुरुकुल का मुख्याधिष्ठाता

यह संयोग की बात है कि १९३५ का वर्ष हमारे सारे परिवार के लिए बड़ा शुभ रहा। १६ फरवरी, शनिवार १९३५ को ८.३७ (रेलवे टाइम) पर मेरे एक-मात्र पुत्र विजय लखनपाल का जन्म खार (बम्बई) में अजंकिया अस्पताल में हुआ। उत्पत्ति का वजन ६।। पौंड था। १६ फरवरी १९३५ को ही हमारे भाई की दुकान शर्मा ट्रेडिंग कम्पनी में फ्यूज़ होने से आग लगी, परन्तु वह पूर्णतया इन्श्यूर थी। यद्यपि हम इसे अपशकुन समझते थे, परन्तु आग लगने के बाद दुकान दुगुनी बन गई। २२ मार्च १९३५ को श्री लज्जाशंकर झा का पत्र आया कि चन्द्रावती जी को प्रोफ़ेशरशिप देना चाहते हैं। २३ जून १९३५ को मुझे गुरुकुल की स्वामिनी-सभा का तार आया कि मुझे गुरुकुल का मुख्याधिष्ठाता नियत किया गया है। मैं बम्बई से गुरुकुल का मुख्याधिष्ठाता बनकर लौटा। अप्रैल १९३५ में चन्द्रावती-लखनपाल को महात्मा गांधी के सभापतित्व में इन्दौर में मंगलाप्रसाद पारितोषिक दिया गया। विजय अभी शिशु ही था, उसे सम्भालने के लिए चन्द्रावती की छोटी भाभी श्रीमती सुशीला लखनपाल उनके साथ गईं। सुशीला लखनपाल तथा चन्द्रावती लखनपाल का इस काल से आजीवन प्रेममय सम्बन्ध हो गया।

मुख्याधिष्ठाता बनकर गुरुकुल आने के बाद मैंने गुरुकुल के विकास की योजना बनाई। गुरुकुल अबतक चन्दे के बल पर चल रहा था। चन्दा आना बहुत कम हो गया था। मेरी पहली और मुख्य योजना थी गुरुकुल फ़ार्मेसी का विकास, दूसरी

योजना थी आम्रोद्यानों का लगाना। फ़ार्मेसी के विकास के लिए विज्ञापन आवश्यक था। विज्ञापन के लिए प्रेस आवश्यक था। बाढ़ में गुरुकुल की प्रेस नष्टप्राय हो चुकी थी। मेरे लिए प्रेस को खड़ा कर उसके द्वारा फ़ार्मेसी की ओषधियों को जन-जन तक पहुँचाने की योजना थी। मैंने 'गुरुकुल' नाम का एक साप्ताहिक पत्र जारी किया। समाचार-पत्र पर डाक-व्यय बहुत कम लगता है। गुरुकुल के प्रत्येक संरक्षक को जिसका पुत्र गुरुकुल में पढ़ता था इस पत्र का ग्राहक होना आवश्यक कर दिया। पत्र-छपाई का काम भी आने लगा, कुछ नये ग्राहक भी बनाये गये। उन दिनों प्रत्येक डाकखाने ने अपने-अपने शहर के मुख्य व्यक्तियों की डायरेक्टरी छापी हुई थी। उन डायरेक्टरियों को खरीदकर मैंने पते लिखवाने शुरू किये। ब्रह्मचारी जितने पते लिखता था उस हिसाब से उसे मेहनताना दिया जाता था। प्रेस में 'गुरुकुल' पत्र में सब दवाइयों का इश्तिहार छपवाकर उसकी एक लाख प्रतियाँ छापी गईं और दिवाली के अवसर पर बोरियाँ भरकर डाकखाने में डाल दी गईं। टिकट कम लगाने में जो बचत हुई उससे 'गुरुकुल' पत्र तथा प्रेस का घाटा पूरा कर दिया गया। इस इश्तिहार से इतने ऑर्डर आने लगे कि फ़ार्मेसी एक बड़े कारखाने का रूप धारण कर गई। इस योजना से प्रेस भी उठ खड़ा हुआ, फ़ार्मेसी भी उठ खड़ी हुई, गुरुकुल के लिए एक समाचार-पत्र का भी श्रीगणेश हो गया। यह योजना कई वर्ष तक चलती रही और फ़ार्मेसी की आय बढ़ती रही। मेरा यह लक्ष्य भी रहा कि फ़ार्मेसी के डीलर गुरुकुल के स्नातक बनाये जायें जिससे उनकी आजीविका का प्रश्न भी हल हो जाय। मुझे यह देखकर हर्ष हुआ कि इस फ़ामसी ने न केवल गुरुकुल की आर्थिक समस्या को हल किया, इससे गुरुकुल के अनेक स्नातकों की आजीविका के प्रश्न का भी हल हुआ।

मेरी दूसरी योजना आम्रोद्यानों के आरोपण की थी। गुरुकुल के प्रोफ़ेसर-क्वार्टरों के पीछे जगजीतपुर गाँव से पहले एक छोटी-सी नहर है। गंगा की बड़ी नहर तथा उस छोटी नहर के बीच बहुत बड़ी ज़मीन पड़ी हुई थी। मेरी योजना यह थी कि इस सारी ज़मीन को खरीद लिया जाय और सब जगह उत्तम कलमी आम लगा दिये जायें। कुछ साल बाद उससे लाखों की आमदनी होगी जो गुरुकुल को चलाने में मदद देगी। यह योजना पूरी नहीं हो सकी, परन्तु जितनी भी हुई उससे गुरुकुल को २५ हज़ार सालाना तो मिलने ही लगा था। अब स्थिति क्या है—इसका मुझे ज्ञान नहीं। इसी प्रसंग में मैंने सैकड़ों युकेलिप्टस के पेड़ हर बिल्डिंग के चारों तरफ़ लगवाये थे। एक प्रसिद्ध विशेषज्ञ डॉ० धर्मवीर गुरुकुल पधारे थे। उन्होंने कहा था कि युकेलिप्टस के पेड़ से मलेरिया के मच्छर नहीं रहेंगे। लगवाये तो थे मलेरिया की रोक-थाम के लिए, परन्तु सुनता हूँ कि अब वे ४०-५० साल के हो गये हैं और एक-एक पेड़ को २-३ हज़ार में बेच दिया गया है। अब जो लोग वहाँ काम कर रहे हैं उन्होंने भी हज़ारों युकेलिप्टस के पेड़ लगवा दिये हैं

और आशा करनी चाहिए कि किसी समय उनके द्वारा गुरुकुल को लाखों की आमदनी होगी।

इस स्थल पर गुरुकुल-जीवन की कुछ घटनाओं का उल्लेख करना असंगत नहीं होगा। मैं प्राय: प्रतिवर्ष गर्मियों की छुट्टियों में मसूरी जाया करता था। जब मैं अविवाहित था तब वाचस्पति नाम के मेरे एक मित्र वहाँ वैद्यक किया करते थे; लैंडौर बाज़ार में रहते थे, वहीं उनका मकान था। पं० श्रीधर पाठक जो हिन्दी के प्रसिद्ध कवि थे वे भी मसूरी आया करते थे। सैर-सपाटे में उनसे भेंट हो जाती थी। वे भी वैद्य वाचस्पति के यहाँ आ बैठा करते थे। पाठक जी के साथ स्नेह बढ़ता गया। तदनुसार विवाहोपरान्त भी मैं सपरिवार मसूरी जाता रहा। उनकी पुत्री ललिता पाठक मेरी पत्नी की सहपाठिनी थी। इस जानकारी के कारण कभी-कभी वे हमारे यहाँ भी आ जाते थे। एक दिन उनका सेवक एक पर्चा लेकर हमारे यहाँ आया। जहाँ हम ठहरे थे उस कॉटेज का नाम शान्ति कुंज था, वे ठहरे थे विलो लॉज में। दोनों स्थान निकट ही थे। पर्ची में लिखा था, मैं सख्त बीमार हूँ, मुझे देख जाओ। गया तो देखा कि उन्हें ब्रेन हैमरेज हो गया था। तत्काल उन्हें रिक्शा में डालकर सिविल अस्पताल ले गया। उनके ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर पाठक को इलाहाबाद तार दिया। अगले दिन वे भी पहुँच गये। रातभर हम दोनों उनके पास जागते हुए बैठे रहे। प्रात:काल उनका देहान्त हो गया। अगले दिन उनकी अन्त्येष्टि वैदिक संस्कार से की गई और उनकी अस्थियों को लेकर उनके पुत्र इलाहाबाद रवाना हो गये। समाचारपत्रों में उनके देहान्त और किस गाड़ी से उनका भस्म आ रहा है तारों द्वारा सूचना दे दी गई थी। जगह-जगह उनके भक्त अस्थि-अवशेष का स्वागत करने उपस्थित थे।

मेरे मसूरी-काल में ही मेरा श्री शुकदेव विहारी मिश्र से भी परिचय हुआ। वे भी वहीं ठहरे थे जहाँ हम लोग ठहरे थे। वे हिन्दी के जाने-माने लेखक थे। उन्हें शेयर खरीदने का शौक था। मैं नहीं जानता था कि शेयर क्या वस्तु है। वे कहने लगे कि जो तुम्हारे पास रुपया हो उससे इंडियन आयरन के शेयर खरीद लो, वे दो-चार मास में दुगुने-चौगुने हो जायेंगे। मेरे पास कुल जमा पूंजी २ हज़ार थी। उस समय इस शेयर का दाम १५ रु० था। इसलिये १०० शेयर के १५०० खर्च हो गये। परन्तु देखते-देखते यह शेयर ३०,४०,५०,६० तक हो गया। मैंने यह शेयर बेच दिया। छुट्टियाँ समाप्त हो गईं, मैं मसूरी से गुरुकुल आ गया। अभी ६००० रु० आया नहीं था कि इतने में एक सब-जज जो मेरे परिचित थे आ गये और मैंने इस शेयर की बात की। वे बोले, बहुत ग़लती की, यह शेयर तो १०० तक जानेवाला है, मैं अभी कलकत्ता से आ रहा हूँ, तार देकर फिर खरीद लो। मैंने तार दिया तो वह ७५ तक पहुँच चुका था। अब २५०० मुझे और देना था जो मेरे पास नहीं था। मैंने तार दिया बेच दो, तबतक वह नीचे लुढ़क गया था।

नतीजा यह हुआ कि मेरे पास जो २००० की पूँजी थी वह सफ़ाया हो गई। इसका मुझे बड़ा धक्का लगा, यहाँ तक कि मुझे उन्निद्र रोग हो गया। मैंने कभी सुना भी नहीं था कि उन्निद्र रोग भी होता है, परन्तु रोग तो रोग है, जब हो जाता है तब पता चलता है, यह चिन्ता का रोग है। मैं छुट्टी लेकर अपनी ससुराल बिजनौर चला गया। वहाँ मेरे गुरुकुल के सहपाठी डॉ० ओम्प्रकाश रहते थे। जिस मकान में मैं ठहरा था उसके साथ ही उनका मकान था, परन्तु मैंने तबतक होम्योपैथी का नाम नहीं सुना था। मैं किसी डॉक्टर से नींद की दवा ला रहा था, सम्भवतः ब्रोमाइड था। इतने में मेरी पत्नी आयी और उसने वह शीशी मुझसे छीनकर पटक दी, वह ऐलोपैथी के इतना खिलाफ थी। वह जल-चिकित्सा की भक्त थी। उसके ताऊ तो जल-चिकित्सा की ही रट लगाया करते थे। मुझे ठण्डे पानी के टब में बिठा दिया जाता और जल-चिकित्सा के सब उपाय किये जाते; परन्तु किसी से लाभ नहीं हुआ, मेरी तबीयत बिगड़ती ही चली गई। इतने में डॉ० ओम्प्रकाश मुझे मिलने आ पहुँचे। वे बोले, किस पचड़े में पड़े हो? मैं तुम्हारा इलाज होम्योपैथी से कर दूंगा। उन्होंने पहला जो डोज़ दिया उससे मैं दो घण्टे तक दिन में चैन से सोया। उसके बाद तो उनकी सभी पुस्तकें पढ़ डालीं और होम्योपैथी का मुझे व्यसन-सा हो गया। मैंने गुरुकुल लौटकर होम्योपैथी के प्रसिद्ध चिकित्सक डॉ० युद्धवीर सिंह के व्याख्यान कराये और निश्चय कर लिया कि अपने आयुर्वेदिक कॉलेज में होम्योपैथी की भी एक चेयर खोल दी जाय। सभा से प्रस्ताव भी पास करवा लिया; होम्योपैथी की लगभग १०,००० रुपये की पुस्तकें भी पुस्तकालय के लिए मँगवा लीं। यह भी निश्चय कर लिया कि डॉ० ओम्प्रकाश जी को आयुर्वेद कॉलेज में होम्योपैथी का शिक्षक रख लिया जाएगा, परन्तु इतने में मेरा २० वर्ष का सेवा-काल समाप्त हो गया और मैंने सम्मानपूर्वक गुरुकुल से विदा ली। मुझे विदा देने के लिए सभा के सब सदस्य गुरुकुल में उपस्थित थे। ११ नवम्बर १९४१ में मैंने २ साल की अधिकृत फ़र्लो लेकर गुरुकुल छोड़ दिया। १९२३ में आया था, १९४१ में चला गया।

जिन दिनों मैं बीमार था उन दिनों मेरी पत्नी महादेवी कन्या पाठशाला देहरादून की प्रिन्सिपल नियुक्त हो गई थीं। ७ जुलाई १९३८ को वे वहाँ प्रिन्सिपल नियुक्त हुईं और दिसम्बर १९४१ तक इस पद पर कार्य करती रहीं। इस बीच उनके कन्धों पर काम का इतना बोझ आ पड़ा था कि उनका स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। पाठशाला में भी पार्टीबाजी चल रही थी। एक तरफ़ आर्यसमाज पार्टी थी, दूसरी तरफ माथुर पार्टी थी जिसके नेता आनन्दस्वरूप सिन्हा थे। उनके शासन-काल में चन्द्रावती जी को बहुत परेशानी रही। इसी काल में मेरी बहन कौशल्या-देवी उनके पास रहीं और उसने मैट्रिक्यूलेशन किया; इन्हीं दिनों उनके सबसे छोटे भाई चेतनस्वरूप शुक्ल ने उनके पास रहकर डी० ए० वी० कॉलेज से शिक्षा

प्राप्त की; उन्हीं दिनों उनकी बहन प्रभा उनके पास रही। जब मैंने १९४१ में गुरुकुल काँगड़ी से मुक्ति प्राप्त कर ली तो मैं, वे तथा विजय बम्बई के लिए चल दिये और चन्द्रावती जी ने महादेवी कॉलेज से त्याग-पत्र दे दिया। इस काल में हम देहरादून में डालनवाला में ५ बीघे का एक प्लॉट ले चुके थे। प्लॉट लिये तो सभी भाइयों ने थे, परन्तु अन्य भाइयों ने बेच दिये, हमने नहीं बेचा था।

इससे पहले कि मैं गुरुकुल का प्रकरण समाप्त कर आगे बढ़ूं मैं इस बात पर प्रकाश डालना चाहता हूँ कि मैंने दो साल की फ़र्लो लेकर संस्था को क्यों छोड़ दिया। मैं संस्था का मुख्याधिष्ठाता था, पं० देव शर्मा जी (स्वामी अभयदेव जी) संस्था के आचार्य थे। मेरा क्षेत्र प्रबन्ध का था, उनका शिक्षा का था। वे साल में ३-४ महीने पांडेचरी चले जाते थे और वहाँ से आदेश भेजा करते थे। उन्होंने प्रत्येक शिक्षक को लिखना शुरू किया कि वे अपना वेतन कम करें। उस समय प्रोफ़ेसरों को १५० रुपया मासिक मिलता था, मुझे 'दयानन्द सेवा-सदन' का सदस्य होने के नाते मुख्याधिष्ठाता होने पर भी ७५ रुपया मिलता था। स्वामी जी के इस प्रकार प्रबन्ध में दखल देने पर मुझे एतराज़ था। इस एतराज़ को देखकर उनकी माँग यह हो गई कि या तो मैं आचार्य तथा मुख्याधिष्ठाता दोनों का कार्य करूँ या वे आचार्य होने के साथ मुख्याधिष्ठाता का कार्य भी करें। मैंने उचित समझा कि जब दो साल बाद मुझे जाना ही है, तब अभी से विधान-सम्मत २ साल की फ़र्लो क्यों न ले लूं? यह सोचकर गुरुकुल का सारा दायित्व मैंने उनपर छोड़ दिया।

९. रिटायर होने के बाद मैं बम्बई में

इस समय मेरी पत्नी देहरादून में महादेवी कन्या पाठशाला की प्रिन्सिपल थीं। हमारे भाइयों का व्यापार बम्बई में था और वे देर से मुझे बम्बई आकर व्यापार में शामिल होने का आग्रह कर रहे थे। हम पाँच भाई थे, चारों व्यापार में थे, सिर्फ़ मैं शिक्षा के क्षेत्र में था यद्यपि बम्बई आने से पूर्व उन्होंने मेरे नाम से 'हिन्दुस्तान कमर्श्यल कॉरपोरेशन,' नाम से एक कम्पनी खोल रखी थी। जब मैं रेलगाड़ी से बम्बई पहुँचा तब वहाँ का आर्य-सामाजिक जगत् तथा मेरे भाइयों के अनेक व्यापारी साथी हमारा स्वागत करने के लिए स्टेशन पर उपस्थित थे। आर्य-समाजियों में वहाँ की समाज के प्रधान श्री विजयशंकर जी अपने सहयोगियों के साथ आये थे। कुछ दिन तो मैं भाइयों की दुकान पर जाता रहा, परन्तु मुझे व्यापार का कुछ अता-पता नहीं चला। बिजली का व्यापार था, माल विदेश से आता और भारत के व्यापारी भिन्न-भिन्न शहरों से आते और खरीदकर ले जाते; कुछ बिजली लगाने के ठेके थे, इन सबमें मेरी रुचि नहीं थी। मैं खाली बैठा-बैठा वह सब-कुछ देखता रहता।

इस बीच कुछ आर्यसमाजी भाई मुझसे मिलने आने लगे। बम्बई के आर्य-समाजियों की शिकायत थी कि काकड़वाड़ी आर्यसमाज, जो ऋषि दयानन्द का स्थापित किया हुआ है, उसपर एक गुट का कब्ज़ा है जिसके प्रधान श्री विजय-शंकर हैं और मन्त्री एक सभाजित् मिश्र नाम के सज्जन हैं, वे काम-काज कुछ नहीं करते, किसी को सदस्य नहीं बनने देते, शादी-ब्याह के लिए हॉल किराये पर देते हैं और सब रकम हज़म कर जाते हैं। यह सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने उनसे कहा कि अपना चन्दा मुझे दो और वह मैं तुम्हारे फ़ार्मों के साथ मन्त्री आर्यसमाज को भेज दूंगा, देखता हूँ कि सदस्य क्यों नहीं बनाते। मेरे पास १०० व्यक्तियों ने चन्दा जमा किया जो मैंने मन्त्री आर्यसमाज के पास दस्ती भेज दिया। मन्त्री महोदय ने न चन्दा स्वीकार किया न फ़ार्म लिये। सब लौटा दिया। मैंने फिर वह रुपया मनीआॅर्डर से भेजा और कुछ देर बाद फ़ार्म रजिस्ट्री से भेजे। उन्होंने किसी ग़लती से चन्दे का रुपया तो ले लिया, परन्तु फ़ार्म लौटा दिये। यह स्थिति देखकर मुझे समझ पड़ गया कि अवश्य दाल में कुछ काला है और इस स्थिति को पलटने के लिए आन्दोलन करने का निश्चय किया।

मैंने कुछ पंजाबी आर्यसमाजियों से सम्पर्क स्थापित किया और यह योजना बनाई कि हमें अपना एक अलग संगठन बना लेना चाहिए और इस आर्यसमाज पर कब्ज़ा करना चाहिए क्योंकि ऋषि दयानन्द की स्थापित की हुई यही समाज है। पंजाबी तो प्रायः सभी आर्यसमाजी ही थे। इनमें से हमने पहले श्री तलवार को पकड़ा। वे इन्शूरेंस कम्पनी के संगठनकर्ता थे और इन्श्यूरेंस के कारण सभी पंजाबियों को जानते थे। चन्दा किया गया। सेठ नारायणलाल पित्ती जो बड़ौदा कन्या महाविद्यालय के सर्वेसर्वा थे उनसे चन्दा लिया और अन्य समाजियों से भी चन्दा लिया और बम्बई आर्यसमाज के प्रधान पर यह दावा दायर कर दिया कि वास्तव में हमारी मैजॉरिटी है, परन्तु क्योंकि पदस्थ लोग नियमानुसार हमें सदस्य नहीं बनने देते इसलिये अल्पमत होते हुए भी ये बहुमत पर धोखा कर रहे हैं। बम्बई हाईकोर्ट में यह पहला केस था जिसका मुद्दा था कि अल्पमत दाव-पेंच द्वारा बहुमत का सांवैधानिक अधिकार छीन रही है। वहाँ एक व्यापारी श्यामलाल गोयल थे जो कानून को खूब समझते थे, एक ठाकुर साहब थे और मैं था। हम तीनों ही यह मुकद्दमा लड़ते रहे, चन्दा करते रहे, एक अलग समाज का निर्माण कर लिया, उसके साप्ताहिक अधिवेशन होते रहे, और मुकद्दमा भी लड़ते रहे। इस सारे आन्दोलन का परिणाम यह हुआ कि हम लोग जीत तो गये, परन्तु अब वहाँ के पुराने लोग समाप्तप्राय हो चुके हैं, किन्तु हम लोगों ने सान्ताक्रुज़ में एक भव्य समाज-मन्दिर का निर्माण कर लिया जो अब बम्बई का सर्वोत्तम समाज हो गया है। उसके आधीन शिक्षा-संस्थाएँ चल रही हैं, व्यायामशालाएँ चल रही हैं, योगाश्रम चल रहे हैं और नवीन-नवीन कार्यकर्ता उसकी तरफ़ खिंचकर चले

आये हैं। मैं १९४१ से १९४५ तक बम्बई रहा, उसके बाद देहरादून चला आया।

१०. बम्बई के बाद मैं देहरादून में

बम्बई में जाने से मुझे एक लाभ हुआ। यद्यपि मेरे भाई एक-साथ व्यापार करते थे और मुझे उन्होंने आशा दी थी कि मुझे भी व्यापार में साझीदार बना लेंगे क्योंकि उन दिनों द्वितीय विश्वयुद्ध के दिन थे और व्यापार में अच्छी आमदनी थी, तथापि मुझे साझीदार बनाने के स्थान में वे स्वयं ही जुदा-जुदा हो गये। मैंने इन चार सालों में सिर्फ़ एक बड़े ठेके में हिस्सा लिया था जिसके परिणामस्वरूप एक मकान खरीदा गया जिसका आधा हिस्सा मेरी पत्नी के नाम रजिस्टर किया गया। कुछ कैश भी मुझे मिला। यह १९४५ का समय था। मेरा चित्त भी व्यापार में नहीं लगता था। अचानक एक दिन पं० सोमदत्त विद्यालंकार का जो कन्या गुरुकुल देहरादून के सहायक मुख्याधिष्ठाता थे, पत्र आया कि कन्या गुरुकुल में सभा मेरी पत्नी चन्द्रावती लखनपाल को आचार्या बनाना चाहती है। मैंने अपने जीवन में यह देखा कि एक-के-बाद-एक ऐसी स्थिति आती चली गई कि जब मैं परिवर्तन चाहता था तब भगवान् की तरफ़ से परिवर्तन स्वयं उपस्थित हो जाता था। इस पत्र का उत्तर हमने 'हाँ' में दिया और आमन्त्रण आने पर हम दोनों और विजय देहरादून के लिए चल दिये। क्योंकि चन्द्रावती जी महादेवी कॉलेज की प्रिन्सिपल रह चुकी थीं इसलिये सभा को उनपर पूरा भरोसा था कि वे कन्या-गुरुकुल को ठीक से चला सकेंगी। इसके अतिरिक्त वे आनखशिख कांग्रेस तथा आर्यसमाजी विचारों की थीं इसलिये भी सभा चाहती थी कि कन्या गुरुकुल का कार्यभार सम्भालें। क्योंकि मैं उनके साथ था यह भी कारण था कि सभा निश्चिन्त थी कि गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली के अनुभवी व्यक्ति के साथ रहते कन्या गुरुकुल अपने पथ पर उन्नति करता जायेगा। चन्द्रावती जी तथा मैं २ जुलाई १९४५ से लेकर अप्रैल १९५२ तक कन्या गुरुकुल में ही रहे। इस प्रकार हमारे ७ साल देहरादून में कटे।

मैं क्योंकि बैंगलौर रह चुका था और देहरादून की हरियाली भी बैंगलौर की-सी थी, इसलिये देहरादून में हमने निश्चय किया कि इसी स्थान को अपना अन्तिम निवास-स्थान बनाना चाहिए। देहरादून में डालनवाला नामक एक एरिया है जिसमें ५ बीघे से कम में मकान नहीं बन सकता था। मकान के साथ बग़ीचे के लिए काफ़ी स्थान छोड़ना पड़ता था। वैसे तो सारा एरिया भरा हुआ था परन्तु आराघर ग्राम के साथ लगा हुआ पर्याप्त स्थान खाली था। वहाँ मैंने एक प्लॉट तब से ले लिया था जब चन्द्रावती जी महादेवी कॉलेज की प्रिंसिपल रह चुकी थीं।

देहरादून में मैंने स्थानीय कांग्रेसी कमेटी में भाग लेना शुरू किया, परन्तु वहाँ हर जगह की तरह गुटबाज़ी इतनी थी कि कोई नया व्यक्ति संगठन के घेरे में

प्रवेश नहीं कर सकता था। मेरा कार्य-क्षेत्र आर्यसमाज तक सीमित रहा।

मैंने देहरादून में डालनवाला में अपना एक मकान बनाया जिसका नाम 'विद्या-विहार' रखा। 'विद्या-विहार' इसलिये रखा क्योंकि यहाँ पर बैठकर ही मैंने अपने अधिकांश साहित्य का निर्माण किया। हमारे एक किरायेदार सरदार सम्पूर्ण सिंह थे। उनकी पुत्री बी० ए० में पढ़ती थी। एक दिन वह मेरे पास किसी सामाजिक विषय की समस्या को लेकर आयी। मैंने पूछा, तुम्हें यह समस्या क्योंकर उत्पन्न हुई? उसका नाम राजेन्द्र कौर था। राजेन्द्र कहने लगी कि उनके बी० ए० के कोर्स में 'सोशियॉलोजी' नाम का एक विषय इस वर्ष से चालू हुआ है। उस कोर्स में यह विषय आता है। मैंने उसे वह अंग्रेजी की पुस्तक दिखाने को कहा जिसके आधार पर वह विषय पढ़ाया जाता था। वह मैक आइवर की पुस्तक 'सोशियॉलोजी' ले आयी। उसे देखकर मैंने कहा, इस विषय पर सबसे अच्छा तो मैं लिख सकता हूँ। उसने कहा—लिखिये। मैंने सिलेबस की विषय-सूची देखकर "समाजशास्त्र के मूल-तत्त्व" पुस्तक लिख दी। यह पुस्तक इतनी चली कि इसके कई-कई संस्करण होने लगे। अन्त में जाकर, मेरे बिना किसी प्रयत्न के यह बी०ए० और एम० ए० के कोर्स में आ गयी। सोशियॉलोजी के जो अध्यापक थे वे इसी ग्रन्थ को आधार बनाकर पढ़ाने लगे। इसके बाद तो सोशियॉलोजी के हर पेपर में मैंने पुस्तक लिख डाली। एम० ए० के कोर्स 'जन-जातियाँ तथा संस्थाएँ', 'मानव शास्त्र', 'सामाजिक विचारों का इतिहास'—हर विषय पर पुस्तक लिखी और वे ही पुस्तकें इन विषयों की प्रामाणिक पुस्तकें मानी जाने लगीं। कई प्रोफ़ेसर अपनी पुस्तक भी लिखते थे और विद्यार्थियों को कहते थे कि सिद्धान्तालंकार की पुस्तक मत पढ़ो, परन्तु जितना भी मेरी पुस्तकों के विरुद्ध आन्दोलन करते थे उतनी ही मेरी पुस्तकों की माँग बढ़ती थी। मैंने शिक्षा के क्षेत्र में, समाजशास्त्र के क्षेत्र में—हर विषय पर पुस्तक लिखी और उसका जो सम्मान हुआ उसकी मुझे आशा नहीं थी। चन्द्रावती जी लखनपाल के ग्रन्थ 'स्त्रियों की स्थिति' पर उन्हें १९३४ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन से पहले सेक्सरिया पुरस्कार मिला था, फिर 'शिक्षा मनोविज्ञान' पर सम्मेलन के द्वारा उन्हें १९३५ में मंगलाप्रसाद पुरस्कार मिला और अन्त में 'समाजशास्त्र के मूल-तत्त्व' पर मुझे ३ जनवरी १९६० में मंगलाप्रसाद पुरस्कार मिला। हम ही ऐसे दम्पती थे जिन दोनों को हिन्दी साहित्य-सम्मेलन ने मंगलाप्रसाद पुरस्कार देकर सम्मानित किया। मेरे साहित्य-कार्य को देखकर गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय ने अपने एक वार्षिक उत्सव में मुझे विद्या-मार्तण्ड की उपाधि से विभूषित किया।

११. चन्द्रावती जी राज्यसभा में (१० साल तक)

अप्रैल १९५२ में भिन्न-भिन्न राज्यों की असेम्बलियों तथा पार्लियामेंट के

प्रथम बार चुनाव होने शुरू हुए। मैं उन दिनों बम्बई गया हुआ था। चन्द्रावती जी और आचार्य जुगलकिशोर जी की पत्नी श्रीमती शान्तिदेवी जी ने साथ-साथ सत्याग्रह का कार्य किया था। जेल में भी दोनों साथ-साथ रहीं। इन दोनों का पारस्परिक संबंध बहन-बहन का था। जब १९५२ के असेम्बली तथा पार्लियामेण्ट के चुनाव शुरू हुए तब मुख्यतौर पर कांग्रेस पार्टी ही थी। शान्तिदेवी जी प्रो० जुगलकिशोर की पत्नी थीं। जुगलकिशोर जी आल इण्डिया कांग्रेस के जनरल-सेक्रेटरी थे, शांतिदेवी जी उत्तरप्रदेश महिला कांग्रेस कमेटी की सेक्रेटरी थीं। उन्होंने चन्द्रावती जी का नाम राज्य-सभा की सदस्यता के लिए पेश किया जो श्री गोविन्द-बल्लभ ने स्वीकार कर लिया। राज्य-सभा क्या है—यह चन्द्रावती जी को मालूम न था। लखनऊ से महावीर त्यागी ने अपने एक प्रतिनिधि को देहरादून चन्द्रावती जी के पास भेजा और कहा कि उन्हें सूचना दे कि उनका नाम राज्यसभा की सदस्यता के लिए स्वीकृत हुआ है, वे ५०० रुपया तैयार रखें, इतना रुपया उनके पास न हो तो वे सज्जन प्रबंध कर दें। अब यह खोज होने लगी कि राज्य-सभा क्या है? पाठ्य पुस्तकें मँगवाई गयीं तो पता चला कि जैसे इंग्लैण्ड में हाउस ऑफ़ लॉर्ड है, वैसे भारत के विधान में राज्य-सभा है। देहरादून में जब यह बात फैली कि चन्द्रावती जी राज्य-सभा के लिए प्रस्तावित की गयी हैं तब शहर कांग्रेस सरकल में सनसनी फैल गयी। यहाँ के स्थानीय नेता चाहते थे कि उनकी नामज़द लीलावती झंवर को सदस्या बनाया जाय और चन्द्रावती जी पर आरोप लगाया गया कि इनके पति प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार आर्यसमाजी होने के कारण जनसंघी हैं। मैं जनसंघ का कभी सदस्य नहीं रहा, परन्तु लखनऊ तारें जाने लगीं कि जनसंघी को राज्य-सभा का सदस्य बनाया जा रहा है यद्यपि चन्द्रावती जी सदा कांग्रेसी रहीं। मेरे रिश्तेदार ब्रह्मदत्त अग्निहोत्री लखनऊ गये तो आचार्य जुगलकिशोर ने वे तारें उन्हें दिखलायीं। वे उन तारों को लेकर देहरादून लौटे और जनसंघ के प्रधान श्री चटर्जी को वे तारें दिखायीं। उन्होंने उन तारों का उत्तर यह दिया कि वे कभी जनसंघ में नहीं रहीं। उनकी प्रतियाँ लेकर वे चन्द्रावती जी के साथ लखनऊ पहुँचे। जिस गाड़ी में चन्द्रावती जी लखनऊ गयीं उसी गाड़ी में लीलावती के समर्थक श्री शांतिप्रपन्न भी पहुँचे। दोनों की भेंट लखनऊ प्लेटफॉर्म पर हुई। जनसंघ के नेता के तार जिनमें लिखा था कि चन्द्रावती का सम्बन्ध जनसंघ से नहीं था आचार्य जुगलकिशोर जी की जेब में थे और तबतक चन्द्रावती जी का राज्य-सभा के लिए चुनाव घोषित हो चुका था। लीलावती जी झंवर और उनके समर्थक अपना-सा मुँह लेकर देहरादून लौट आये।

राज्य-सभा के लिए चुने जाने के बाद चन्द्रावती जी का देहरादून रहना कठिन हो गया। उस समय कन्या गुरुकुल के अधिष्ठाता श्री ठाकुरदास अमृतधारा थे। वे आग्रह करते रहे कि चन्द्रावती जी देहरादून रहें, तब कन्या गुरुकुल सँभालती

रहें। कुछ देर तक तो वह व्यवस्था चली परन्तु यह व्यवस्था देर तक नहीं चल सकती थी। अन्त में १८-८-५२ को चन्द्रावती जी ने कन्या गुरुकुल से त्याग-पत्र दे दिया और हम दोनों दिल्ली रहने लगे। इस समय हमारा पुत्र विजयकृष्ण लखनपाल इलाहाबाद यूनीवर्सिटी में एम० ए० में पढ़ रहा था।

सदस्य चुने जाने पर सदस्य को अपने खर्च का ब्यौरा भेजना पड़ता है। चन्द्रावती जी को इसका कुछ ज्ञान नहीं था। वे एक दिन अपने कागज़ों को उलट-पलट रहीं थीं कि वह कागज़ उछलकर उनकी गोद में आ पड़ा जिसमें लिखा था कि अमुक दिन तक यह ब्यौरा आ जाना चाहिए, अन्यथा चुनाव अवैधानिक करार कर दिया जाएगा। उस समय पण्डित चन्द्रगुप्त विद्यालंकार उनके पास ठहरे हुए हुए थे। प्रो० वेदव्यास एडवोकेट उनके मित्र थे। उसी दिन वेदव्यास जी ने श्री लालबहादुर शास्त्री का ब्यौरा संदेशवाहक के हाथ लखनऊ भेजना था। संयोग की बात है कि चन्द्रगुप्त जी ने सहायता करके ब्यौरा बनवाकर वेदव्यास जी को दिया और वह ठीक समय पर श्री लालबहादुर शास्त्री के वाहक द्वारा लखनऊ पहुँच गया। जीवन की ऐसी घटनाओं को मैं भगवान् की कृपा मानता हूँ, अप्रत्याशित संकट को टालनेवाला वही है, उसी की कृपा से सब होता है।

चन्द्रावती जी पहले ४ साल तक राज्य-सभा की सदस्य रहीं, उसके बाद उन्हें ६ साल का सदस्यता का काल और मिला। इस प्रकार वे १० साल तक राज्य-सभा की सदस्य रहीं। उन्होंने हिन्दू कोड बिल के पास होने में बहुत हिस्सा लिया। वे राज्य-सभा के चेयरमैन के पैनल में भी रहीं। उन्होंने एक प्राइवेट बिल भी पेश किया था जिसका आशय यह था कि एक ऐसा कानून बन जाय जिसके अनुसार विधुर अगर शादी करना चाहे तो विधवा से ही कर सके, कुमारी कन्या से नहीं। यह प्राइवेट बिल था। पुरुष-बहुल समाज में यह बिल पास नहीं हो सकता था। डॉ० राधाकृष्णन जब उनसे मिलते थे तब सदा इस बिल की चर्चा किया करते थे।

१२. मैं गुरुकुल का दोबारा मुख्याधिष्ठाता नियुक्त हुआ

मैंने गुरुकुल १५ नवम्बर १९४१ को छोड़ा था। अब ४ जून १९६० को दोबारा मुझसे मुख्याधिष्ठाता का पद सँभालने की सभा ने प्रार्थना की। इस बीच लगभग २० वर्ष का समय बीत चुका था। इस बीच पंडित इन्द्रवाचस्पति गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता रहे थे। मेरे लिए नया वातावरण था, नये अध्यापक थे क्योंकि मेरे समय के न तो विद्यार्थी थे, न प्रबन्धक थे, न अध्यापक थे। मैंने पद ग्रहण करते हुए अपने भाषण में कहा कि मुझे तो ऐसा लगता है जैसे मैं नया जन्म ग्रहण कर संस्था में उपस्थित हुआ हूँ। इस सभा में पण्डित इन्द्र जी, आचार्य नरदेव-शास्त्री, श्री शिवकुमार शास्त्री तथा हरिद्वार, ज्वालापुर आदि के अनेक गण्यमान्य सज्जन उपस्थित थे।

पंडित इन्द्र जी मुख्याधिष्ठाता के तौर पर ५०० रुपया मासिक लेते थे। मैंने निश्चय किया कि मैं इस काल में गुरुकुल से वेतन के रूप में कुछ नहीं लूंगा। इन दिनों चन्द्रावती जी के साथ पार्लियामेंट के अधिवेशन के समय दिल्ली तो जाता था, परन्तु अधिवेशन के अतिरिक्त समय में सपरिवार अधिकांश समय गुरुकुल में ही रहता था। इस काल में मैंने अनेक ग्रन्थ लिखे—एकादशोपनिषद्-भाष्य लिखा जिसकी भूमिका डॉ० राधाकृष्णन ने लिखी जो उस समय उपराष्ट्रपति थे। गीता-भाष्य लिखा जिसकी भूमिका प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने लिखी। समाजशास्त्र पर तो अनेक ग्रन्थ मैं पहले ही लिख चुका था जो इण्टर, बी० ए०, एम० ए० में पढ़ाये जाते थे। ब्रह्मचर्य पर 'ब्रह्मचर्य-सन्देश' के कई संस्करण हो चुके थे। कहने का अभिप्राय यह है कि इस काल को मेरा साहित्यिक काल कहा जा सकता है। ३ मार्च १९६२ को पंजाब सरकार ने श्री कैरों के नेतृत्व में जब पण्डित अमरनाथ विद्यालंकार यहाँ के शिक्षामन्त्री थे, मुझे चण्डीगढ़ बुलाकर एक राजदरबार कर मुझे १२०० रुपये तथा एक दोशाला भेंट किया। इस समारोह में पंजाब सरकार की केबिनेट के सब सदस्य उपस्थित थे। पंजाब सरकार पंजाबी साहित्यकारों का इस प्रकार सम्मान करती है; वह सम्मान पंजाबी साहित्यकार होने के नाते मुझे दिया गया।

१३. मैं राज्य-सभा का मनोनीत सदस्य बनाया गया

राज्य-सभा के एक नॉमिनेटेड सदस्य थे मामा वरेरकर। राज्य-सभा में संपूर्ण राष्ट्र से १२ सदस्य राष्ट्रपति द्वारा नामज़द किये जाते हैं। इन्हें इलेक्शन नहीं लड़ना पड़ता, ये अपने अपने अधिकार-क्षेत्र की विशेषता के कारण राष्ट्रपति द्वारा नॉमिनेट किये जाते हैं। कोई साहित्य के क्षेत्र में सर्वोत्कृष्ट होने के कारण, कोई समाज-क्षेत्र के कारण, कोई कला के कारण नामज़द किये जाते हैं। इनमें साहित्य के कारण नामज़द किये गये महाराष्ट्र के मामा वरेरकर थे। उनकी १९६६ में मृत्यु हो गयी। उस समय श्री लालबहादुर शास्त्री प्रधानमन्त्री थे। प्रधानमन्त्री की सिफ़ारिश पर राष्ट्रपति नामज़द करता है। मामा वरेरकर की मृत्यु के उपरान्त जो जगह रिक्त हुई उसमें राष्ट्रपति श्री राधाकृष्णन ने मुझे नामज़द किया। इसमें मुझे चुनाव का कोई खर्च नहीं करना पड़ा और मैं राष्ट्रपति द्वारा राज्य-सभा का सदस्य मनोनीत हो गया। इसकी सूचना मुझे समाचार-पत्रों द्वारा मिली। मैं अपने घर में हिन्दुस्तान टाइम्स पढ़ रहा था। मेरी दृष्टि इस आइटम पर नहीं गयी, परन्तु मेरी पत्नी ने चिल्लाकर कहा, अरे तुम राष्ट्रपति द्वारा राज्य-सभा के सदस्य मनोनीत किये गये हो ! मैंने समझा वह मज़ाक कर रही है। मैं बोला, हँसो मत, मुझे बनाने की कोशिश मत करो। उसने अखबार मेरे हाथों में फेंककर कहा —देखो क्या छपा है। सचमुच मेरा नाम नामज़द कालम में था। आश्चर्य का

ठिकाना न रहा। ऐसा लगा कि अपने-आप झोली में आम गिर गया। परन्तु फिर सोचा, जब तक सरकारी कागज़ न आये तबतक अखबारी बात पर कैसे विश्वास किया जाय! इतने में पण्डित धर्मपाल जी जो मेरे सहायक थे, गुरुकुल से पार्लियामेंट का तार लेकर पहुँच गये। उनका आग्रह था कि मैं गुरुकुल चलूँ, वहाँ मेरा सत्कार हो, और तब वहाँ से आकर पार्लियामेंट में जाऊँ। मैं उनके साथ हरिद्वार चल पड़ा। सारा गुरुकुल, ज्वालापुर, हरिद्वार पुष्प-मालाओं से सजा था। बैंड-बाजा बज रहा था। धूमधाम से मेरा जुलूस निकाला गया क्योंकि भारत-भर में से १२ अग्रगण्य व्यक्तियों में से मेरी गणना राष्ट्रपति ने की थी जो गुरुकुल के गौरव का सूचक था। मैं साढ़े तीन वर्ष तक राज्य-सभा का सदस्य रहा। इस समय भूपेश गुप्ता, गोपालसिंह, अकबर अली, राजनारायण, सप्रू, गोपालस्वरूप पाठक, उमाशंकर दीक्षित आदि भी राज्य-सभा के सदस्य थे। मैं १९६६ तक राज्य-सभा का सदस्य रहा।

इस समय मैंने जो विशेष कार्य किया वह गुरुकुल कांगड़ी को विश्वविद्यालय की मान्यता दिलाने का था। इस समय शिक्षा-मंत्री श्रीमाली थे। लोक-सभा के सदस्य श्री प्रकाशवीर शास्त्री थे। मैंने एक मैमोरेंडम छपवाकर पार्लियामेंट के सब सदस्यों के पास भेजा था जिसमें गुरुकुल की विशेषताओं को दर्शाते हुए पार्लियामेंट द्वारा गुरुकुल काँगड़ी को विश्वविद्यालय की मान्यता देने का आग्रह किया था। पार्लियामेंट के सदस्यों पर उसका बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा था। इस प्रसंग में श्री प्रकाशवीर शास्त्री शिक्षा-मन्त्री श्रीमाली जी से मिले और ज्वालापुर महाविद्यालय के लिए जिसके वे स्नातक थे अपील की। श्रीमाली जी ने मुझे तथा प्रकाशवीर जी को बुलाया और इस सम्बन्ध में चर्चा की। मैंने कहा कि अगर प्रकाशवीर जी समझते हैं कि ज्वालापुर महाविद्यालय की ऐसी स्थिति है कि उसे उसे विश्वविद्यालय घोषित कर दिया जाय तो मुझे कोई आपत्ति नहीं, मैं तो सिर्फ गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली की सरकार द्वारा मान्यता चाहता हूँ। इस युक्ति पर प्रकाशवीर शास्त्री ढीले पड़ गये और सरकार ने तय किया कि एक नया बिल बनाया जाय जो उन संस्थाओं का निरीक्षण करे जिन्होंने स्वतन्त्रता-युग में योगदान दिया है और उन्हें विश्वविद्यालय की मान्यता दी जाय और यूनीवर्सिटी-ग्रांट्स कमीशन द्वारा भरपूर सहायता दी जाय। इस उद्देश्य को सामने रखकर सरकार ने गुरुकुल काँगड़ी की मान्यता के सम्बन्ध में एक कमीशन बनाया 'जिसके प्रधान सुप्रीम कोर्ट के रिटायर्ड चीफ़ जज श्री पतंजलि शास्त्री थे और दो अन्य सदस्य थे —डॉ॰ सुनीति कुमार चटर्जी तथा श्री वी॰ डी॰ शुक्ल। ये लोग गुरुकुल पधारे। मैं तथा पण्डित धर्मपाल जी विद्यालंकार जो मेरे सहायक थे उन्हें लोग लेने स्टेशन पर गये। श्री पतंजलि शास्त्री से मेरी बहुत देर तक बातचीत हुई। वे मुझसे पूछने लगे कि आप गुरुकुल के लिए विश्वविद्यालय की मान्यता क्यों चाहते हैं? अगर

कोई छात्र इतिहास, अर्थशास्त्र या कोई अन्य विषय पढ़ना चाहता है तो हिन्दू-यूनीवर्सिटी चला जाय, मेरठ कॉलेज चला जाय, देहरादून में डी० ए० वी० कॉलेज में चला जाय, गुरुकुल की आप यूनीवर्सिटी के तौर पर क्यों मान्यता चाहते हैं ? मैंने उन्हें गुरुकुल के सम्बन्ध में बनी फ़िल्म दिखलायी जो पण्डित इन्द्र जी के पुत्र जयन्त ने वनायी थी जिसमें विद्यार्थी गुरुकुलीय वेश में खड़ावें पहने, डंडे हाथ में लिये गुरुकुल में प्रवेश के लिए गंगा के पुल पर से चले आ रहे थे। मैंने उन्हें कहा कि हम इतिहास आदि पढ़ाने के लिए मान्यता नहीं चाहते, हम प्राचीन संस्कृति को आधुनिक युग में आधुनिक विज्ञान तथा चिंतन के साथ मिलाकर उसमें वैदिक संस्कृति का पुट देकर उसमें भारतीयता की भावना के साथ उसे स्थिर रखना चाहते है। हमारी संस्कृति नष्ट होती जा रही है, हम उस संस्कृति को इस संस्था द्वारा जीवित रखना चाहते हैं। मेरे इन विचारों का उनपर प्रभाव पड़ा और इस कमीशन ने जो रिपोर्ट दी उसके परिणामस्वरूप गुरुकुल काँगड़ी को १९६२ में विश्वविद्यालय की मान्यता प्राप्त हो गयी। गुरुकुल को जिन विचारों के आधार पर मान्यता प्राप्त हुई, हम कहाँ तक उधर चल रहे हैं--इस सम्वन्ध में मेरा एक लेख इस पुस्तिका में अन्यत्र दिया गया है।

यद्यपि गुरुकुल काँगड़ी को १९६२ में विश्वविद्यालय की मान्यता मिल गयी और जो प्रोफ़ेसर नियुक्त हुए उन्हें यूनीवर्सिटी के ग्रेड मिलने लगे, तथापि मैंने अपने इस द्वितीय सेवाकाल में जो छह वर्ष का रहा गुरुकुल से वेतन नहीं लिया। मेरा छुट-पुट खर्च तो गुरुकुल पर पड़ता था, परन्तु जहाँ अन्य प्रोफ़ेसरों को यूनीवर्सिटी के ग्रेड दिये जा रहे थे वहाँ मैं न तो वाइस-चान्सलर का ग्रेड लेता था, न वेतन के रूप में कुछ लेता था। उस समय कार्यालयाध्यक्ष श्री दलजीतसिंह थे। उनसे मैंने १९६२ का अपने व्यय का प्रमाणित व्यय बनवाया था जो अब तक मेरे पास है। उस व्यौरे के अनुसार मेरा गुरुकुल पर व्यय इस प्रकार है जो मैं उस प्रमाणित व्यय के व्यौरे से उद्धृत कर रहा हूँ :

मार्च	—	३ रुपया, ९ पैसे
अप्रैल	—	१३४ रुपया, ६७ पैसे
मई	—	१०४ रुपया, १६ पैसे
जून	—	कुछ नहीं
जुलाई	—	१५८ रुपया, ९० पैसे
अगस्त	—	१८१ रुपया, ४७ पैसे
सितम्बर	—	१४२ रुपया, ६६ पैसे
अक्टूबर	—	८३ रुपया, ६१ पैसे
नवम्बर	—	२० रुपया, २८ पैसे
दिसम्बर	—	२९ रुपया, ६९ पैसें

साल-भर का व्यय ८५८ रुपया, ५३ पैसे

दलजीतसिंह
मुख्य कार्यालयाध्यक्ष
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

१४. विजयकृष्ण लखनपाल का लखनपाल प्रा० लि० में प्रवेश

मेरे पुत्र विजयकृष्ण लखनपाल का जन्म १६३५ में हुआ। जब उसने इण्टर-साइंस पास किया तब हमारी इच्छा उसे इञ्जीनियर बनाने की थी। इञ्जीनीयरी में दाखिला बड़ा कठिन था। सौभाग्यवश घनश्यामदास जी विड़ला मसूरी आये हुए थे। पिलानी इञ्जीनीयरिंग कॉलेज में कुछ छात्र उनके द्वारा भी लिये जाते हैं। चन्द्रावती जी उनसे मसूरी मिलीं और उन्होंने विजय के पिलानी इञ्जीनियरिंग कॉलेज में दाखिले के लिए स्वीकृति दे दी। इण्टर के बाद हमने उसे पिलानी भेज दिया। वह एक साल तक वहाँ पढ़ा, परन्तु उसका जी नहीं लगा और एक साल पढ़ने के बाद उसने पिलानी जाने से इन्कार कर दिया। अब हमारे सामने यही रास्ता रह गया था कि उसे देहरादून के डी० ए० वी० कॉलेज में वी० ए० में भर्ती करा दें। जिस दिन हमने यह निश्चय लिया उसी दिन शाम को मेरे मित्र होम्योपैथ डॉ० रघुवंश रस्तोगी हमें मिलने आ पहुँचे। हमने अपना निर्णय उन्हें सुनाया तो झट बोले—हर्गिज़ नहीं, उसे फ़ौरन इलाहाबाद विश्वविद्यालय भेज दो। वहाँ चन्द्रावती जी के सहपाठी अंग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर के० के० मलहोत्रा थे, उन्हें तार दिया; जबाब आया, फौरन भेज दो। हमने रात की गाड़ी से उसे इलाहाबाद के लिए रवाना कर दिया। इलाहाबाद वह दाखिल तो हो गया, परन्तु लड़कों ने बड़ा ज़बरदस्त रैंगिंग किया—सोते हुए, सर्दी के दिनों में ठण्डे पानी की बाल्टी उसपर उलट दी। उसने लिखा, मैं यहाँ नहीं पढ़ सकता। हमने मलहोत्रा को लिखा, तब मामला शान्त हुआ।

विजय बड़ा शर्मीला लड़का था, परन्तु उत्तम संस्था में जाकर बालक के प्रसुप्त गुण जाग जाते हैं। वह वहाँ कॉलेज का सोश्यल सेक्रेटरी बन गया। १६५८ में एम० ए० (इंगलिश) पास कर दिल्ली हमारे पास आ गया। जिस समय विजय एम० ए० पास करके आया, हम उसके लिए अमरीका में बिज़िनेस एडमिनिस्ट्रेशन का दाखिला करा चुके थे। परन्तु विधि का विधान कुछ और ही ताना-बाना बुन रहा था। मेरे छोटे भाई देवदत्त लखनपाल रेडियो के मुख्य व्यापारी बन गये थे और दिल्ली में अपना ऑफ़िस खोलना चाहते थे। वे उस समय सपत्नीक हमारे पास ठहरे हुए थे। विजय को देखकर उनकी पत्नी—मेरी छोटी भाभी—शीला जिसका चन्द्रावती जी से वरसों का बहन का-सा सम्बन्ध था, बोल उठीं—क्यों न विजय को दिल्ली के रेडियो ऑफ़िस का इन्चार्ज बना दिया जाय! विजय पढ़ा-लिखा तो काफ़ी था, बिज़िनेस का उसे ज्ञान नहीं था। शीला जी का सजेशन देवदत्त जी को भी ठीक लगा। उन्होंने बिज़िनेस ट्रेनिंग के लिए विजय को बम्बई भेज दिया और वहाँ से लौटने पर उसे लखनपाल प्राइवेट लिमिटेड के दिल्ली ऑफ़िस का इन्चार्ज बना दिया। इस बीच उसे अनेक संघर्षों का सामना करना

पड़ा। स्टाफ़ की स्ट्राइक हुई, हुड़दंग मचा, मर्फी कम्पनी के गोयनका ग्रुप में चले जाने पर एजेन्सी कैंन्सिल करने की धमकियाँ दी गईं, परन्तु विजय ने प्रत्येक चैलेञ्ज का सामना किया। बड़े-बड़े व्यापारियों से परिचय हुआ। मर्फी के डिस्ट्रीब्यूटर तो सब उसके घरेलू मित्र-सम हो गये। देवदत्त जी के सम्पर्क में आने पर उसकी भी उत्कृष्ट व्यापारियों में गिनती होने लगी और सब जगह सम्मान होने लगा। व्यापार में भी उसने दक्षता प्राप्त कर ली।

विजय को काम करते तीन साल हो गये थे। अब हम लोगों ने उसके भविष्य की चिन्ता देवदत्त जी तथा शीला बहन पर छोड़ रखी थी क्योंकि वे उसे पुत्रवत् समझते थे। हर कॉन्फरेन्स में विजय को पर्याप्त प्रमुखता दी जाती थी और एक तरह से सर्वत्र वह देवदत्त जी का प्रतिनिधित्व करने लगा था। अब उसकी आयु भी विवाह योग्य हो गई थी और जितनी हमें उसके विवाह की चिन्ता थी उससे ज्यादा उसके चाचा-चाची को चिन्ता थी। एक दिन दिल्ली में विजय के विवाह की ही चर्चा रही जिसमें परिवार के प्रमुख व्यक्ति शामिल थे। चन्द्रावती जी की सहपाठिनी निहारिकादास थीं जो जुयाल परिवार को जानतीं थी। चन्द्रधर जुयाल एक मैजिस्ट्रेट थे जिन्होंने मुझे सत्याग्रह के दिनों में एक साल की सज़ा दी थी। उनके सभी पुत्र उच्च सरकारी पदों पर थे। कोई मैजिस्ट्रेट, कोई सेक्रेटरी ऑफ़ गवर्नमेण्ट, कोई एयर कमैण्डोर। उनकी तीन पुत्रियाँ थीं जो सभी बी० ए० आदि उपाधिधारी थीं। उनमें से एक उषा जुयाल थी। जिस निहारिकादास ने उषा का नाम सजेस्ट किया, उसका छोटा भाई राकेश जुयाल उसे साथ लेकर मिस दास के घर आया जहाँ हमने उषा जुयाल को देखा। रिश्ता तय हो गया और १९६१ में इनका विवाह हो गया। अब विजय को लखनपाल प्राइवेट में काम करते २७ वर्ष हो गये हैं। उसकी क्रियाशीलता को देखकर उसे जॉइंट मैनेजिंग डायरेक्टर भी बना दिया गया। उसकी दो पुत्रियाँ हैं—ऋचा तथा श्रुति, एक पुत्र है—विभु। ऋचा का जन्म ७-३-१९६३ को हुआ, श्रुति का १६-५-१९६५ को तथा विभु का जन्म २४-८-१९६७ को हुआ। अब जब मैं लिख रहा हूँ ऋचा ने विलहम गर्ल्स स्कूल से इण्टर करके, दिल्ली से बी० एं० कर लिया है; श्रुति विलहम गर्ल्स स्कूल से इण्टर-साइंस करके अब मौलाना मैडिकल कॉलेज में एम० बी० बी० एस० कोर्स में दाखिल है। ऋचा फ्रेंच पढ़ रही है और टूरिज़्म का कोर्स कर रही है। विभु ने इस साल इण्टर साइंस का इम्तिहान पास किया है और हमारा इरादा उसे इञ्जीयीयरिंग कराने का है यद्यपि आजकल हर दिशा में बच्चों का दाखिला कठिन होता जा रहा है।

१५. अजयकृष्ण लखनपाल

वैसे तो परिवार में हम ५ भाई और ३ बहनें थीं, परन्तु हम दो परिवारों

का विशेष तौर पर घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। ये दो परिवार हैं—श्री देवदत्त लखनपाल, उनकी पत्नी शीला लखनपाल तथा उनका पुत्र अजयकृष्ण लखनपाल एवं मैं, मेरी स्वर्गीया पत्नी श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल तथा हमारा पुत्र विजय-कृष्ण लखनपाल। यह सम्बन्ध दो कारणों से विशेष रूप से आपस में बँधा रहा। एक कारण तो था श्रीमती शीला लखनपाल तथा श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल—इन दोनों का पारस्परिक प्यार; दूसरा कारण यह था कि अजय यद्यपि व्यापार से उदासीन रहता था तथा विजय पर सम्पूर्ण कम्पनी को चलाने का बोझ था, तो भी वे दोनों एक-दूसरे के अति निकट थे। अजय की पाँच बहनें हैं, विजय की कोई बहन नहीं, इसलिए वह अजय की पाँचों बहनों को अपनी सगी बहन का-सा प्यार करता है और पाँचों बहनें भी विजय को अजय के समान ही समझती हैं और उसे अजय का-सा ही प्यार देती हैं। यह भावना रक्षाबन्धन और भाई-दूज के समय विशेष रूप से प्रकट होती है यद्यपि कई कारणों से यह भावना क्षीण होती जा रही है।

यद्यपि अजय एक व्यापारी पिता का पुत्र है तथापि उसमें स्थिरता कम देखी गई है। जब मैं गुरुकुल काँगड़ी में था तब वह मेरे पास छः महीने रहा था। हमारे योग के शिक्षक श्री भारती जी थे। वे सब योगासन जानते थे। वे धीरेन्द्र ब्रह्मचारी के शिष्य थे। अजय उनसे योगासन सीखा करता था यद्यपि कभी-कभी वह आध्यात्मिकता तथा भौतिकता दोनों की तरफ़ बहक जाता है। वह रजनीश के यहाँ जाता रहता था। एक बार उसने रजनीश से मेरे विषय में कुछ प्रश्न कर दिया, तो रजनीश ने उस दिन का सारा व्याख्यान मुझ पर ही दे डाला। मैंने कहा था कि आत्म-ज्ञान और कुछ नहीं सिर्फ़ इस बात का जान लेना ही नहीं कि शरीर अलग तथा आत्मा अलग है, अपितु इस बात का अनुभव भी कर लेना है कि शरीर अलग है, आत्मा अलग है। हमारा जीवन ऐसा है मानो शरीर ही आत्मा है, आत्मा ही शरीर है। इस आधार पर मैंने कहा था कि आत्म-ज्ञान सिर्फ़ कह देने की वस्तु नहीं है, अनुभव करने की वस्तु है—मेरी इस व्याख्या को बिना समझे आचार्य रजनीश ने मुझपर लम्बा-चौड़ा व्याख्यान दे डाला। उन्होंने कहा कि वे मुझे जानते हैं, और मेरा उपनिषद्-भाष्य उन्होंने पढ़ा है, परन्तु अगर आत्म-ज्ञान नाम की कोई वस्तु नहीं है तो सत्यव्रत जी ने उपनिषद्-भाष्य ही क्यों किया? जो-जो भी अध्यात्म में पारंगत हैं उन सबके यहाँ वह जाता है। बम्बई के दिवंगत कम्बू बाबा का वह भक्त रहा है, बिहार के स्वामी सत्यानन्द के आश्रम में वह रह चुका है, सान्ताक्रुज़ के अध्यात्म आश्रम में वह रहा है, स्वामी रामानन्द के अध्यात्म आश्रम में भी वह रहा है। मुस्लिम पीरों-पैग़म्बरों के यहाँ वह जाता है, अजमेर शरीफ़ में वह बहुमूल्य चादर चढ़ाता है, एस्ट के सेशनों में उसे देख सकते हैं, मुझे भी इन स्थानों में घसीट ले जाता है। जितना ही वह आध्यात्मिकता की बातें करता है उतना ही भौतिकता में डूबा हुआ है। वह पैंडुलम का एक जीता-

जागता नमूना है। पढ़ा-लिखा है, अंग्रेज़ी खूब पढ़-लिख तथा बोल सकता है। मेरे साथ देर तक उसका ताया-भतीजे का-सा नहीं, मित्र का-सा व्यवहार रहा है। मेरे लिए वह अजय नहीं विजय है क्योंकि दोनों को मैं अपने वेटों की तरह मानता रहा हूँ। कई कारणों से यह सम्बन्ध टूटता जा रहा है। उसका विवाह हुआ था, परन्तु डायवोर्स हो गया।

१६. उषा लखनपाल

विजय की पत्नी का नाम उषा है। वह पहाड़ के प्रसिद्ध जुयाल परिवार की वेटी है। उसके ताऊ टेहरी-गढ़वाल के राजा के दीवान थे। दीवान जी के वेटे ब्रिग्रेडियर हैं। उषा जुयाल के पिता चन्द्रधर जुयाल थे। वे कई जगह मैजिस्ट्रेट रहे। उषा—ये सव तीन वहनें हैं। उषा मेरे इकलौते बेटे विजयकृष्ण लखनपाल से व्याही है। उषा की एक वहन माधुरी है। वह ब्रिग्रेडियर रवि माथुर से व्याही है। एक दूसरी वहन सुधा है। वह एक इण्डस्ट्रियलिस्ट कन्हैया से व्याही है। उषा का वड़ा भाई विधुधर जुयाल है। वह मथुरा में मैजिस्ट्रेट रहा है और इस समय कॉमनवेल्थ सेक्रेटेरियट में लण्डन में सेक्रेटेरियट का इन्चार्ज है। एक भाई नलिनी जुयाल गवर्नमेण्ट में सेक्रेटरी के उच्चतम पद पर आसीन है। एक भाई व्रजेश जुयाल एयर कमैण्डोर है। ये सब वालक-वालिकाएँ अंग्रेजी स्कूलों में पढ़े हैं। लड़के तो दून स्कूल के पढ़े हुए हैं। यह वड़ा शिक्षित तथा शिष्ट परिवार है। व्रजेश जुयाल के पुत्र को तो ऑक्सफ़ोर्ड में अध्ययन के लिए वहाँ की यूनीवर्सिटी ने पूरी छात्रवृत्ति दी है। उषा जिस दिशा में जाती है सफलता हासिल कर लेती है। यहाँ रहते हुए उसने जापानी भी सीख ली है। वह सारे यूरोप का चक्कर लगा आयी है। जापान दो बार हो आयी है। उसकी रुचि व्यापार में है। उसने पहले तो आर्टिस्टिक मार्बल लैम्प बनाये। मुझसे १० हज़ार रुपया उधार लेकर इन लैम्पों का निर्माण कर बम्बई में एग्ज़ीवीशन लगाई और जो लाभ हुआ उसमें से दिल्ली आकर मुझे १० हज़ार रुपया लौटा दिया। यह सव काम सिर्फ़ १०-१५ दिन में किया। फिर उसने गणेश आदि की मार्वल की मूर्तियों का निर्माण कर ताज होटल में प्रदर्शिनी लगाई, अब उड़ीसा से प्रस्तर-मूर्तियाँ लाकर उनकी एक्ज़ीवीशन कर रही है। वह यहाँ की सोश्यल वेलफ़ेयर की प्रधान भी है। उसके वच्चे भी उसकी छाया पर चल रहे हैं। सवसे बड़ी लड़की ऋचा लखनपाल है। उसने विलहम गर्ल्स स्कूल से इण्टर पास कर दिल्ली से बी० ए० करने के बाद फ्रेंच पढ़ना शुरू किया था और साथ ही टूरिज़्म का कोर्स करने के बाद एयर-इण्डिया में कम्प्यूटर का कोर्स कर रही है। दूसरी लड़की श्रुति इतनी होशियार है कि ८ हज़ार एम० बी० बी० एस० के उम्मीदवारों में ऐसा स्थान प्राप्त कर गई

है कि यूनीवर्सिटी को उसे लेना पड़ा। सबसे छोटा विभु लखनपाल है, वह भी इञ्जीनीयरी की तैयारी कर रहा है।

१७. शीला लखनपाल

परिवार के इस इतिहास को पूरा नहीं कहा जा सकता जबतक इसमें मेरे छोटे भाई देवदत्त लखनपाल की पत्नी तथा मेरी छोटी भाभी का उल्लेख न हो। शीला के पिता तथा मेरे पिता दोनों रेलवे में काम करते थे। शीला की माता तथा मेरी माता साथ-साथ रही थीं। जब दोनों के पेट में बच्चा आया तब दोनों ने संकल्प किया कि अगर एक का बच्चा लड़का हुआ, दूसरे की लड़की तो वे इन दोनों का ब्याह कर देंगी। भाग्यवश मेरी माताजी को बेटा हुआ, और शीला की माताजी को बेटी हुई। दोनों ने अपने बच्चों के बड़े होने पर अपने संकल्प को पूरा किया और देवदत्त और शीला का युवावस्था में आने पर विवाह हो गया। यह कहानी सारे परिवार में किसी को मालूम नहीं हुई, सिर्फ मुझे मालूम है क्योंकि माताजी बरसों मेरे साथ रहीं और उन्होंने मुझे यह कहानी सुनाई थी।

शीला लखनपाल की ५ बेटियाँ और बेटा एक है। इनकी बेटियाँ बड़े घरानों में ब्याही हैं। दो बेटियाँ पुंज परिवार में हैं। पुंज अनेक भाई-बहन हैं, परन्तु शीला की सबसे बड़ी बेटी इन्दु सत्ती पुंज से ब्याही है। सत्ती पुंज बड़े प्रसिद्ध व्यापारी हैं और बड़ी सूझ-बूझ के हैं। परिवार का हित-चिन्तन उनकी विशेषता है। एक बेटी रीता नरेन्द्र पुंज से ब्याही है जो दोनों लन्दन के व्यापार को देखते हैं। एक बेटी नीता है जो खंडेलवाल-परिवार में अमरीका में ब्याही है। एक बेटी नीरू है जो श्री हंसराज गुप्त के पुत्र बिज्जन से ब्याही है, जिस सम्बन्ध के सम्पन्न होने में मेरा भी कुछ हाथ है। एक बेटी नूती है जो विजय पण्डित से ब्याही है। शीला लखनपाल का एक बेटा है—अजय लखनपाल, जिसका उल्लेख मैं ऊपर कर आया हूँ। वैसे तो हमारे परिवार में अनेक भाई-बहन हैं परन्तु फिर भी मेरे परिवार तथा देवदत्त के परिवार में घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। हमारा अपने अन्य सम्बन्धियों से दूर होते हुए भी शीला लखनपाल तथा चन्द्रावती एवं अजय तथा विजय का आपसी सम्बन्ध सुख-दुःख में अत्यन्त घनिष्ठ रहा है। शीला लखनपाल विजय को इतना ही अपना बेटा मानती हैं जितना अपने बेटे अजय को मानती हैं। यह संयोग की बात है कि चन्द्रावती लखनपाल ने अन्तिम श्वास शीला लखनपाल के घर 'आशियाना' में छोड़ा।

१८. मेरे १९६९ के बाद के दिन

मेरा जन्म ५ मार्च १८९८ में हुआ था, विवाह १९२६ में हुआ; चन्द्रावती जी का स्वर्गवास १९६९ में हुआ, और अब मैं १९८५ में चल रहा हूँ। पत्नी की मृत्यु

के बाद मैं इकला रह गया। चन्द्रावती जी जब बीमार पड़ीं तब एक दिन अचानक मैं उनकी डायरी देख बैठा। उसमें लिखा था—मेरी मृत्यु के बाद मेरे सोने के कड़े प्रभा की लड़की को दे देना, मेरे कान के हीरे के कर्ण-पूर बेचकर मेरे ट्रस्ट को दे देना—आदि। यह सब पढ़कर पत्नी की मृत्यु की सम्भावना जानकर मुझे ऐसा धक्का लगा कि मेरी नींद गायब हो गई, मैं हर समय रोने लगा। मेरा पूरा ब्रेकडाउन हो गया। मुझे चन्द्रावती जी ने कहा कि तुम विजय के पास दिल्ली चले जाओ। मैं दिल्ली चला आया, परन्तु मुझे उन्निद्र रोग बना रहा। २९ मार्च १९६९ को हमें दिल्ली तार आया कि चन्द्रावती जी की तबीयत बहुत खराब है; बंबई चले आओ। मैं तथा विजय समाचार सुनते ही प्लेन से बम्बई के लिए रवाना हुए। ४ बजे के करीब घर पहुँचे। मैंने विजय की तरफ़ इशारा करके पूछा—इसे पहचानती हो? बोली—विजय है। घर के सब लोग वहाँ उपस्थित थे और ४·३० बजे उन्होंने प्राण छोड़ दिये। ऐसा लगा मानो अपने अन्तिम दर्शन कराने हमें दिल्ली से बम्बई बुलाया क्योंकि पहुँचते ही दो बात करके उन्होंने प्राण त्याग दिये। डॉ० परमार को बुलाया गया। उसने कहा, पखेरू उड़ गया है। शाम को ही चिता दाह करके अगले दिन अस्थियाँ लेकर मैं तथा विजय हरिद्वार पहुँचे और यहाँ उनकी अस्थियों का प्रवाह कर दिया गया। अब मेरा जीवन इकला रह गया। मेरा एक वर्ष तो विकट कष्ट में कटा। जब कोई संवेदना करने आता था, मेरी अश्रुधारा बह निकलती थी। जीवन में जो माँ-बाप से जुदा रहा था शायद उसके दबे मनोभावों की यह प्रतिक्रिया थी। उस समय नींद की भी कोई विशेष दवा नहीं निकली थी; निकली होगी तो उसका मुझे पता नहीं था। 'सैरोटीना' नाम की एक दवा का नाम सुना था। वह लेता तो कब्ज़ इतना सख्त हो जाता कि दिन कष्ट में कटता था। इस समय अगर किसी चीज़ ने बचा लिया तो मेरी लेखन-शक्ति ने मेरा साथ दिया। मैं रोता जाता था, लिखता जाता था, अपनी मनो-दशा लिखता था। लिखते-लिखते लिखने की दिशा बदली और मैंने अपने लेखन की दो दिशाओं का निर्धारण किया—होम्योपैथी का तथा वैदिक विचारधारा का।

१९. मेरी होम्योपैथी में रुचि तथा उसपर लिखी पुस्तकें

गुरुकुल विश्वविद्यालय के प्रकरण में मैं लिख आया हूँ कि मेरा होम्योपैथी से परिचय कैसे हुआ। पत्नी की मृत्यु का दुःख तो था, परन्तु अब जीवन रोते-रोते तो बिताना नहीं था। जब दो साथी होते हैं तब आपस की बातचीत तथा सह-जीवन से समय बीत जाता है, इकला रह जाने पर समय बोझ बन जाता है।

खैर, मेरी देर से होम्योपैथी में दिलचस्पी थी।

१९३८ में जब मेरी पत्नी 'महादेवी कन्या पाठशाला देहरादून' की प्रिंसिपल थी, मैं बीमार था और कभी-कभी देहरादून आता-जाता था। उन दिनों एक

बार मैं देहरादून के बाज़ार में से गुज़र रहा था कि एक दुकान पर भगवा वस्त्र-धारी एक सज्जन दिखलाई दिये। उनके पास होम्योपैथिक दवाइयों का एक बक्सा था, मुफ्त दवा बाँटते थे। वे अपने को डॉ० युद्धवीरसिंह होम्योपैथ के शिष्य कहते थे। उनका नाम डॉ० भटनागर था। मैं उनके पास बैठ गया, और होम्योपैथी की चर्चा करने लगा। जब उन्हें पता चला कि मैं गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय का उपकुलपति हूँ और मेरी पत्नी स्थानीय कॉलेज की प्रिंसिपल हैं, तब उनकी मेरे प्रति दिलचस्पी कुछ जाग उठी। जब मैंने उन्हें कहा कि मुझे होम्योपैथी का ज्ञान प्राप्त करने की उत्कट इच्छा है तब वे मेरे निवास-स्थान पर प्रतिदिन आने लगे और महीनों इस पद्धति पर जितना ज्ञान दे सकते थे देते रहे। मैं उनकी चर्चाओं को ध्यान से सुनता था और नोट करता जाता था। वे नोट मेरे पास अब तक पड़े हैं यद्यपि इस बात को ५० साल के लगभग हो गये। पत्नी की मृत्यु के बाद समय-यापन के लिए मैंने होम्योपैथी की पुस्तकें पढ़ना शुरू किया। दिन-रात होम्योपैथी में डूबा रहता। जब मैं बम्बई में था, तब मैंने लगभग १० हज़ार रुपये की होम्योपैथी की पुस्तकें खरीदीं थीं। वे सब मेरे पास थीं। मैंने सबसे पहले होम्योपैथी का मैटीरिया मेडिका पढ़ना शुरू किया। प्रत्येक औषधि के भिन्न-भिन्न मैटारिया मेडिकाओं में पढ़ता था और नोट लेता जाता था। सुबह से शाम कब हो जाती कुछ पता नहीं चलता था। इस विषय की जितनी भी पुस्तकें मिलीं, नोट-सहित पढ़ डालीं। मैंने अनुभव किया कि हिन्दी में लिखनेवाले तो बहुत हैं, परन्तु विषय को समझकर लिखनेवाले कम हैं। हिन्दी के लेखक मक्खी-पर-मक्खी मारते हैं। मेरा लिखने का तरीका यह है कि मैं एक पंक्ति भी ऐसी नहीं लिखता जो उससे पिछली पंक्ति के सम्बन्ध में पाठक के हृदय में न उठती हो। यह सब-कुछ करके मैंने एक पुस्तक लिख डाली जिसका नाम था **'होम्योपैथिक औषधियों का सजीव चित्रण'**। इस पुस्तक का विमोचन श्री गोपालस्वरूप पाठक ने किया था जो उस समय भारत के वाइस प्रेसीडेण्ट थे। जयपुर के कुकरेला ट्रस्ट ने इस पुस्तक को अपने विषय की सर्वोत्तम पुस्तक घोषित कर इस पर १२०० का पुरस्कार दिया था।

इस पुस्तक की सफलता को देखकर मेरे हृदय में होम्योपैथी के प्रति उत्साह बढ़ गया। इसके बाद मैंने रोगों पर **'रोग तथा उनकी होम्योपैथिक चिकित्सा'** नामक ग्रन्थ लिखा। इसका भी होम्योपैथिक जगत् में बड़ा मान हुआ। फिर तो मैं होम्योपैथी पर लिखता ही रहा। होम्योपैथी की फ़िलासफ़ी पर **'होम्योपैथी के मूल-तत्त्व'** लिखा। 'First-aid specifics of Homoeopathic and Bio-chemic Treatment' अंग्रेज़ी में लिखा, 'Chart of Biochemic Drugs at a Glance' लिखा, **'होम्योपैथी का क-ख-ग'** लिखा। होम्योपैथी पर इतना-कुछ लिखने तथा होम्योपैथी के मेरे अनुभव को देखकर दिल्ली के सरकारी होम्योपैथिक

बोर्ड ने मुझे रजिस्टर्ड होम्योपैथिक मान लिया और रजिस्टर्ड नं० HD/७७८/BHS, Delhi दिया। जैसे पहले मेरे समाजशास्त्र पर बिना डिग्री किये मेरे ग्रन्थों को विश्वविद्यालयों के छात्र तथा प्रोफ़ेसर पढ़ते थे, अब होम्योपैथी पर बिना किसी डिग्री लिये मेरे ग्रन्थों को होम्योपैथी के छात्र तथा होम्योपैथी पढ़ाने तथा प्रेक्टिस करनेवाले डॉक्टर पढ़ते थे।

इसी सिलसिले में मैंने दो और पुस्तकें लिखी हैं जिनका स्वास्थ्य तथा होम्योपैथी—इन दोनों से सम्बन्ध है। एक पुस्तक का नाम 'बुढ़ापे से जवानी की ओर' और दूसरी पुस्तक जो अंग्रेज़ी में है उसका नाम है **'From Old Age to Youth Through Yoga and Homoeopathic Treatment'**. अंग्रेजी की पुस्तक हाल ही में प्रकाशित हुई है और इसका विमोचन राष्ट्रपति ज़ैलसिंह ने राष्ट्रपति-भवन में किया था।

२०. वैदिक संस्कृति पर पुस्तकें

वैदिक संस्कृति पर मेरी सबसे पहली पुस्तक **'Confidential Talks to Youngmen'** थी। यह पुस्तक 'ब्रह्मचर्य' पर थी और मथुरा-शताब्दी-समारोह पर लिखी गई थी। इसका प्रकाशन मेरे भाई श्री सोमदत्त ने अपनी कम्पनी शर्मा ट्रेडिंग कम्पनी से किया था। जब मैं बैंगलौर गया तब वहाँ के कर्नाटक नाम के पत्र में ब्रह्मचर्य विषय पर कुछ लेख लिखे थे। उन्हें पुस्तकाकार करके इस नाम से प्रकाशित किया था। पुस्तक का क्या हुआ, कैसे बिकी या नहीं बिकी—इसका मुझे पता नहीं। पिछले दिनों बनारसीदास बुकसेलर ने अप्राप्य परन्तु मूल्यवान् ग्रन्थों की सूची प्रकाशित की थी। उस सूची में इस ग्रन्थ का नाम भी था। अब इसे मॉडल प्रेस, रानी झाँसी रोड के श्री मेघराज ने संशोधित रूप में प्रकाशित किया है, परन्तु इसका क्या मूल्य है आदि का मुझे कुछ पता नहीं। इसका हिन्दी-संस्करण 'ब्रह्मचर्य सन्देश' नाम से गोविन्दराम हासानन्द ने प्रकाशित किया है।

वैदिक संस्कृति पर मेरा दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'एकादशोपनिषद्' है। इसके लिखने की प्रेरणा मुझे तब हुई जब मेरी पत्नी श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल ने मुझे उपनिषद् पढ़ाने को कहा। वे स्वयं मनोविज्ञान की पण्डिता थीं। उन्होंने 'शिक्षा मनोविज्ञान' ग्रन्थ लिखा था जिसपर उन्हें हिन्दी साहित्य का मंगला-प्रसाद पारितोषिक मिल चुका था। उन्हें उपनिषद् जैसे ग्रन्थ पढ़ाने के लिए मुझे भी तपस्या करनी पड़ी। जितने भाष्य मिले सब इकट्ठे किये। दिन-रात उपनिषदों में विचरने लगा। भाव स्पष्ट होते थे, परन्तु कहीं-कहीं अत्यन्त अस्पष्ट होते थे। कभी-कभी एक-एक स्थान को स्पष्ट करने में कई दिन लग जाते थे। पति-पत्नी का ज्यों-ज्यों उपनिषद् पढ़ने का सिलसिला चला, त्यों-त्यों मैं सोचने लगा कि यह सब लिखता क्यों न जाऊँ? बस, हम लोग जो पढ़ते थे उसे मैं लिखता

जाता था। लिखते-लिखते यह ग्रन्थ तैयार हो गया जो इस समय १०३६ बड़े पृष्ठों का है। इतने बड़े ग्रन्थ के प्रकाशन की बड़ी समस्या थी। मैंने शुरू-शुरू में संस्कृत-भाग को छोड़कर सिर्फ़ 'धारावाही हिन्दी में उपनिषद्'—इतना ही तैयार किया था। उसे लेकर मैं दिल्ली में सेठ जुगलकिशोर जी बिड़ला से मिला। उन्होंने सब सुनकर कहा कि इसमें संस्कृत-भाग अवश्य होना चाहिए। उनका यह निर्देश मुझे जँचा, परन्तु तब तो ग्रन्थ की काया बहुत बढ़ जाती; फिर भी मैंने संस्कृत-भाग जोड़ दिया, परन्तु उनकी तरफ से किसी सहायता का इशारा नहीं आया। फिर मैंने सोचा—ग्रन्थ तैयार होना है, तो ऐसा होना चाहिए कि कोई कमी न रहे। यह सोचकर मैंने व्याख्या-भाग में शब्दों के पदच्छेद, उनका अर्थ, अन्त में सम्पूर्ण सन्दर्भ का अपने शब्दों में भावार्थ, सब-कुछ तैयार किया। इस सम्पूर्ण ग्रन्थ को लेकर मैं बम्बई गया। वहाँ मेरे सहाध्यायी पं० रामचन्द्र सिद्धान्तालंकार सेठ शूरजी वल्लभदास के पुत्रों को पढ़ाते थे। रामचन्द्र जी ने सेठ जी से परिचय कराया। वे आर्यसमाजी थे, दानवीर थे, लक्ष्मीपति भी थे। उन्होंने कहा कि वे ग्रन्थ को सुनना चाहते हैं। मैं खार में टिका था। वे प्रातःकाल सवेरे सपरिवार सुनना चाहते थे। रहते थे कच्छ कैसल में चौपाटी के पास। मैं प्रातःकाल की ट्रेन से उनके घर पहुँचकर महीनाभर उपनिषद्-भाष्य सुनाता रहा, वे भी बड़े प्रेम से सुनते रहे, परन्तु महीनाभर सुनने के बाद उन्होंने कोई प्रतिक्रिया नहीं की, और मेरा उन्हें सुनाना, न सुनाने के समान हो गया।

मैं इस पुस्तक के प्रकाशन के लिए बड़ा उत्सुक था, सालों का परिश्रम था, कई बार इसे परिष्कृत किया था। मैंने पं० रामचन्द्र जी से कहा—यहाँ तो सारा परिश्रम मट्टी में मिल गया। वे कहने लगे—एक और सेठ हैं, उनसे मिला दूंगा। वे प्रसिद्ध सेकसरिया सेठ के पुत्र को पढ़ाते थे। उनके पास ले गये। वह युवक व्यक्ति था, परन्तु उसने भी ग्रन्थ सुनना चाहा। प्रस्ताव यह था कि वे अपने जुहु के बँगले में शाम को जाया करेंगे। अपनी गाड़ी खार भेजकर मुझे बुला लेंगे और अपने एक मित्र के साथ बैठकर सुनेंगे। मैं इसके लिए भी तैयार हो गया। वे गाड़ी भेजते थे। मैं अपना मैन्युस्क्रिप्ट लेकर उनके बँगले जाता और सारा ग्रन्थ सुनाता। सब-कुछ सुनकर वे मुझे कर्ज़ में रुपया देने के लिए तैयार हो गये और एक प्रोनोट लिखाकर ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए ५००० रुपया दे दिया। आगे जो-कुछ कागज़ आदि के लिए खर्चा करना पड़ा तो वह तो पड़ा ही, परन्तु ग्रन्थ प्रकाशित हो गया और इतना बड़ा ग्रन्थ प्रकाशित कर मेरी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा।

मुझे अपनी लिखी उपनिषदों की व्याख्या का महत्त्व तब समझ आया जब एक सज्जन मुझे अपने घर अपनी एक सुरक्षित निधि दिखलाने ले गए। उन्होंने मुझे एक ऊँचे आसन पर बैठाया। एक बड़ा चन्दन का बक्सा निकाला। उसमें

एक छोटा बक्सा रखा था, उसे निकाला। उसे खोला। उसमें रेशम में लिपटी कोई वस्तु रखी थी। उसे खोला। मैंने आश्चर्य से देखा कि यह मेरी लिखी उपनिषद् थी। वे कहने लगे कि वे इसका रोज़ पाठ करते हैं जिससे उन्हें आत्मिक शान्ति मिलती है। मुझे यह नहीं पता था कि इस ग्रन्थ का इतना महत्त्व है। मुझे यह सोचकर दुःख होता है कि सनातनी जिस ग्रन्थ का इतना आदर करता है, हमारे आर्यसमाजी वैदिक-वैदिक चिल्लाते-भर हैं, क्रियात्मक रूप में उनमें उससे सौवाँ गुण भी नहीं। जब मेरी पत्नी का देहान्त हो गया तब मुझे देहरादून छोड़कर अपने पुत्र के पास आकर रहना पड़ा। मेरे सब ग्रन्थ तो देहरादून थे। वे साहित्य सदन द्वारा बिकते थे। अब जब मैंने देहरादून छोड़ ही दिया तो उन ग्रन्थों का मोह भी जाता रहा। बहुत-से ग्रन्थ तो साहित्य सदन को दे दिये, किन्तु उपनिषद् तथा वैदिक संस्कृति के मूल-तत्त्व सार्वदेशिक सभा की लागत-मूल्य पर देने का प्रस्ताव रखा। सभा में कहा गया कि बिकते नहीं होंगे इसलिए दे रहे हैं। फिर भी सभा ने सिर्फ़ एक ग्रन्थ लागत-मूल्य पर लिया जिसका नाम "वैदिक संस्कृति के मूल-तत्त्व" था। उसकी ३-४ सौ प्रतियाँ थीं। व्यय ६ रुपया था, परन्तु लागत-मूल्य शायद २ रुपया माना गया। दूसरा ग्रन्थ उपनिषद् था, उसे लेने से सभा ने इन्कार कर दिया। वह ग्रन्थ मैंने आर्य प्रादेशिक सभा को लागत-मूल्य पर दे दिया। उस समय सभा के प्रधान श्री दत्ता थे। अगर सभा चाहती तो अपने स्कूलों को छपे हुए दामों में बेच देती, परन्तु सभा ने न जाने क्या किया, दो महीने बाद उनके पुस्तक-विभाग में जाकर मैंने देखा कि पुस्तकें वैसे ही पड़ी थीं। मैंने दत्ता साहब को लिखकर उनका दिया हुआ दाम वापस कर दिया और पुस्तकें उठवा लीं। सार्वदेशिक सभा को जो पुस्तक दी थी वह समाप्तप्राय थी, इसलिए मैंने अजमेर-शताब्दी पर आग्रह किया कि इस पुस्तक का नवीन संस्करण प्रकाशित किया जाये या यह पुस्तक मुझे वापस कर दी जाये ताकि इस अवसर पर इसे प्रकाशित किया जा सके। आर्य सिद्धान्तों की यह सर्वोत्तम पुस्तक थी। सार्वदेशिक सभा के पास असीम सम्पदा है, परन्तु उन्होंने इस पुस्तक को प्रकाशित करने के स्थान में मुझे लिखा कि पुस्तक तो समाप्तप्राय है, परन्तु आप ही इसे प्रकाशित कर लें। मैंने इस अवसर पर इस पुस्तक को प्रकाशित कर दिया।

दुःख इस बात का है कि हम बार-बार शिकायत करते हैं कि हमारे साहित्य का प्रकाशन नहीं हो रहा। मुझे ऐसा लगता है कि हमारी सभाओं के संचालकों को पता ही नहीं कि साहित्य किसे कहते हैं, न उन्हें यह ज्ञान है कि प्रकाशित ग्रन्थों में कौन-से ग्रन्थ उत्कृष्ट कोटि के हैं। सभाओं के संचालक जो छोटे-मोटे ट्रैक्ट लिख देते हैं, अपने नाम की धूम मचाने के लिए अपने पत्रों में उन्हीं की चर्चा करते रहते हैं। उन्हें आर्यसमाज के साहित्य का प्रचार नहीं करना, अपना प्रचार करना है, अपनी फोटो छपवानी है, तभी वे सभाओं को पंजे में पकड़े रखना चाहते

हैं; जहाँ कोई समाज तक आ पहुँचा, किसी संस्था पर कब्ज़ा हो गया, वहाँ प्राणपन से उसका पीछा नहीं छोड़ते।

अपनी दो पुस्तकों की दुर्गति की कहानी मैं ऊपर लिख आया हूँ, अब उसी पुस्तक के प्रकाशन में मुझे किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, वह भी लिख दूँ। मैं समझता हूँ कि मेरा ग्रन्थ—"वैदिक संस्कृति के मूल-तत्त्व" एक अत्यन्त उच्च कोटि का ग्रन्थ है। मैंने इसे तब लिखा था जब पं० ठाकुरदत्त अमृतधारा ने किसी उच्च-कोटि के ग्रन्थ पर ५०० रुपया पारितोषिक देने की घोषणा की थी। बहुत सूझ-बूझ और युक्तिपूर्वक लिखा गया ग्रन्थ था। मुझे स्वामी सत्यानन्द जी महाराज से यह भी ज्ञात हुआ था कि उस ग्रन्थ को वैदिक संस्कृति का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ माना गया था। परन्तु मैंने देखा कि ठाकुरदत्त जी ५०० रुपया देने में मीन-मेख निकाल रहे थे। सबसे पहले तो उन्होंने यह आपत्ति की कि आप ट्रस्ट के सदस्य हैं इसलिए आपको यह पारितोषिक नहीं मिल सकता। मैंने ट्रस्ट से इस्तीफ़ा दे दिया क्योंकि मैंने तो ट्रस्ट का सदस्य होने की प्रार्थना की नहीं थी। जो-कुछ हो, पारितोषिक नहीं दिया गया, परन्तु डॉ० जयचन्द होम्योपैथ के हाथ वह किताब लगी। डॉ० जयचन्द और पं० ठाकुरदत्त के भाई, दोनों ने मिलकर उस पुस्तक को एक-साथ पढ़ा और डॉ० जयचन्द ने मुझे सन्देश भेजा कि यदि यह पुस्तक पहले कभी उनके हाथ आ जाती तो उनके जीवन की दिशा ही बदल जाती। इस पुस्तक के विषय में इतनी उच्च-भावना सुनकर मेरे हृदय में विचार उत्पन्न हुआ कि इसे अंग्रेज़ी में कर दिया जाये। इस पुस्तक का अनुवाद तो नहीं, परन्तु इसके विषय को आधार बनाकर मैंने एक पुस्तक तैयार की जिसका नाम रखा—Heritage of Vedic Culture। पुस्तक लिखी गई, टाइप हो गई, परन्तु छपे कैसे? अपने में छपवाने की हिम्मत नहीं थी, परिश्रम बेकार हुआ जाता था। यह १९६८ की बात है। मैं चाहता था कि यूरोप में किसी अच्छे प्रकाशक को दी जाय। मेरे एक मित्र यूरोप जा रहे थे, उन्हें मैन्यूस्क्रिप्ट दिया, परन्तु वे उसे वैसा ही वापस ले आये। मैंने पूछताछ की तो पता चला कि बम्बई में मनकतला एक अच्छे प्रकाशक हैं। बम्बई गया, उनसे मिला, एग्रीमेंट हो गया, परन्तु कहने लगे कि छपने में पाँच वर्ष लगेंगे क्योंकि उनके पास अनेक पुस्तकें हाथ में हैं। मैंने एग्रीमेंट तो कर लिया, परन्तु सन्तोष न हुआ क्योंकि पाँच वर्ष का समय बहुत अधिक होता है। मैं मैन्युस्क्रिप्ट तथा एग्रीमेंट लिये फ़ोर्ट एरिया में से गुज़र रहा था कि एक बड़ा-सा बोर्ड देखा—तारापुरवाला एण्ड सन, पब्लिशर्स। मैं दुकान में घुस गया और जो मालिक थे उनसे मिला। मेरा मैन्युस्क्रिप्ट देखकर वे प्रभावित हुए, परन्तु कहने लगे कि कल हम अपना प्रतिनिधि आपके घर भेजेंगे, वह इत्मीनान से देखेगा और आपसे बात करेगा। मैं अपना खार का पता देकर चला आया। अगले दिन तारापुर का प्रतिनिधि आया, मैन्युस्क्रिप्ट देखा और कहने लगा

कि हम छाप देंगे। मैंने पूछा कितने समय में? उसने कहा छः महीने में। मैंने ग्रन्थ का प्रकाशन तत्काल उन्हें दे दिया।

यह ग्रन्थ प्रधान आर्यसमाज की विचारधारा पर लिखा गया है। जो लोग सिर्फ़ अंग्रेज़ी जानते हैं उन्हें आर्यसामाजिक विचारों से परिचित कराने के लिए इससे अच्छा कोई ग्रन्थ नहीं। तारापुर ने २२०० प्रतियाँ छापी थीं जिन्हें वह बेच चुका है। मेरे सामने प्रश्न सदा यह रहता है कि आर्यसमाज आर्य-साहित्य की कमी की सदा शिकायत करता है, परन्तु जो साहित्य मौजूद है उसका लाभ उठाने का प्रयत्न क्यों नहीं करता?

अब सुनिये चौथी पुस्तक की कहानी। मैंने एक पुस्तक लिखी—वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार। जैसे अन्य पुस्तकों के विषय में लिखा, वैसे इसके विषय में भी प्रकाशन की समस्या थी। यह कोई उपन्यास, कहानी या नाटक तो था नहीं, अत्यन्त गूढ़ दार्शनिक ग्रन्थ था। मुझे मालूम हुआ था कि हिन्दी डायरेक्टोरेट कुछ उत्कृष्ट पुस्तकों की पाँच-छः सौ प्रतियाँ खरीद लेता है जिससे प्रकाशक को राहत मिलती है। मैंने हिन्दी डायरेक्टर को मिलने के लिए लिखा—डा० हरवंशलाल शर्मा जी थे उस समय—वे शायद मुझे जानते थे। उन्होंने लिखा आप मत आइये, हम ही अपना प्रतिनिधि आपके पास भेजेंगे। दो-चार दिन बाद उनके प्रतिनिधि श्री अवस्थी मुझे मिले। ग्रन्थ तो पसन्द आया, परन्तु कहने लगे कि परिभाषाएँ आपको हमारी देनी होंगी। मैंने ग्रन्थ का पुनर्निर्माण किया और अपनी परिभाषाओं के स्थान में उनकी परिभाषाएँ डाल दीं। अब एक प्रकाशक ढूंढना था। उन्होंने गोविन्दराम हासानन्द को इसके लिए तैयार किया, यह इत्मीनान दिलाया कि पाँच-छः सौ पुस्तकें तो हिन्दी डायरेक्टोरेट खरीद लेगा इसलिए कोई खतरा नहीं है। कई मित्रों से भी सिफारिश कराई और अन्त में वह पुस्तक छप गई।

मैं ये सब बातें इसलिये लिख रहा हूँ ताकि पाठकों को पता चले कि लेखक को क्या-क्या परेशानियाँ होती हैं। **"वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार"** के विषय में मेरे पाठकों को यह सुनकर प्रसन्नता होगी कि जिस ग्रन्थ के प्रकाशन में मुझे इतनी अड़चनों का सामना करना पड़ा, उसपर भारतीय भवन ने १०,००० (दस हज़ार) रु० का राजा जी अवार्ड दिया, उत्तर प्रदेश सरकार ने २५०० का, गंगाप्रसाद उपाध्याय पुरस्कार-समिति ने १२०० का, हज़ारीमल डालमिया पुरस्कार-समिति ने १२०० का पुरस्कार दिया।

इस अरसे में मैंने अन्य भी अनेक ग्रन्थ वैदिक दृष्टिकोण से लिखे जिनमें **"उपनिषद्-प्रकाश"**, **"संस्कार-चन्द्रिका"**, **"गीता का धारावाही भाष्य"** मुख्य हैं। इस बीच मैंने एक और पुस्तक लिखी जिसका नाम है: **वैदिक संस्कृति का सन्देश**। यह पुस्तक भी गोविन्दराम हासानन्द ने प्रकाशित की।

मेरे जीवन में एक समय ऐसा भी आ गया जब मैं सर्वथा निस्सहाय हो गया। मेरी सारी पूंजी लखनऊ की एक कम्पनी में जमा थी, वह फ़ेल हो गई। उस समय मैं राज्य-सभा का सदस्य था। वाई. वी. चह्वाण गृह-मंत्री थे। उन्हें शिकायत की। कम्पनी के सब कागज़ात सरकार उठा ले गई, व किसी के पल्ले कुछ न पड़ा। ऐसी विकट स्थिति के समय राज्य-सभा के तत्कालीन मेरे सहपाठी सदस्य श्री रामकुमार भुवालका तथा उनके पुत्र श्री अभिमन्यु भुवालका ने मेरी सहायता की, और इनके अतिरिक्त श्री लक्ष्मीनिवास बिड़ला, श्री बी० पी० खेतान, रायबहादुर चौधरी प्रतापसिंह, यशराज पटेल, आदि के सहयोग से मैं उठ खड़ा हुआ और अपने ग्रन्थों को जनता के सम्मुख प्रस्तुत कर सका।

इस अन्तराल में मैंने जो साहित्यिक कार्य किया उसका केन्द्र सरकार ने, प्रान्तीय सदस्यों ने तथा भिन्न-भिन्न संस्थाओं ने आदर किया और भिन्न-भिन्न समारोह करके मुझे सम्मानित किया। मैंने जो-कुछ साहित्यिक कार्य किया उसके कारण मेरा जो सम्मान हुआ उसका संक्षिप्त ब्यौरा नीचे दे रहा हूँ।

मुझे यह कहते हुए हर्ष होता है कि जहाँ अन्य प्रकाशकों के साथ मुझे रॉयल्टी के लिए लिखा-पढ़ी करनी पड़ी वहाँ श्री विजयकुमार जो गोविन्दराम हासानन्द के मालिक हैं उन्होंने इस मामले में कभी मुझे कष्ट नहीं दिया और स्वयं रॉयल्टी लाकर देते रहे। ऐसे पुस्तक-प्रकाशकों की सराहना करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

२१. राज्य सरकारों तथा केन्द्र द्वारा सम्मान

(क) **पंजाब सरकार द्वारा**—पंजाब सरकार का लैंग्वेज डिपार्टमेंट उन पंजाबी लेखकों का सम्मान करता है जो पंजाबी होते हुए हिन्दी की सेवा में मूर्धन्य माने जाते हैं या जिन्होंने हिन्दी की विशेष सेवा की होती है। मैं क्योंकि जन्म से पंजाबी हूँ इसलिए प्रतापसिंह कैरों के मुख्यमन्त्रित्व-काल में मेरी साहित्य-सेवा को ध्यान में रखकर ३ मार्च १९८२ को चंडीगढ़ में एक दरबार किया जिसमें कैबिनेट के सब सदस्य उपस्थित थे। इसमें मुख्यमंत्री ने मेरी हिन्दी सेवाओं की प्रशंसा करते हुए एक थाल में मुझे १२०० रुपये और एक दोशाला भेंट किया।

(ख) **उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा**—उत्तरप्रदेश सरकार ने १९७७ में लखनऊ में आयोजन कर तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री मोरारजी भाई को बुला कर जिन साहित्यकारों का अभिनन्दन किया उसमें प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार को दिल्ली से आमन्त्रित कर २५०० रुपये की भेंट देकर उनका स्वागत किया गया।

(ग) **राष्ट्रपति द्वारा सम्मान**—१९६४ में राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन ने तथा

प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने राज्य-सभा के लिए मनोनीत किया। जिस व्यक्ति को राज्य-सभा के लिए मनोनीत किया जाता है वह उसका राष्ट्रपति द्वारा सम्मान समझा जाता है।

(घ) केन्द्रीय सरकार द्वारा—१५ अगस्त १६८१ को राष्ट्रपति-भवन की एक विज्ञप्ति द्वारा यह सूचित किया गया कि प्रोफेसर सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार को भारत के प्रमुख संस्कृत-विद्वान् के तौर पर राष्ट्र द्वारा घोषित किया जाता है और इस विद्वत्ता की स्वीकृति में उन्हें आजीवन प्रतिवर्ष पाँच हज़ार रुपया दिये जाने की घोषणा की।

२२. भिन्न-भिन्न संस्थाओं द्वारा सम्मान

(क) नैरोबी के आर्य महासम्मेलन के अध्यक्ष—"सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के अन्तर्गत पूर्वी अफ्रीका में केनिया प्रदेश स्थित नैरोबी आर्यसमाज के विशेष आमंन्त्रण पर १० सितम्बर से २४ सितम्बर १९७८ तक उसकी हीरक जयन्ती समारोह के साथ अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन का आयोजन किया गया जिसके अध्यक्ष-पद के लिए प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री तथा महान् दार्शनिक श्री पं० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार (भूतपूर्व) उपकुलपति गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय तथा राज्य-सभा (पार्लियामेंट) को सदस्य चुना गया।" (सार्वदेशिक पत्र, २२ जुलाई, १९७८)।

(ख) लोक-सेवक मंडल (Servants of People's Society) द्वारा अभिनन्दन—5 मार्च, १९७९ को मेरा ८२वाँ जन्म-दिन था। उस दिन लाजपत-भवन में लोक-सेवक-मंडल द्वारा मेरी साहित्यिक सेवाओं के उपलक्ष्य में अभिनन्दन किया गया और मुझे "वेद-मनीषी" की उपाधि से अलंकृत किया गया। इस समारोह में करनालवाले चौधरी प्रतापसिंह जी के अलावा चौधरी देसराज, श्री गुरुचरणदास, श्री मनोहर विद्यालंकार, पण्डित आत्मानन्द विद्यालंकार, श्री परम वेदालंकार, श्री विद्यासागर आदि उपस्थित थे। सारी उपस्थिति १०० से ऊपर थी। ऋचा, श्रुति, तथा विभु भी इस समारोह में उपस्थित थे और मेरे गले में पड़ी मालाओं को देखकर बड़े प्रसन्न हो रहे थे।

(ग) गुरुकुल विश्वविद्यालय का विज़िटर—१३ जुलाई १९८० को गुरुकुल-काँगड़ी में शिक्षा-सभा की मीटिंग हुई जिसमें सभा ने मुझे ३ साल के लिए गुरुकुल विश्वविद्यालय का सर्व-सम्मति से विज़िटर चुना गया। विज़िटर का पद ऑनरेरी होता है, परन्तु विश्वविद्यालय का वह सर्वोपरि अधिकारी भी होता है। उसका काम विश्वविद्यालय के वाइस-चान्सलर को नियुक्त करना तथा विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में आयी किसी भी शिकायत की

जाँच करना या करवाना है। तीन साल बीत जाने के वाद फिर दोबारा मुझे विश्वविद्यालय का अगले तीन साल के लिए विज़िटर नियुक्त किया गया। यह एक सम्मानास्पद पद है और इस पद पर सुप्रीम या हाईकोर्ट के जज आदि की स्थिति के व्यक्ति को ही नियुक्त किया जाता है। १३ जुलाई १९८३ के वाद मुझे दोबारा १३ जुलाई १९८६ तक के लिए गुरुकुल-विश्वविद्यालय का विज़िटर नियुक्त किया गया।

(घ) **कॉन्स्टीट्यूशन क्लब में अभिनन्दन**—१.५.८२ को कॉन्स्टीट्यूशन क्लब में गोविन्दराम हासानन्द प्रकाशकों की तरफ़ से मेरा अभिनन्दन हुआ जिसमें श्री वेदभूषण ने मेरे उपनिषदों के प्राप्त ज्ञान का परिचय कराया। इस अवसर पर बाहर के व्यक्तियों के अलावा अजय, शीला, नीरू, विजय, उषा आदि भी उपस्थित थे। दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन के महामंत्री श्री गोपालप्रसाद व्यास द्वारा श्री पुरुषोत्तमदास टंडन व्याख्यानमाला के अन्तर्गत यह सम्मान किया गया।

(ङ) **हालैंड में अभिनन्दन**—हालैंड-निवासी भारतीयों ने मुझे हालैंड निमन्त्रित किया और हालैंड की मुख्य नगरी एमस्टर्डम का दिल्ली आने-जाने का टिकट भेज दिया। मैं वम्वई होता हुआ २२-५-८२ को वहाँ पहुँचा। वहाँ जिन्होंने मुझे निमन्त्रित किया था उनका पता है: Rishi Baldew Prasad Teware, Van Mourikbroekmanster, 91 (hs), 1065 Ev-Amsterdam (Holland). तार का पता है: १६३०६६ (इससे आगे ०२० कोड लगाना पड़ता है। जब मैं वहाँ पहुँचा तो अनेक हालैंड-वासी भारतीय मालाएँ लेकर उपस्थित थे। इस सवका विवरण मैंने अपनी डायरी के पृ० १०४० में दिया है। मैं २२ मई को हालैंड पहुँचा था और १८ जुलाई १९८२ को दिल्ली लौट आया। लगभग दो महीने वहाँ रहा और वैदिक धर्म पर जगह-जगह व्याख्यान देता रहा। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि सव जगह वहाँ के वासी मेरे नाम से और मेरे साहित्य से परिचित थे और उनके घरों में मेरा उपनिषद्-भाष्य, गीता-भाष्य, संस्कार-चन्द्रिका मौजूद थी। मैं इस वीच लंडन, जर्मनी आदि को भी छू आया और लंडन-आर्य-समाज में व्याख्यान भी दिया।

(च) **लुधियाना की जनता द्वारा सम्मान**—१७ मार्च १९८५ को लुधियाना की आर्य-जनता द्वारा मेरा लुधियाना में जन्म होने के कारण सार्वजनिक अभिनन्दन किया गया जिसमें मुझे एक हज़ार रुपया तथा एक ऊनी दुशाला भेंट किया गया।

२३. मेरी दिनचर्या

जब यह पुस्तक पाठकों के हाथ में आयेगी तब मैं ८८वें वर्ष के मध्य में होऊँगा। मैंने स्वास्थ्य के सम्बन्ध में दो पुस्तकें लिखी हैं—एक है हिन्दी में जिसका नाम है : 'बुढ़ापे से जवानी की ओर', दूसरी है अंग्रेजी में जिसका नाम है : 'From Old Age to Youth through Yoga and Homoeopathic Treatment'. इन पुस्तकों में जो लिखा है वह इधर-उधर से चुनकर नहीं लिखा, अपने अनुभव के आधार पर लिखा है। अन्य जो लोग विस्तार से जानना चाहें वे इन पुस्तकों का अवलोकन करें। संक्षेप में मेरी दिनचर्या निम्न है :

शयन—मैं रात को १० बजे भोजन खाकर सो जाता हूँ।

जागरण—मैं प्रात: ४ बजे बिस्तर छोड़कर उठ जाता हूँ।

व्यायाम—मेरा व्यायाम ४ से ७ तक तीन घण्टे चलता है जिसमें आध घण्टा प्राणायाम, स्नान आदि सब शामिल है। मैं ४ से ७ (तीन घण्टे) व्यायामादि के कार्य में लगा रहता हूँ।

व्यायाम की पद्धति—मैं प्रत्येक जोड़ का सौ-सौ बार गिनकर व्यायाम करता हूँ, अर्थात् जोड़ों का आगे-पीछे हिलाना। १० अंगुलियों के १० जोड़ हैं, कलाई के २ जोड़ हैं, कन्धों के जोड़, कोहनी का जोड़, कमर का जोड़, घुटनों के जोड़, पैरों के जोड़, पैरों की अंगुलियों के जोड़, गले का जोड़। कहने का अभिप्राय यह है कि जहाँ-जहाँ भी जोड़ हैं उनको आगे-पीछे हिलाने का व्यायाम करने से उनमें जमा यूरिक ऐसिड निकल जाता है और जोड़ों के दर्द की शिकायत नहीं रहती।

जोड़ों की गति के अलावा व्यायाम का दूसरा दौर तब शुरू होता है जब मैं प्लास्टिक के ब्रश से शरीर की एक-एक मांसपेशी का घर्षण करता हूँ। इससे रुधिर का प्रवाह सारे शरीर में बहने लगता है।

इन व्यायामों के साथ मैं ५ बैठक तथा ५ दण्ड अवश्य निकालता हूँ। पेट के व्यायाम के लिए न्यौली क्रिया जो १५ वर्ष की आयु से करता चला आ रहा हूँ वह करता हूँ और १० मिनट मेरु-दण्ड को पीछे झुकाकर खड़ा रहता हूँ। इससे बुढ़ापे का कुबड़ापन नहीं आने पाता।

प्राणायाम—व्यायाम पूरा करने में मुझे दो घण्टे के लगभग लग जाते हैं। उसके बाद मैं कमरे से बाहर खुले में बैठकर प्राणायाम करता हूँ। बाहर पद्मासन में बैठकर मैं योगमुद्रा, आँखों के व्यायाम, अनहद प्राणायाम, भस्त्रा, पूरक, कुम्भक तथा रेचक प्राणायाम करता हूँ और

प्रत्येक प्राणायाम के साथ मृत्युञ्जय महामन्त्र का जाप करता जाता हूँ।

भोजन—मैं पिछले ८ साल से २५ बादाम गिनकर रात को एक कटोरी में डाल देता हूँ। प्रातः उठते ही दो गिलास पानी पी लेता हूँ और शौच से तथा व्यायाम से निवृत्त होकर इन बादामों को पत्थर की एक कुण्डी में बारीक पीसकर और एक कप पानी डालकर चम्मच से घूँट-घूँट पी लेता हूँ। इसके बाद एक गिलास दूध का आ जाता है। उसे च्यवनप्राश के साथ पी जाता हूँ। कोई फल हो तो खा लेता हूँ। दोपहर तथा शाम को हर समय मैं सिर्फ़ २ खुश्क फुलके सूखी सब्ज़ी के साथ खाता हूँ। दोनों समय कटोरी-भर दही अवश्य लेता हूँ—दोपहर भी, रात भी।

खाना खाकर अपने शयन-कक्ष में चला जाता हूँ। वहाँ एक गिलास दूध का आ जाता है। एक कटोरी में दो चम्मच ईसबगोल की भूसी और आधा चम्मच त्रिफला डालकर उसके साथ सारा दूध पी जाता हूँ, इससे रात को पेशाब के लिए उठना नहीं पड़ता और सवेरे एक-दो गिलास पानी लेने से पेट साफ हो जाता है।

संक्षेप में यह है मेरी दिनचर्या जिसमें ४ से ७ के तीन घण्टे व्यायाम में चले जाते हैं। दो-ढाई घण्टे खाने-पीने में चले जाते हैं, बाकी समय समाचार-पत्र पढ़ने तथा पुस्तक या लेख आदि के लेखन में चले जाते हैं। सायंकाल में कभी-कभी अपने मित्रों की सुध-बुध लेने को चला जाता हूँ और जब फ़ालतू समय होता है तब अपने पोते-पोतियों के साथ टेलीविजन भी देखता हूँ यद्यपि मैं उन्हें कहता रहता हूँ कि इससे आँखें खराब होती हैं, समय नष्ट होता है, परन्तु वे इसका उत्तर देते हैं कि यह तो जेनरेशन गैप (Generation gap) है, और यह सुनकर मैं चुप्पी साध लेता हूँ और टेलीविजन देखने में उनके साथ हो लेता हूँ।

□

गुरुकुल के प्रबन्ध में उथल-पुथल

(मेरा गुरुकुल में विजिटर नियुक्त होना)

१९६६ में मेरा मुख्याधिष्ठाता एवं कुलपति के तौर पर सेवा-काल जब समाप्त होने जा रहा था, तब मैंने तीन मास पूर्व सभा को लिख दिया था—अब किसी अन्य व्यक्ति को चुनने का प्रबन्ध करें। उस समय गुरुकुल के विजिटर श्री मंगलदेव जी शास्त्री थे और सभा का सब प्रबन्ध प्रायः हरियाणावासी व्यक्तियों के हाथ में था। उनकी प्रेरणा से श्री मंगलदेव शास्त्री ने श्री महेन्द्रप्रताप शास्त्री को कुलपति नियुक्त किया। सभा-प्रधान ने मुझे लिखा कि आप श्री महेन्द्रप्रताप जी शास्त्री को चार्ज देने हेतु गुरुकुल पधारें। नियत समय पर मैं जब गुरुकुल पहुँचा तो पं० धर्मपाल जी विद्यालंकार सहायक मुख्याधिष्ठाता से मुझे ज्ञात हुआ कि विजिटर महोदय का तार आया है कि चार्ज न दिया जाये। मैं तो चार्ज देने के लिए ही आया था किन्तु इस तार का ज्ञान होने पर मैं दुविधा में पड़ गया। इस समय सभा-प्रधान श्री रामसिंह जी तथा सभा-मन्त्री श्री जगदेवसिंह जी सिद्धान्ती श्री महेन्द्रप्रताप सिंह जी को लेकर चार्ज दिलाने हेतु गुरुकुल आये हुए थे और उन्हें उक्त तार का ज्ञान भी हो चुका था। प्रातःकाल श्री जगदेव जी सिद्धान्ती मुझसे मिलने आये और कहने लगे कि सभा-प्रधान जी आपसे मिलना चाहते हैं। मैंने कहा कि मैं स्वयं उनसे मिल लूँगा, उनके आने की आवश्यकता नहीं है। मैं जब उनसे मिलने गया तो उन्होंने कहा कि हम आपका विदाई-समारोह करना चाहते हैं, इसके लिए कोई समय निश्चित किया जाये। इसपर मैंने उत्तर दिया कि मेरी जानकारी में श्री मंगलदेव जी शास्त्री का तार आ गया है कि फिलहाल चार्ज देना रोक दिया जाये। इस हालत में चार्ज देने का कोई अर्थ नहीं रहता। इस विलक्षण स्थिति को देखकर मैं गुरुकुल से वापिस चला गया और श्री रामसिंह जी तथा श्री जगदेव जी सिद्धान्ती ने श्री महेन्द्रप्रताप जी शास्त्री को कुलपति का चार्ज अपने-आप दे दिया। इधर श्री मंगलदेव शास्त्री बनारस से पधारे और उन्होंने डॉ० सत्यकेतु जी को कुलपति के लिए नामांकित कर दिया। इस स्थिति में सभा में द्वन्द्व-युद्ध होने लगा क्योंकि दोनों पक्षों ने अपने-अपने कुलपति श्री महेन्द्रप्रताप शास्त्री तथा डॉ० सत्यकेतु जी विद्यालंकार नियुक्त कर दिये थे। दो कुलपति हो जाने के कारण सरकार ने विश्वविद्यालय की ग्राण्ट बन्द कर दी। अन्ततोगत्वा

राज्य-शिक्षा-मन्त्री प्रो० शेरसिंह जी के बीच में पड़ने से दोनों कुलपतियों ने त्याग-पत्र दे दिया और तब से गुरुकुल में कुलपति के पद के लिए छीन-झपटी शुरू हो गयी।

इस छीना-झपटी के बाद श्री प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति को विज़िटर द्वारा नियमित तौर पर गुरुकुल का कुलपति बनाया गया। श्री प्रियव्रत जी मार्च ६७ से जुलाई ७१ तक कुलपति रहे। इनका काल समाप्त होने पर श्री रघुवीरसिंह शास्त्री को, जो संसद्-सदस्य का चुनाव हार गये थे, दिनांक ४ जुलाई सन् १९७१ को कुलपति नियुक्त किया गया। चूँकि कुलपति का चुनाव अधिकतर आर्यसमाज की प्रतिनिधि सभाओं के पारस्परिक सम्बन्ध पर आश्रित रहता है, इसलिये इस समय इस काल में प्रतिनिधि सभा के चुनाव में जब स्वामी रामेश्वरानन्द हार गये और श्री वीरेन्द्र जी आदि के सहयोग से स्वामी इन्द्रवेश चुनाव जीत गये तब स्वामी इन्द्रवेश जी सभा-प्रधान होने के नाते कुलाधिपति बन गये। इस काल में श्री मंगलदेव जी शास्त्री की जगह श्री दुःखनराम जी विज़िटर नियुक्त हुए। डॉ० दुःखनराम जी ने, विज़िटर की हैसियत से पं० सत्यकेतु जी को गुरुकुल का कुलपति नियुक्त कर दिया और उन्होंने ३ जुलाई सन् ७४ को कार्य-भार सम्हाल लिया। इस समय गुरुकुल में अनेक विवाद उठ खड़े हुए जिसका मुख्य कारण यह था कि आयुर्वेद फ़ार्मेसी, जो गुरुकुल के आयुर्वेद कॉलेज को चलाने के लिए तथा गुरुकुल की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए चलाई गयी थी, उससे गुरुकुल को धन मिलना बन्द हो गया। इस स्थिति में धनाभाव के कारण गुरुकुल में अनेक समस्यायें उठ खड़ी हुईं। कर्मचारियों को ठीक समय पर वेतन नहीं मिलता था, भवनों की मरम्मत नहीं हो सकती थी, बिजली-पानी का संकट था, सारा परिसर छिन्न-भिन्न होता हुआ दीख रहा था। ऐसी स्थिति को देखकर श्री सत्यकेतु जी ने अपने सेवा-काल से पूर्व ही त्याग-पत्र दे दिया। तदनन्तर ८ नवम्बर १९७५ को श्री बलभद्र कुमार हूजा को सभा ने सत्यकेतु जी के स्थान पर कुलपति-पद पर नियुक्त किया। इस बीच प्रतिनिधि सभा के चुनाव का फिर समय आ गया जिसमें श्री वीरेन्द्र जी तथा स्वामी इन्द्रवेश जी में, जो पहले एक-साथ थे, मतभेद उत्पन्न हो गया जिसके कारण चुनाव में स्वामी इन्द्रवेश जी पराजित हो गये और पृथ्वीसिंह जी आज़ाद सभा-प्रधान तथा श्री वीरेन्द्र जी मन्त्री चुन लिये गये। इस द्वन्द्व-युद्ध का परिणाम यह हुआ कि स्वामी इन्द्रवेश जी ने एक अलग प्रतिनिधि सभा खड़ी कर दी जिसकी तरफ़ से डॉ० गंगाराम गर्ग को कुलपति नियुक्त किया गया। अब दूसरी बार पुनः गुरुकुल के दो कुलपति हो गये—एक कुलपति श्री आज़ाद जी के प्रधानत्व की सभा से नियुक्त और दूसरा कुलपति स्वामी इन्द्रवेश जी के प्रधानत्व की सभा द्वारा नियुक्त। श्री बलभद्र कुमार हूजा श्री आज़ाद द्वारा तथा डॉ० गंगाराम गर्ग श्री इन्द्रवेश द्वारा नियुक्त होकर कुलपति बना दिये गये।

इस अवैधानिक परिस्थिति को देखकर विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग ने श्री बलभद्र कुमार हूजा के पक्ष में अपना निर्णय लेते हुए, जो पहले से कुलपति चले आ रहे थे, कुलपति स्वीकार करते हुए श्री गंगाराम के कुलपतित्व को अस्वीकार कर दिया। अन्त में आज़ाद जी की संरक्षता में चल रही सभा के प्रभुत्व को मान्यता प्राप्त हुई जिसके अनन्तर विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग ने विश्वविद्यालय को ग्राण्ट देना प्रारम्भ कर दिया। इन विवादों में पड़ जाने के कारण गुरुकुल को आयुर्वेद कालेज सें हाथ धोना पड़ा। क्योंकि फ़ार्मेसी से आयुर्वेद कॉलेज को सहायता मिलना बन्द हो गयी थी, इसलिये यह कॉलेज उत्तर प्रदेश सरकार ने अपने हाथों में ले लिया और अब उसपर गुरुकुल का कोई स्वत्व नहीं रहा। श्री बलभद्र कुमार हूजा कुछ दिन ही कार्य कर पाये थे कि इसी बीच स्वामी इन्द्रवेश जी ने पुनः गुरुकुल पर अगस्त ७७ में कब्ज़ा कर लिया और श्री विजयपाल सिंह वर्मा को कुलपति नियुक्त कर दिया। तदनन्तर यह सारा मामला अदालत में चलने लगा।

२ जुलाई १९८० को ज़िला-जज सहारनपुर ने सारा केस सुनकर यह निर्णय दिया कि श्री बलभद्र कुमार हूजा ही यथार्थ रूप में कुलपति हैं तथा श्री विजय-पाल सिंह वर्मा जिनको स्वामी इन्द्रवेश ने कुलपति नियुक्त किया था उन्हें अदालत ने कुलपति स्वीकार नहीं किया। इसके बाद पुनः ४ जुलाई १९८० को श्री हूजा गुरुकुल पहुँच गये और उन्होंने विधिवत् कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। १३ जुलाई ८० को सीनेट की बैठक हुई, जिसमें मुझे ३ साल के लिए विज़िटर नियुक्त किया गया क्योंकि डॉ० दुःखनराम जी का तबतक विज़िटर के रूप में कार्यकाल समाप्त हो चुका था। चूँकि श्री हूजा जी पहले ही डॉ० दुःखनराम जी द्वारा नियुक्त किये जा चुके थे, इसलिए वे यथापूर्व कुलपति का कार्य करते रहे। मैंने ३१ जुलाई १९८२ को श्री बलभद्र कुमार हूजा को तीन वर्ष के लिए कुलपति नियुक्त कर दिया। इसके अनंतर मेरा कार्यकाल समाप्त होने पर ३१ जुलाई १९८३ को सीनेट (शिष्ट-परिषद्) ने मुझे फिर तीन वर्ष के लिए विज़िटर नियुक्त किया। इस प्रकार विज़िटर के रूप में मेरा कार्य-काल ३१ जुलाई १९८६ में समाप्त होता है। मेरा सदा विचार रहा है कि हमें गुरुकुल का विकास इस प्रकार करना चाहिए जिससे बालक ७ वर्ष की आयु में प्रविष्ट होकर १४ वर्ष गुरुकुलीय जीवन का लाभ उठायें। इस विचार को क्रियान्वित करने के लिए धन की आवश्यकता थी जो फार्मेसी से ही मिल सकता था। यह गुरुकुल को भरपूर रूप में मिल नहीं रहा था। क्यों नहीं मिल रहा इसकी जाँच करने के लिए मैंने विश्वविद्यालय के विधान के अनुसार पहले श्री एच० आर० खन्ना, सुप्रीम कोर्ट के जज, श्री वेदव्यास तथा श्री नवनीतलाल जो दोनों प्रसिद्ध एडवोकेट हैं उनकी लिखित सम्मति इस विषय में प्राप्त की कि क्या मैं विज़िटर की हैसियत से गुरुकुल काँगड़ी फार्मेसी का कण्ट्रोलर

तथा आडिटर ऑफ़ इण्डिया से आडिट करा सकता हूँ या नहीं। इन सब विधि-विशेषज्ञों के लिखित उत्तर 'हाँ' में आने पर मैंने कण्ट्रोलर तथा आडिटर जनरल ऑफ़ इण्डिया से फ़ार्मेसी का आडिट करवाया जिसके परिणामस्वरूप गुरुकुल के विद्यालय-विभाग तथा कन्या गुरुकुल को नियमित तौर पर प्रतिमास आर्थिक सहायता मिलने लगी जिसकी उत्तरोत्तर वृद्धि की आशा है।

इस बीच श्री बलभद्र कुमार हूजा ने गुरुकुल की बहुत सेवा की और भिन्न-भिन्न विभाग खोलकर विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग एवं अन्य विभागों से आर्थिक सहायता प्राप्त की। मेरे सामने मुख्य प्रश्न यह था कि गुरुकुल को गुरुकुल का यथार्थ स्वरूप कैसे दिया जाये? गुरुकुल के कुछ आधारभूत सिद्धान्त हैं, उदाहरणार्थ—गुरु-शिष्य का दिन-रात का सम्बन्ध, दैनिक दिनचर्या, ब्रह्मचर्याश्रम, तपस्या का जीवन, आदि-आदि। परन्तु जिस रूप में गुरुकुल का विकास हुआ, इस समय इन सबका अभाव प्रतीत होता है। गुरुकुल के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ में मैंने विस्तार से लिखा है कि गुरुकुल का भूतकाल क्या था और भविष्य-काल क्या होना चाहिए। जो व्यक्ति कुलपति के रूप में इस सपने को पूरा कर सकेगा, वही यथार्थ में कुलपति बनने के योग्य कहा जा सकेगा।

□□

डॉ० श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार क
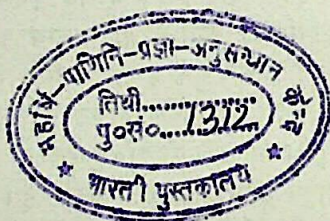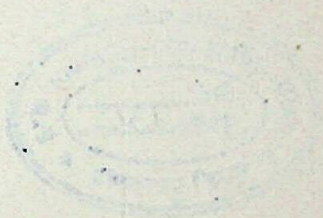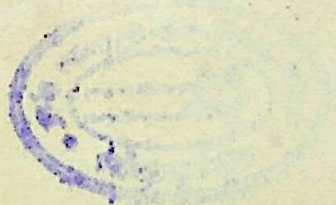
डॉ० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार का जन्म ५ मार्च १८ सबद्दी ग्राम में हुआ। आप १९१९ में गुरुकुल कांगड़ी के

कोल्हापुर, बंगलोर, मैसूर, मद्रास में चार वर्ष तक समाजसेवा का कार्य करते रहे। १९२३ में आप 'दयानन्द-सेवा-सदन' के आजीवन-सदस्य हो कर गुरुकुल विश्व-विद्यालय में प्रोफेसर हो गये। १५ जून १९२६ को आप का विवाह श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल एम० ए०, बी० टी० से हुआ। आप ३०-११-१९३० को सत्या-ग्रह में गिरफ्तार हुए और १९३१ को गाँधी-इरविन पैक्ट में छोड़ दिये गये। डॉ० सत्यव्रत जी अपनी सेवा के दौरान मई १९३५ में गुरुकुल विश्वविद्यालय के उप-कुलपति नियुक्त हुए। १५ नवम्बर १९४१ को सेवा-काल समाप्त करके वे बम्बई में समाज-सेवा-कार्य में व्यस्त हो गये। २ जुलाई १९४५ को आपकी पत्नी कन्या गुरुकुल देहरादून की आचार्या पद पर नियुक्त हुई। डॉ० सत्यव्रत जी ने इस बीच 'समाजशास्त्र', 'मानवशास्त्र', 'वैदिक-संस्कृति' तथा 'शिक्षा' आदि पर बीसियों ग्रन्थ लिखे जो विश्वविद्यालयों में पढ़ाये जाने लगे। आप के एकादशोपनिषद्-भाष्य' की भूमिका राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन ने तथा आपके 'गीता-भाष्य' की भूमिका प्रधान मंत्री श्री लाल बहादुर शास्त्री ने लिखी। आप के होम्योपैथी के ग्रन्थों को सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ घोषित कर उन पर पारितोषिक दिया गया। इन ग्रन्थों का विमोचन राष्ट्रपति वी० वी० गिरि ने किया। ३ जनवरी १९६० को आप को 'समाजशास्त्र के मूल-तत्व' पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक देकर सम्मानित किया गया। ४ जून १९६० को आप दोबारा छः साल तक गुरुकुल विश्वविद्यालय के उप-कुलपति नियुक्त हुए। ३ मार्च १९६२ को पंजाब सरकार ने आपके साहित्यिक-कार्य के सम्मान में चंडीगढ़ में एक दरबार आयोजित करके १२०० रु० की थैली तथा एक दोशाला भेंट किया। १९६४ में राष्ट्रपति राधाकृष्णन ने आप को राज्य-सभा का सदस्य मनोनीत किया। १९७७ में आपके ग्रन्थ 'वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार' पर गंगाप्रसाद उपाध्याय ट्रस्ट द्वारा १२०० रु० तथा उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा इसी ग्रन्थ पर २५०० रु० का पुरस्कार दिया गया तथा १९८२ में भारतीय विद्याभवन ने दस हजार रु० का राजगोपालाचार्य पुरस्कार दिया। सोलह संस्कारों पर आप का 'संस्कार-चन्द्रिका' एक अनुपम ग्रन्थ है। २९ मार्च १९७९ को दिल्ली प्रशासन की तरफ से आप का साहित्य-कला-परिषद् द्वारा २१०० रु० भेंट कर वेद-मनीषी तथा वैदिक-संस्कृति के प्रकांड पंडित के तौर पर सम्मान किया गया। आप ने होम्योपैथी पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं जिन में से 'होम्योपैथिक औषधियों का सजीव-चित्रण', 'रोग तथा उनकी होम्योपैथिक चिकित्सा', 'बुढ़ापे से जवानी की ओर' तथा 'होम्योपैथी के मूल-सिद्धान्त' प्रसिद्ध हैं। आपके अंग्रेजी में लिखे ग्रन्थ 'Heritage of Vedic Culture तथा 'Expositon of Vedic Thought' का विदेशों में बहुत मान है।